श्री रत्न जैन पुस्तकालय का बीसवां रत्न

आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषि अमृत-महोत्सव के उपलक्ष्य मे प्रकाशित

सप्रेरक

श्री रतनमुनि श्री कुन्दनऋषि

प्राप्तिस्थान—

श्री रत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी, अहमदनगर (महाराष्ट्र)



प्रथमवार

वि० स० २०३० चैत्र
ई० स० १९७४, मार्च

मुद्रणव्यवस्था

[illegible]) [illegible]त्यमगम,

प्रकाशकीय

अतीव हर्ष का विषय है कि हमारे श्रमण सघ के परम श्रद्धेय पूज्यपाद आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि जी म० सा० के प्रवचनो के सग्रह हम श्रद्धालु पाठको के लिये प्रकाशित कर रहे हैं। 'आनन्द-प्रवचन' के रूप मे प्रवचन माला का यह चतुर्थ पुष्प जनता के समक्ष आ रहा है।

आध्यात्म प्रेमी पाठको की प्रेरणा से ही यह प्रकाशन प्रारम्भ किया गया था और उनकी बढती हुई मांग के कारण ही यह जारी है।

पूर्व प्रकाशित प्रवचन सग्रहो को जिज्ञासु एव धर्मप्रिय वधुओ ने बहुत पसद किया है, अत इस माला के प्रकाशन मे हमारी रुचि एव उत्साह मे अभिवृद्धि हो रही है। आप को भी यह जान कर हर्ष होगा कि 'आनन्द प्रवचन' का अगला पाँचवा भाग भी सम्पादित हो रहा है और वह शीघ्र ही आपको उपलब्ध हो सकेगा।

इसका सम्पादन सुश्री कमला जैन 'जीजी' एम० ए० कर रही हैं। यह सपादन अत्यन्त सफल एव सराहनीय सिद्ध हुआ है।

आप जैन समाज के भूषण एव गणमान्य विद्वान प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल की सुपुत्री है। भारिल्ल सा० ने अपने जीवन मे समाज की जो अथक सेवा की है वह चिरस्मरणीय है और अब अपनी पुत्री श्री कमला बहन को भी इस सेवा के लिये प्रेरित किया है इसके लिये हम अत्यन्त आभारी हैं।

साथ ही हम श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराणा के भी आभारी है जिन्होंने आनन्द प्रवचन के सभी भागो का मुद्रण अपने हाथ मे लेकर पुस्तको को अत्यन्त सुन्दर रूप प्रदान किया है।

आशा है प्रथम तीनो भागो के समान ही इस चतुर्थ भाग को भी पाठक पसन्द करेंगे और समुचित लाभ उठाएंगे।

—मत्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी

एक दृष्टि



भारतीय सस्कति को यदि सागोपाग शरीर कहा जा सके तो निश्चय ही उसका हृदय अध्यात्म है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि इस सस्कृति का सम्बन्ध मात्र व्यक्ति के साथ ही है। भारत की सस्कृति अपने आप मे इतनी विराट् और व्यापक है कि वह व्यक्ति और समष्टि-दोनो को साथ लेकर चलती है। आजकल की विशुद्ध समाजवादी विचारधारा की तरह वह व्यक्ति (आत्मा) की उपेक्षा नही करती और न एकान्त व्यक्तिवाद के दायरे मे सकुचित होती है। उसने व्यक्ति एव समाज के समग्र जीवन को प्रशस्त आलोक प्रदान किया है। वह वर्ग, क्षेत्र और काल की सब प्रकार की परिधियो से विमुक्त है। वह गगा का वह पावन प्रवाह है, जिसमे अनेकानेक विचारधारायें जो विभिन्न क्षेत्रो और कालो मे प्रवाहित होती है, समाहित होती रहती है और अपने सस्पर्श से उनमे भी पावनता उत्पन्न कर देती है। यही कारण है कि यह सस्कृति कभी पुरानी नही होती - नूतन ही वनी रहती है। कोई देश ऐसा नही और कोई काल भी ऐसा नही जिसके लिए भारतीय सस्कृति अनुपयुक्त सिद्ध हो सकती है। वह जीवन के शाश्वत तत्त्वो से जुडी हुई है।

भारतीय सस्कृति की यह एक असाधारण विशेषता है। इसका आशय यह नही कि उसमे कभी कोई विकार नही आता। गंगा के प्रवाह मे कूडा-कचरा भी मिलता है, गदगी भी सम्मिलित हो जाती है। फिर भी गगा की पावनता अक्षुण्ण ही रहती है। हमारी सस्कृति मे भी अनेक प्रकार के कचरे का समावेश हुआ है, गदगी भी आई है, कि न्तु वह सस्कृति का स्वरूप नही है।

इतिहास के पन्ने स्पष्ट साक्षी देते हैं कि भारतीय सस्कृति मे जब कभी विकृति आई और वह देश-काल से प्रतिकूल प्रतीत होने लगी,

तभी कोई न कोई महापुरुष आगे आया और उसने आये हुए विकारो को दूर किया और उसमे उसकी मूलप्रकृति के अनुकूल नवीन तत्त्व का समावेश कर दिया। इस प्रकार के प्रयत्नो के द्वारा वह सदैव तरोताजा रही। उसकी उपादेयता मे कभी-कमी नही आ पाई।

इस सस्कति के आद्य स्रोत आदिनाथ ऋषभदेव थे। उनका काल इतना पुराना है कि वह अक-गणना का विषय नही है। उस सुदूर अतीत काल से लेकर आज तक असख्य लोकोत्तर पुरुषपु गवो ने इस सस्कृति-धारा को आगे बढाया है, सजाया है, सवारा है। उसे युगानुकूल बनाने का सफल प्रयास किया है।

भारतीय सस्कृति मे यह जो विशेषता रही है, इसका मुख्य कारण यही है कि इसका निर्माण सन्तो के द्वारा हुआ है। सन्त पुरुष ही इसे अग्रसर करते रहे हैं, इसका नवीनीकरण करते रहे हैं। प्राचीन काल मे समाज पर सन्तो का अप्रतिहत प्रभाव रहा है और वे समाज के पथप्रदर्शक ही नही, सचालक भी रहे हैं।

पर आज का युग सर्वथा भिन्न प्रकार का है। भौतिक विज्ञान के विस्मयजनक विकास ने समग्र प्राचीन स्थापनाओ, मान्यताओ और विश्वासो को हचमचा दिया है। एक देश का दूसरे देशो के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हो गया है और इस कारण एक-दूसरे के गुणावगुण भी एक-दूसरे मे आने लगे हैं। इसके अतिरिक्त आज की विचारधारा भी अधिक तार्किक एव बौद्धिक बन गई है। इन कारणो से प्राचीन सस्कृति का टिकना अत्यन्त कठिन हो जाता है। जटिल समस्या है कि प्राचीन सस्कृति के हितावह तत्त्वो की सुरक्षा कैसे की जाय?

भारतीय सन्तजन ही पुराने युग मे यह सब करते आए हैं। आज भी यह उत्तरदायित्व उन्ही पर आ पड़ा है।

इस सबध मे सन्त-समाज की ओर से जो प्रयत्न प्रारंभ हुए है, उसके दो प्रकार दृष्टिगोचर होते है—

(१) प्राचीन कल्याणकारी सास्कृतिक तत्त्वो की सुरक्षा के लिए जनसाधारण को प्रेरणा और (२) परिवर्तित परिस्थितियो मे प्राचीनता के स्थान पर नवीन तत्त्वो की स्थापना।

इस द्विविध उपचार के बिना सस्कृति का सरक्षण सभव नही है। अतएव प्राचीनता का मोह और नूतन के प्रति नफरत, इन दोनो को

त्यागकर सस्कृति के प्राणभूत तत्त्व की रक्षा करना ही विवेक संगत होगा ।

सन्तो को इसके लिए उद्यत रहना है । अपने जीवन व्यवहार द्वारा और अपनी वाणी के प्रभाव द्वारा उन्हे संस्कृति संरक्षण का कार्य करना है । कतिपय सन्तो ने इस तथ्य को समझा है और वे यथाशक्य कर भी रहे है । आज सन्तो के जो प्रवचन होते हैं उनकी उपादेयता की यही खास कसौटी होनी चाहिए ।

श्रमणसघ के आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषिजी म० के प्रवचन कई भागो मे प्रकाशित हो चुके है । उन सबको वाचने पर यह सत्य उजागर हो जाता है कि आचार्य श्री के व्याख्यानो मे नैतिकता और धार्मिकता पर जो जीवन की प्रगति के लिए अनिवार्य है, पर्याप्त जोर दिया जाता है । इस कारण नैतिकता के घोर ह्रास के इस युग मे यह प्रवचन अतीव उपयोगी हैं ।

प्रवचन और निबन्ध की शैली मे बडा अन्तर होता है । प्रवचनो को निबन्ध शैली मे ढालकर उपस्थित करने का कठिन दायित्व उसके सम्पादक का है । आचार्यश्री के प्रवचनो की सम्पादिका मेरी पुत्री सुश्री कमला 'जीजी' एम० ए० ने अपने दायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वाह किया है । प्रवचनो के सुन्दर अन्तरग मे भाषा सौष्ठव ने प्राण पूरित कर दिए है । प्रवचन सरस, रोचक और प्रभावजनक वन गए है । आशा है पाठक इन प्रवचनो का पारायण करके अपने जीवन के परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होगे । आचार्यश्री के प्रवचन समाज को भविष्य मे भी उपलब्ध होते रहे, यह आवश्यक है ।

श्रमणी विद्यापीठ,
घाटकोपर, बम्बई–७७
१–१–७४

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

मेरा सौभाग्य है कि मुझे 'आनन्द-प्रवचन' के चारो भागो मे संकलित प्रवचनो के सम्पादन का सुअवसर मिला है और इसी वजह से मैंने आपके प्रत्येक वाक्य तथा प्रत्येक शब्द की मधुरिमा तथा महत्ता को गहराई से समझा है। मेरा मन यही कहता है कि ये प्रवचन निश्चय ही व्यक्ति की आत्मिक-उन्नति मे पूर्णतया सहायक बन सकते हैं।

अंत मे मैं 'आनन्द-प्रवचन' के पाठको के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करती हूँ, जिन्होने मेरे सम्पादन कार्य की सराहना करके मेरे उत्साह को उत्तरोत्तर बढाया है। आशा है भविष्य मे भी उनसे मुझे इसी प्रकार प्रेरणा मिलती रहेगी और मैं अपने कार्य मे सफलता हासिल कर सकूँगी।

—कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

• •

प्रकाशकीय

सुज्ञ बधुओ !

असीम हर्ष की बात है कि आपके समक्ष 'आनन्द-प्रवचन' का यह चतुर्थ भाग आत्मोत्थान की विविध सामग्री लेकर प्रस्तुत हो चुका है। आशा ही नही अपितु विश्वास है कि समस्त मुमुक्षु बधु इसके द्वारा भी आत्म-चिंतन एव आत्म-साधना के मार्ग पर अपने कुछ कदम और बढाएँगे।

आप अनुभव करते ही होगे कि साहित्य के विभिन्न अगो मे प्रवचन साहित्य का भी अपना एक स्वतत्र एव विशिष्ट स्थान है। इसके द्वारा वक्ता के विचारो का एव व्यक्तित्व का पर्याप्त परिचय होता है। मानव के मस्तिष्क एव मानस मे रहनेवाली गुण-सम्पदा का वोध उसकी वाणी के द्वारा ही श्रोता को हो सकता है और इसीलिये हम 'आनन्द-प्रवचन' के रूप मे निर्झरित होती हुई आचार्य श्री जी की वाणी के द्वारा उनकी ज्ञान-गरिमा का अनुभव कर सकते है, कर रहे हैं।

आपके प्रवचन हमारे लिये जीवन-संघर्ष की घडियो मे सहायक बन सकते हैं, उलझी हुई विकट समस्याओ को सुलझा सकते हैं, कर्तव्य-पथ पर समुचित ढग से चलने की प्रेरणा दे सकते हैं तथा आत्मा को पवित्र एव निष्कलुष बनाने के लिये विविध सूत्र प्रदान कर मकते हैं। सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि ये प्रवचन हमे वह सभी कुछ दे सकते है, जिनकी सहायता से आत्मा को परमात्मा वनाया जाता है। आवश्यकता केवल इसी वात की है कि इन्हे भली-भाति समझा जाय, हृदयगम किया जाय और जीवन मे उतारा जाय।

अनुक्रमणिका

१ तीर्थंकर महावीर १
२ मोक्ष का द्वार कैसे खुलेगा ? १५
३ प्रीति की रीति ३१
४ निर्गुणी को क्या उपमा दी जाये ? ४१
५ घडी से, घडी दो घडी लाभ ले लो ! ६०
६ सच्चे सुख का रहस्य ७३
७ भव पार करानेवाला सदाचार ८८
८ इन्सान ही ईश्वर बन सकता है १०१
९ पाप-नाशक तप ११६
१० तुलसी ऊँधवर के भये ज्यो बघूर के पान १२६
११ आज-काल कि पाच दिन जगल होगा वास १३८
१२ मन के मते ना चाहिए १५२
१३ कहा निकल जाऊँ या इलाही ! १६६
१४ छ चचल वस्तुए १७७
१५ मुक्ति का द्वार—मानव जीवन १९०
१६ शास्त्र सर्वत्रग चक्षू २००
१७ उत्तम पुरुष के लक्षण ११२
१८ धर्म रूपी कल्पवृक्ष २३०
१९ विपम मार्ग मत अपनाओ ! २३८
२० आचार परमोर्धम २५१
२१ ज्ञान की पहचान २६१
२२ सर्वस्य लोचन शास्त्रम् २७०
२३ सच्चा पथ कौन सा ! २८२
२४ पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी २८९
२५ कर्म लुटेरे ! २९७
२६ शुभ फल प्रदायिनी सेवा
२७ जीवन श्रेष्ठ कैसे बने !
२८ कपायो को जीतो

भाग

आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषि अमृत महोत्सव के उपलक्ष्य मे

हमारी आगामी प्रकाशन योजना

- आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रंथ
- कविकुलभूषण श्री तिलोक ऋषि जी व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- भावनायोग : एक अनुशीलन
- आनन्द वचनामृत
- कर्मग्रन्थ (तुलनात्मक शैली मे नव संपादन)
- तीर्थंकर महावीर

है, जिन
श्यकता केवल
हृदयगम किया जाए



आनन्द प्रवचन

चतुर्थ भाग

१ तीर्थंकर महावीर

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

'तीर्थंकर' शब्द से प्रत्येक जैनधर्मावलम्बी परिचित होता है। आपने भी अनेको वार तीर्थंकर शब्द पढा होगा, सुना होगा तथा वोला होगा। वाल्यावस्था मे ही अधिकाश जैन वालक नमोकार मत्र तथा चौवीस तीर्थंकरो के नाम आदि थोडी वहुत चीजें याद कर लेते हैं। किन्तु तीर्थंकर शब्द का अर्थ क्या है, अथवा किन कारणो से तीर्थंकर शब्द का निर्माण किया गया है इस पर सभी लोग विशेष घ्यान नहीं देते। अत सर्व प्रथम हमे इस शब्द का अर्थ समझने का प्रयत्न करना है।

तीर्थंकर किसे कहा जाता है ?

तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ जो सहज ही समझ मे आता है। उसके अनुसार तीर्थ को करनेवाला यानी तीर्थ को वनाने वाला तीर्थंकर कहलाता है। पर इस अर्थ के सामने आते ही पुन प्रश्न खडा होता है कि तीर्थ किसे कहते हैं ?

तीर्थ को हम तैराने वाला या तैरा कर पार उतारने वाला कह सकते हैं। और इस ससार-सागर से आत्मा को तिरानेवाला एक मात्र धर्म ही होता है अत जैन-परिभाषा के अनुसार तीर्थ का अर्थ है 'धर्म'।

अहिंसा, सत्य एव सयम-रूप धर्म जीवात्मा को ससार-समुद्र से पार उतारता रहता है। अत धर्म को तीर्थ की सज्ञा देना पूर्णत उपयुक्त है। तीर्थंकर अपने काल मे समार-सागर से पार उतारने वाले इसी धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं। अत उन्हें तीर्थंकर कहा जाता है।

आप कहेगे कि साधु-साध्वी, श्रावक तथा श्राविका का इन चारो को ही हमारे यहां तीर्थ कहते हैं, वह क्यो ? इसलिये कि, साधु, साध्वी, श्रावक एव

श्राविका ये चारो अर्थात् यह चतुर्विध सघ धर्म को धारण करता है तथा धर्म का आचरण करता है। अत इसे भी तीथ कहा जाता है तथा इस चतुर्विध धर्म सघ की स्थापना करनेवाले महामानवो को तीर्थंकर पद से सुशोभित किया जाता है।

श्री मद्‌भागवत मे एक स्थान पर कहा गया है—

"धर्म को धारण करने वाले सत-महापुरुष ही वास्तविक तीर्थ और देवता हैं क्योकि इन सत महापुरुषो के दर्शन-मात्र से ही कल्याण हो जाता है।"

कहने का अभिप्राय यही है कि जिनके मानस मे धर्म का स्थान बन जाता है उन महामानवो को तीर्थ कहा जाता है और जिन स्थानो पर जाने से धार्मिक भावनाएँ जागृत होती है उन्हे भी तीर्थ-स्थान कहते हैं। इसीलिये गगा नदी को भी वैष्णव धर्म मे तीर्थ माना गया है—

नास्ति गगासम तीर्थं।

तो मैं यह बता रहा था कि धर्म को धारण करने वाले साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका तीर्थ कहलाते हैं और इनके चतुर्विध सघ का निर्माण करने वाले तीर्थंकर।

तीर्थंकर की विशेषताएँ

प्रश्न उठ सकता है कि धर्म का स्थान तो उपरोक्त चतुर्विध सघ मे होता है फिर तीर्थंकर मे क्या विशेषताएँ हैं जो उन्हे अधिक महत्त्वपूर्ण साबित करती हैं।

उत्तर यही है कि यो तो प्रत्येक आत्मा अपने शुद्ध रूप मे परमात्मा ही होती है। किन्तु कर्मों के आवरणो की तरतमता उनमे अन्तर उत्पन्न कर देती है। प्रत्येक आत्मा चाहे वह गरीब की हो या अमीर की कसाई की हो या योगी की, समान होती है, पर कर्मों का लेप उन्हे निकृष्ट और उत्कृट बनाता है। जिस आत्मा पर यह लेप प्रगाढ होगा वह हीन साबित होगी तथा इस ससार मे जन्म-मरण करती रहेगी। किन्तु जो आत्मा तप एव सयम के द्वारा अपने कर्मों के लेप को जितनी मात्रा मे हटाती हुई हल्की और शुद्ध होती जायेगी वह उतनी ही उत्कृष्ट होती हुई अपनी स्वाभाविक अवस्था मे अर्थात् परमात्म-दशा के निकट पहुँचती जाएगी।

आत्मा पर कर्मों का लेप क्यो होता है ?

हमारे जैन धर्म मे आत्मा को दुर्बल बनाने वाले अठारह दोष बताए गये हैं। वे हैं—मिथ्यात्व, अज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, निद्रा, शोक, अलीक, चौर्य, मत्सर, भय, हिंसा, राग, क्रीडा और हास्य। सक्षेप मे

इन्ही को हम विषय-कषाय कहते हैं। तो ये दोष जब तक आत्मा मे रहते है, वे निरन्तर आठ प्रकार के कर्मों का बधन करते रहते हैं और इनकी अधिकता के कारण आत्मा का शुद्ध स्वरूप दिखाई नही देता। यह कर्म-बधन ही आत्मा पर कर्मों का लेप भी कहा जाता है और यह इतना प्रगाढ तथा चिकना होता है कि सहज ही आत्मा से छुटाया नही जा सकता। कभी-कभी तो इसे छुटाने के लिये अनेक जन्म भी व्यतीत हो जाते हैं। क्योकि बधे हुए कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नही होता।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा भी है—

सकम्पुणा किच्चई पावकारी—
कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

पापात्मा अपने ही कर्मों से पीडित होती है, क्योकि कृत-कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नही है।

कर्म आत्मा का एक पल भी पीछा नही छोडते और किस प्रकार आत्मा के साथ लगे रहते हैं इसका वडा ही मार्मिक वर्णन महर्षि वेदव्यास ने महाभारत के शान्तिपर्व मे किया है—

सुशीघ्रमपि धावन्त विधानमनुधावति।
शेते सहशयानेन येन येन यथा कृतम्॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्त गच्छन्तमनुगच्छति।
करोति कुर्वत कर्मच्छायेवानुविधीयते॥

अर्थात् जिस मनुष्य ने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्त्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौडता है तो वह भी उतनी ही तेजी से उसके पीछे दौड जाता है। जब वह सोता है तो कर्म फल भी साथ ही सो जाता है। जब वह खडा होता है तो वह भी पास ही खडा रहता है और जब मनुष्य चलता है तो उसके पीछे-पीछे वह भी चलने लगता है। अधिक क्या कोई भी कार्य करते समय कर्म-फल उसका साथ नही छोडता। सदैव छाया की तरह पीछे लगा रहता है।

तात्पर्य कहने का यही है कि जब तक प्राणी अपने कर्मों को नष्ट नही कर लेता, तब तक वे उसका साथ नही छोडते चाहे कितने भी जन्म इस बीच मे व्यतीत हो जायँ। और ये सभी कर्म अभी-अभी बताए गये अठारह दोषो के कारण आत्मा के साथ लगते है। ज्यो-ज्यो व्यक्ति इन दोषो को आत्मा मे से कम करता है, त्यो-त्यो कर्मों का भार अथवा कर्मों का लेप भी कम होता चला जाता है। इसीलिये विभिन्न आत्माओ मे तरतमता होती है। यानी जो जीव

अपने मन पर कम सयम रख पाते है, त्याग, तपस्या अथवा व्रतादि का पालन कम कर पाते है, उनकी आत्मा पर से कर्म-भार थोडा हटता है। और जो भव्य जीव अपनी आत्मा पर पूर्ण नियन्त्रण रखते है और अहिंसा, सत्य, आदि महाव्रतो का पूरी तरह पालन करते हुए घोर तपाचरण करते हैं वे शीघ्र ही कृत-कर्मों की निर्जरा कर लेते है। तथा नवीन कर्मों को बँधने से रोक देते हैं।

आध्यात्मिक विकास के सर्वोच्च शिखर पर

जैन-धर्म मे आध्यात्मिक विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाने वाले महा-मानवो को तीर्थंकर कहा जाता है। उनमे अनेक विशेषताएँ होती हैं। वे राग-द्वेषादि समस्त विकारो तथा कषायो से रहित होते हैं। तथा सम्पूर्ण जगत को समान स्नेहमयी दृष्टि से देखते है। मनुष्य तो मनुष्य, तुच्छ वनस्पति आदि स्थावर जीवो पर भी उनका वही समत्व भाव रहता है। इसीलिये उनकी धर्म सभा मे सिंह के समान क्रूर और हरिण के समान भोले जीव भी समान भाव से उपस्थित रहते हैं। न सिंह के हृदय मे हिंसक भावना होती है और न हरिण के हृदय मे भय की भावना।

यह बात सुनकर श्रोताओ के हृदय मे कुछ अविश्वास पैदा हो सकता है। क्योकि उन्हे मृगराज और मृग का एक साथ रहना असभव प्रतीत होता होगा किन्तु इसमे तनिक भी आश्चर्य की बात नही है। आज हम देखते हैं कि भौतिक विद्या के चमत्कार भी मानव को चकित कर देते हैं और साधारण से साधारण व्यक्ति भी जो अपने आपको योगी कहते है वे मनुष्य की बुद्धि को कुशलता से हतप्रभ करने मे समर्थ बन जाते हैं।

तो फिर तीर्थंकरो की आध्यात्म शक्ति क्या नहीं कर सकती ? सम्पूर्ण दोषो एव विकारो से मुक्त हो जाने के कारण उनकी आत्मा पूर्णतया विशुद्ध हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप उनमे असख्य आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रगट हो उठती है। उनकी ज्ञान शक्ति ही अनन्त होती हैं, केवल ज्ञान और केवल दर्शन के द्वारा वे तीन लोक और तीन काल की बातें जान लेते हैं, देख लेते हैं। स्वर्ग के सर्वोच्च देव इन्द्र भी उनके समक्ष नत होते है तथा अपार श्रद्धा और भक्ति के साथ उन्हे वदन करते हैं।

ऐसे पूर्ण एव उत्कृष्ट आध्यात्म योगी तीर्थंकर के समवशरण मे क्या सिंह और मृग का एक साथ बैठना असभव बात है ? नही, यह तो एक साधारण सी बात है। जो अपनी शक्ति से इन्द्रासन को भी हिला सकते है उनके लिये क्या आश्चर्यजनक हो सकता है ? कुछ भी नही।

तीर्थंकर त्याग और वैराग्यपूर्ण साधना करते हुये अपने मन को काषायिक विकारो से मुक्त करते हैं तथा ससार की मोह-ममता का परित्याग करके कठिन आभ्यतर एव बाह्य तप करते हुए सत्य की अलौकिक ज्योति प्राप्त कर लेते हैं। दूसरे शब्दो मे केवल ज्ञान की प्राप्ति करते हैं।

तत्पश्चात् वे समार के प्राणियो को धर्मोपदेश देकर उन्हे असत्य के मार्ग से हटाकर सत्य के मार्ग पर लाते हैं और ससार मे शाति का सुखद साम्राज्य स्थापित कर अपने कर्त्तव्य का पालन करते है। वे अज्ञानी प्राणियो को सम्यक् ज्ञान का आलोक देते हैं तथा उन्हे भौतिक सुखो की वाञ्छा से हटाकर आध्यात्मिक सुखो के अभिलाषी वनाते है। इस प्रकार असख्य प्राणियो को पतन से बचाकर वे उत्थान की ओर लाते हैं। ऐसे ही तीर्थंकर भगवान महावीर थे।

प्रकृति का नियम

अव तक के सृष्टि के इतिहास को देखने पर लगता है कि जव-जव इस पृथ्वी पर होने वाला अत्याचार अपनी सीमा लाघने लगता है, अधर्म का साम्राज्य स्थापित होने पर धर्म का अस्तित्व डगमगाने लगता है तथा जनता अधर्म को ही धर्म मानकर भ्रमपूर्ण धर्म-रहित क्रियाएँ धर्म मानकर करने लगती है, तव कोई न कोई महापुरुष समाज और देश का उन्थान करने, तथा धर्म को उसके सही स्थान पर विभूपित करने के लिये अवश्य जन्म लेता है।

भगवत्गीता मे भी श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

यदा यदा ही धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मान सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूना, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे॥

अर्थात् जव-जव धर्म की हानि और अधर्म वृद्धि होती है तव-तव मैं अवतार धारण करता हूँ। साधुओ की रक्षा के लिये, पापियो के नाश के लिये और धर्म की स्थापना के लिये मैं युग-युग मे अवतार लेता हूँ।

तो भगवान महावीर के जन्म से पहले भी भारत की तत्कालीन दशा वडी दयनीय थी और भारत-भूमि किसी महापुरुष के अवतार लेने की वडी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रही थी। ठीक उसी समय मगध की राजधानी वैशाली जिसे कुण्डलपुर भी कहा जाता था, वहाँ के राजा सिद्धार्थ एव रानी त्रिशला

के यहाँ भगवान महावीर ने जन्म लिया। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का यह पावन दिवस भारत के इतिहास मे सदा-सदा के लिये अमर हो गया।

महावीर राजकुमार थे। अत बाल्यकाल से ही असीम ऐश्वर्य के बीच उनका लालन-पालन हुआ। युवावस्था आने पर अपूर्व सुन्दरी राजकन्या यशोदा से पाणिग्रहण भी हो गया। किन्तु उस सम्पूर्ण सुखमय गृहस्थ जीवन मे भी उनका मन रमा नही। उन दिनो भारत का सामाजिक एव धार्मिक पतन उन्हे अत्यन्त व्यथित किये था। जव तक वे गृहस्थ के रूप मे रहे, तव तक ही वे तपस्वियो के समान साधना मे लगे रहे पर उससे भी जव उन्हे सन्तोप न हुआ तो केवल तीस वर्प की उम्र मे ही वे मगध का विशाल साम्राज्य ठुकरा कर एक अकिंचन भिक्षु के रूप मे चल दिये।

माता, पिता, पत्नी एव अतुल वैभव का त्याग कर भगवान महावीर सीधे जन शून्य अरण्य मे पहुँचे और वारह वर्ष तक कठोर तप-साधना करते रहे। समाज से दूर रहकर कभी निर्जन वन और कभी पर्वतो की गुफाओ मे रहकर उन्होने कठिन तपश्चर्या की और अपनी आत्मा की प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्तियो को जगाया। इस बीच आपको भयकर उपसर्गों का और विपत्तियो का सामना करना पडा। किन्तु वे मेरु पर्वत के समान निष्कप और अडोल रहे।

सत्य और अहिंसामय उग्र-साधना के कारण उनके जीवन की सम्पूर्ण मलिनता मिट गई और आत्मा की पूर्ण विशुद्धता के फल-स्वरूप उसमे रही हुई अनन्त ज्ञान-ज्योति जगमगा उठी। अर्थात् उन्होने केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन प्राप्त किया तथा तीर्थकर पद के अधिकारी वने। हमारा जैन-धर्म स्पष्ट कहता है कि कोई भी व्यक्ति जन्म से ही भगवान नही होता। उसे भगवान वनने के लिये उग्र साधना के पथ पर चलना पडता है तथा सदाचरण के कठोर नियमो का पालन करते हुए सम्पूर्ण आत्मिक-विकारो का नाश करना होता है। इन कसौटियो पर भली-भाँति कसा जाकर ही वह भगवत् पद का अधिकारी वनता है। इस पद पर उसे वाह्य जगत के प्राणी प्रतिष्ठित नही करते और न ही वह मदिर, मसजिद, गिरजाघर या अन्य तीर्थ-स्थानो पर जाकर पूजा-पाठ अथवा नाना प्रकार की क्रियाओ के द्वारा ही भगवान वन सकता है। अपितु अपनी आत्मा मे स्थित होकर उसकी सुप्त आत्म-शक्तियो को जगाकर ही वह भगवान वनता है।

'योगसार' मे कहा भी है—

तित्थहि देवलि देवणवि इम सुई केवलि वुत्तु।
देहा देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिमतु॥

तीर्थ एव देवालय मे कही भगवान नही हैं, श्रुतकेवली का वचन है। इस देह रूपी देवालय मे ही भगवान हैं यह निभ्रान्त रूप से जान लेना चाहिए।

जो लोग ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं वे ईश्वर के भिन्न-भिन्न लक्षण और उसका स्वभाव भी भिन्न-भिन्न बनाते हैं। मूर्तिपूजक हिन्दू कहते हैं—ईश्वर मूर्ति पूजा से प्रसन्न होकर व्यक्ति को अपने मे मिला लेता है। मुसलमान कहते है—अल्लाह मसजिद मे पाचो वक्त नमाज पढने से खुश हो जन्नत प्रदान करता है। और ईसाई कहते है गले मे क्रॉस डाले रहकर गिरजाघर मे प्रार्थना करने से व्यक्ति का कल्याण होता है। ऐसे व्यक्ति जैन-धर्म को, सृष्टिकर्त्ता न मानने के कारण अज्ञानवश अनीश्वरवादी तथा नास्तिक भी कह देते हैं। किन्तु वे ऐसा करके भयकर भूल करते हैं।

जैन धर्म की मान्यता

जैन दर्शन के अनुसार जीव अनादि काल से है, अनादि काल से कर्म कर रहा है तथा स्वय ही अपने कर्मो का फल भोग रहा है। कर्म ही जीव को बन्धन मे डालते है और कर्म ही उसे ससार मे परिभ्रमण कराते हैं। सूत्र-कृताग मे कहा भी है—

सयमेव कडेहिगाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय।

आत्मा अपने स्वय के कर्मो से ही बधन मे पडता है। कृत-कर्मा को भोगे बिना छुटकारा नही है।

अभिप्राय यही है कि जब तक जीव अपने कृत-कर्मो के बधन मे पडा रहता है, उसे नाना योनियो मे ससार परिभ्रमण करना पडता है। किन्तु जब उसकी ज्ञान चेतना जागकर बलवती हो जाती है तो वह नवीन कर्मो के आगमन को रोक देती है और वह तपस्या आदि के द्वारा पूर्व सचित कर्मो का भी क्षय कर देता है। अर्थात् उसे निष्कर्म दशा मुक्ति प्राप्त हो जाती है। ऐसा मुक्त जीव ही ईश्वर अथवा परमात्मा कहलाता है। पर ध्यान मे रखने की बात है कि ऐसा मुक्त जीव जो परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है वह पुन ससार सम्बन्धी किसी भी झमेले मे नही पडता और न ही मोक्ष से लौटकर कभी इस ससार में अवतार ही लेता है। वह तो अनन्त काल तक अव्याबाध सुख और अप्रतिहत अनन्त ज्ञान दर्शन से सम्पन्न होकर लोक के अग्रभाग मे स्थित रहता है।

जैन धर्म ऐसे मुक्तात्मा या परमात्मा के विषय मे स्पष्ट कहता है—

"अच्छेइ जरामरणस्स वट्टमग्ग—विक्खायरए, सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का

जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयण्णे न इत्थी न पुरिसे, अन्नहा, परिण्णे सण्णे उवमा न विज्जइ, अरुवी सत्ता, अपयस्स अरूवी णत्थि। से न सद्दे, न रूवे, न रसे, न गंधे, न फासे।

—आचारांग सूत्र प्र० अ० ५ उ० ६।

अर्थात्—मुक्तात्मा जन्म मरण के मार्ग को उल्लंघन कर जाता है, मुक्ति मे रमण करता है। उसका स्वरूप प्रतिपादन करने मे समस्त शब्द हार मान जाते हैं, वहाँ तर्क का प्रवेश नही होता, बुद्धि अवगाहन नही करती, वह मुक्तात्मा प्रकाशमान है। वह न स्त्री रूप है, न पुरुपरूप है, न अन्यथा रूप है। वह समस्त पदार्थों का विशेप रूप से ज्ञाता है। उसकी कोई उपमा नही है। वह अरूपी सत्ता है। उस अनिर्वचनीय को किसी भी वचन के द्वारा नही कहा जा सकता। वह न शब्द है, न रूप है, न रस है, न गन्ध है और न स्पर्श है।

बंधुओ! प्रसंग वश मैंने अपने जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार बद्ध आत्मा तथा मुक्तात्मा के विपय मे बता दिया है। वैसे हम भगवान महावीर के विपय में बात कर रहे थे कि वे अपने सम्पूर्ण वैभव तथा परिजनो का त्याग करके भिक्षु बन गए और भिक्षु बनते ही निर्जन वन, गुफा या कन्दराओ मे जाकर घोर तपस्या करने लगे। नाना प्रकार के भयंकर संकटो की परवाह किए बिना उन्होने निरन्तर बारह वर्प तक घोर तप किया और आत्मा की अनन्त शक्तियो को जगाकर केवलज्ञान, केवलदर्शन हासिल किया।

महावीर का सर्वतोमुखी जीवन

भगवान महावीर को ज्योही कैवल्य की प्राप्ति हुई, वे अपने आपको एकान्त से हटाकर समाज मे ले आए और चारो ओर फैली हुई विपमताओ को तथा सामाजिक एवं धार्मिक भ्रान्त रूढियो को मिटाने मे कटिबद्ध होकर जुट गये।

जातिवाद के विरुद्ध

भगवान जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। वे जहाँ भी गए सर्वप्रथम यही संदेश लेकर गए कि 'मनुष्य मात्र की केवल एक ही जाति है। जाति-पांति की दृप्टि से उनमे विभाग करना सर्वथा अनुचित है।'

जातिवाद के कट्टर विरोधी होने के कारण उन्होंने जातिमद मे चूर रहने वाले लोगो को बहुत फटकारा और कहा—जो जाति का अभिमान करके औरो पर जुल्म ढाते हैं, वे इस लोक मे तो अपनी उच्चता खो ही देते हैं, परलोक मे जाकर भी नरक तिर्यंच आदि जघन्य गतियो मे घोर यातनाएँ

भोगते है । अत प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह केवल अपने पापो को ही अस्पृश्य समझे और किसी भी मनुष्य के लिए अपने मन मे अस्पृश्यता की भावना न आने दे ।"

वे जन्म से किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय या शूद्र नही मानते थे । वे मानते थे कि कर्म के कारण ब्राह्मण शूद्र हो सकता है और शूद्र ब्राह्मण। उनका मुख्य कथन था —

"कम्मुणा बम्भणो होई,
कम्मुणा होई खत्तिओ ।
वइस्सो कम्मुणा होई,
सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थ यही है कि जन्म से कोई की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होकर नही आता । वर्ण व्यवस्था मनुष्य के अपने स्वीकृत कर्म से होती है । कर्म से ही व्यक्ति, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कहलाता है ।

दलितों के प्रति उदारता

महावीर की दलितो के प्रति उदारता या सहानुभूति केवल मौखिक ही नही थी व्यवहार मे भी वे स्वय कदम उठाया करते थे । पोलासपुर गाव मे सकडाल कुम्हार की प्रार्थना पर भगवान सहर्ष उसके यहाँ ठहरे थे । वडे-वड राजा-महाराजाओ को और सेठ-साहूकारो की अपेक्षा एक कुम्हार को महत्त्व देना उनकी दलितो के प्रति उदारता का परिचायक था ।

सकडाल कुम्हार को भगवान ने मिट्टी के घडो का दृष्टान्त देकर बोध दिया और वह आपका शिष्य वन गया । आगे जाकर यही कुम्हार भगवान के प्रमुख श्रावको मे एक सावित हुआ और सघ मे वडे सम्मान की दृष्टि से देखा गया । 'उपासक दशागसूत्र' मे एक स्वतन्त्र अध्याय ही इस विषय पर दिया गया है ।

भगवान की शूद्रो के प्रति उदारता का एक ज्वलत उदाहरण हरिकेशी चाडाल का रहा है, जिसके विषय मे आप सभी भली-भाति जानते होंगे । हरिकेशी चाडाल कुल मे उत्पन्न हुए थे किन्तु भगवान की कृपा से दीक्षित होकर मुनि वने । चाडाल कुल मे उत्पन्न हुए हरिकेशी मुनि का जीवन आगे जाकर इतना त्याग और तपस्यामय वना कि वडे-वडे सम्राट तो क्या, देवता भी उनके चरणो मे भक्ति पूर्वक नमस्कार करते थे । एक देव तो घोर तपस्वी मुनि हरिकेशी की सेवा मे सतत रहने लगा था । उनकी महत्ता वताते

हुए भगवान ने धर्मप्रेमी जनता के समक्ष अत्यन्त गद्गद् होकर स्वय फरमाया था—

> सक्ख खु दीसइ तवो विसेसो,
> न दीसई जाइ—विसेस कोई ।
> सोवागपुत्त हरिएस साहु,
> जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥

— उत्तराध्ययन सूत्र १२-३७

अर्थात्—प्रत्यक्ष मे जो कुछ दिखाई देता है वह जाति का महत्व नही वरन तप का माहात्म्य ही दृष्टिगोचर होता है। इस महाभाग हरिकेशी मुनि को देखो ! चाडालपुत्र होने पर भी इसकी कैसी महा प्रभावशाली समृद्धि है। यानी अपने गुणो के कारण यह किस महान पद पर पहुँच गया है जिसे ब्राह्मण कहलाने वाले स्वप्न मे भी प्राप्त नहीं कर सकते।

इस प्रकार जातिवाद का पूर्णतया खडन करते हुए महावीर ने उस समय जातिवाद का अस्तित्व नष्ट सा ही कर दिया था। वे जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त रहने वाली पाँच जातिया ही मानते थे—एकेन्द्रिय से लेकर पन्चेन्द्रिय तक। उन्होने अत्यज तो क्या अनार्यो और म्लेच्छो तक को सयम ग्रहण करने का अधिकार दिया था।

धर्म के नाम पर होनेवाले हिंसक विधि-विधानो का विरोध

भगवान महावीर के समय मे वेद-मूलक हिंसापूर्ण विधि-विधानो का वडा वोल-वाला था। अपने आपको महापडित और दिग्गज विद्वान मानने वाले असख्य लोग धर्म के नाम पर हिंसक यज्ञ करते थे तथा उसकी वलिवेदी पर लाखो मूक पशु मौत के घाट उतारे जाते थे। पशु ही नही, मासूम मानव-शिशु और वृद्ध भी यज्ञ की वलिवेदियो पर चढा दिये जाते थे।

भगवान का हृदय यह देखकर दहल उठा और उन्होंने इन हिंसक विधानो के विरोध मे आवाज उठाई। उनके आचरण मूलक धर्मोपदेश, दिव्यज्ञान तथा उज्ज्वल तप तेज का ऐसा अद्भुत प्रभाव उन कर्मकाण्डी ब्राह्मणो पर पडा कि उन्होने सदा के लिए धर्म के नाम पर करने वाले हिंसापूर्ण यज्ञो को पुन करने का त्याग कर दिया।

इन्द्रभूति गौतम, जो आगे जाकर भगवान के प्रिय शिष्य वने, अपने समय के धुरन्धर विद्वान और वडे क्रियाकाडी ब्राह्मण माने जाते थे। वे पावापुर मे एक विशाल यज्ञ की आयोजना मे लगे हुए थे। भगवान की इनसे मुठभेड हुई और ऐसी हुई कि गौतम यज्ञ करना-कराना छोडकर इनके शिष्य ही वन गए।

इन्द्रभूति गौतम के साथ ही चार हजार चार सौ अन्य ब्राह्मणो ने भी भगवान के पास मुनि-दीक्षा धारण कर ली।

नारी-जाति के प्रति भव्य कदम

महावीर भगवान स्त्री-जाति के प्रति भी वडी उदारता रखते थे तथा उसका वडा सम्मान करते थे। उस समय जवकि नारी को समस्त धार्मिक एव सामाजिक कार्यों के लिए अयोग्य माना जाता था और उसे किसी भी क्षेत्र मे कोई अधिकार नही दिया था, भगवान ने वुलन्द स्वर से कहा—

"स्त्री को भी पुरुष के समान ही प्रत्येक धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्र मे भाग लेने का वरावर अधिकार है। स्त्री जाति को पुरुष जाति से हीन, पतित एव अयोग्य समझना निरी भ्राति है।"

भगवान ने साधु-सघ के समान ही साध्वी-सघ भी वनाया जिसकी अभिनेत्री साध्वी चदनवाला थी जो कि पूर्ण स्वतन्त्र रूप से अपने सघ की देख-रेख तथा उसका मार्गदर्शन करती थी। महावीर के सघ मे साधुओ की सख्या तो चौदह हजार थी किन्तु साध्वियो की सख्या छत्तीस हजार तक पहुच गई थी।

इससे स्पष्ट झलकता है कि नारी केवल मास-पिंड की सज्ञा ही नही है। वह पुरुष की अपेक्षा अधिक सहनशील, धीर और गभीर होती है। उसके हृदय की करुणा और कोमलता उसके अतरग मे उच्चतम विकास को सावित करती है जिसके वल पर समस्त सदाचार ठहरे होते है। शायद इसीलिए 'विक्टर ह्यू गो' ने कहा है—

"Men have sight women insight"

यानी मनुष्य को दृष्टि होती है पर नारी को दिव्य दृष्टि।

समन्वयवाद

हमारे भारतवर्ष मे दार्शनिक विचारधारा का जितना अधिक विकास हुआ है उतना किसी अन्य देश मे नही हुआ। यहाँ पर भिन्न-भिन्न दर्शनो की भिन्न-भिन्न विचार धाराएँ जन्म लेती और वढती रही हैं। उन समस्त दर्शनो का उल्लेख किया जाना यहाँ समव नही है पर महावीर के समय मे जिन पाँच मुख्य वादो का यहाँ प्रचलन था उनके नाम हैं (१) कालवाद (२) स्वभाववाद (३) कर्मवाद (४) पुरुपार्थवाद और (५) नियतिवाद।

ये पाचो वाद अथवा दर्शन अपने आपका मण्डनऔर दूसरो का खण्डन करते रहे हैं। इसके कारण जनता मे वडी भ्रातिया पैदा हुई। भगवान महावीर ने इनके आपसी सघर्प को वडी सुन्दरता से मिटाया है। उन्होने कहा— पाचो ही

वाद अपने अपने स्थान पर ठीक है क्योकि कोई भी कार्य इन सबके सुमेल से से ही हो सकता है। ऐसा कभी नही हो सकता कि किसी एक के द्वारा ही कार्य की सिद्धि हो जाय। महावीर का कथन यथार्थ है। उदाहरणस्वरूप हम किसी भी फसल को ले सकते है।

किसान अपने खेत मे फसल पैदा करने के लिए बीज बोता है। यद्यपि बीजो का फसल के रूप मे आने का स्वभाव है, किन्तु बोना और बोकर उसकी रक्षा करने का पुरुषार्थ किसान न करे तो क्या उसे अपने प्रयत्न का फल मिलेगा? साथ ही बोने व रक्षा करने का पुरुषार्थ भी कर लिया पर जब तक निश्चित काल का परिपाक नही होगा, तब तक फसल कैसे तैयार हो जाएगी? आज फसल बोकर कोई चार दिन बाद ही उसे काट लेना चाहे तो क्या यह सभव है? नही। अब शुभ कर्म को लीजिए! फसल बो दी, उसकी रक्षा का पुरुषार्थ भी कर लिया और काल के परिपक्व होने की प्रतीक्षा भी धैर्य के साथ की जा रही है। किन्तु अगर अशुभ कर्म का उदय है अर्थात् शुभ कर्म अनुकूल नही है तो फसल को कीडा लग सकता है, टिड्डी दल भी कभी-कभी उसे तहस-नहस कर डालता है अथवा पाला पडने से भी फसल खराब हो जाती है और इस प्रकार कर्म-वाद अपना प्रभाव दिखाता है। अब रहा नियति। बीज के द्वारा फल की प्राप्ति होना प्रकृति का नियम है ही अगर पुरुषार्थ, काल और कर्म अनुकूल हो तो।

इस प्रकार अनेकातवाद के द्वारा किया जानेवाला समन्वय ही यथार्थ है और यथार्थ होने के कारण ससार को सत्य का परिचय देता है।

कुछ व्यक्ति स्याद्वाद सिद्धान्त के सबन्ध मे कहते हैं कि वह एक दूसरे के विरोधी धर्मों को एक ही वस्तु मे स्थापित करता है, किन्तु वे सभी परस्पर विरोधी धर्म एक ही स्थान पर कैसे रह सकते है?

ऐसा मानने और कहने वालो की अज्ञानता पर खेद होता है। उन्हे समझना चाहिए कि एक ही व्यक्ति किसी का पिता, किसी का पुत्र और किसी का भाई होता है। और पितृत्व, पुत्रत्व तथा भ्रातृत्व परस्पर विरोधी होने पर भी क्या एक ही व्यक्ति मे नही रहते? रहते हैं, और निर्विरोध रहते है। वह व्यक्ति एक साथ ही अपने तीनो उत्तरदायित्वो का सरलता से और समीचीन रूप मे पालन करता हुआ देखा जाता है।

स्याद्वाद के इस अनुपम सत्य को न समझने के कारण विश्व मे विविध धर्मों, दर्शनो, मतो, पन्थो और सम्प्रदायो मे व्यर्थ के विवाद खडे हो जाते हैं। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म को असत्य और मिथ्या बतलाते हैं। वे केवल

अपने ही धर्म या मत को पूर्णतया सत्य मानकर अन्य धर्मों का विरोध करते हैं और ससार मे धर्म के नाम पर घोर विवाद और समय-समय पर तो हत्याकाड भी हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण एकान्तवाद ही है। एकान्तवाद यद्यपि अपूर्ण होता है किन्तु वह सम्पूर्ण होने का दावा करता है और इस झूठे दावे के आधार पर अन्य धर्मो को मिथ्या बताता है। किन्तु अगर प्रत्येक मनुष्य मत-भेद की बातो पर ध्यान न देकर अन्य धर्मो की उन बातो को ध्यान मे लावे, जिनसे वह सहमत है तो विरोध और विपमतायें बहुत कम हो सकती थी।

महात्मा कबीर एक ऐसे सत हुए हैं जो जीवनभर इन धर्मों के कारण लडने वालो की भर्त्सना करते रहे हैं। उन्होने जिस प्रकार हिन्दुओ को फटकारा, उसी प्रकार मुसलमानो को भी। वे कहते थे—

हिन्दु कहै मोहि राम पियारा,
तुरक कहे रहमाना।
आपस मे दोउ लरि लरि मुए
सार न कोऊ जाना॥

उनका कथन यथार्थ है। धर्म को लेकर लडने वाले व्यक्ति सदा अपूर्ण रहते हैं और कभी अपने उद्देश्य मे सफल नही हो पाते।

कबीर ने आगे भी सार ग्रहण करने के विपय मे अत्यन्त सुन्दर भाव व्यक्त किये हैं। कहा है—

एक वस्तु के नाम बहु, लीजे नाम पिछान।
नाम पच्छ ना कीजिये, सार तत्त ले जान॥

सब काहू का लीजिए साचा शब्द निहार।
पच्छ पात ना कीजिए, कहै कबीर विचार॥

सभै हमारे एक हैं, जो सिमरे सत नाम।
वस्तु लहो पिछान के, वासन से क्या काम॥

वास्तव मे पूर्ण सत्य एक ही है, किन्तु विभिन्न मत उस सत्य के चरणो मे पहुचने के भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाते हैं और अपने-अपने मार्ग की सत्यता पर अडकर सघर्ष को जन्म देते हैं।

इसी सत्य की एकता बताने के लिए फारसी का एक विचारक कहता है—

इख्तलाफे वजा बेदिल दरलिवासे बेरु अस्त।
वरना खू यकसा बुवद दर पै फरे ताऊसो जाग॥

बेदिल कवि का कहना है कि आकार का भेद बाह्य रूप मे ही है, अन्यथा

मोर और कौवे के शरीर मे रक्त का रग समान ही होता है। इसी प्रकार सत्य सर्वत्र एक समान व्याप्त है।

भगवान महावीर ने यही कहा है कि तुम वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखो और भले ही अपने दृष्टिकोण को सत्य समझो किन्तु जो दृष्टिकोण तुम्हे विरोधी प्रतीत होता है उसकी सत्यता को भी समझने का प्रयत्न करो। तभी विषमताएँ मिटेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर का जीवन एकमुखी नही अपितु सर्वतोमुखी था। जिस क्षेत्र मे भी उन्हें कोई त्रुटि दिखाई देती थी, वे जी-जान से उसे दूर करने का प्रयत्न करते थे। अपनी अलौकिक एव अद्भुत प्रतिभा से उन्होंने समाज और धर्म का ढाचा ही परिवर्तित कर दिया था। आज भी अगर व्यक्ति उनके उपदेशो और आदेशो पर अमल करता हुआ चले तो कोई कारण नही है कि उसका जीवन उन्नति के चरम शिखर पर न पहुच जाय।

२ | मोक्ष का द्वार कैसे खुलेगा ?

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

सत महापुरुषो का कथन है—'इस जीवात्मा को परमात्म पद मे लीन हो जाने पर ही परम शाति प्राप्त होती है।' किन्तु परमात्म पद मे विलीन कैसे हुआ जाय ? क्या हमारे चाहने से, विचार करने से और वार-वार जवान से कहने से ही ऐसा सभव हो सकता है ? नही। इस महान इच्छा की पूर्ति करने के लिये सर्वप्रथम हमे सद्गुणो को अपनाना पडेगा। इनके अभाव मे परमात्म पद की प्राप्ति होना भी असभव है। आत्मा को परमात्मा और उसके पश्चात् परमात्मा के पद पर पहुचाने के लिये सबसे पहला सोपान सद्गुणो का होना ही है।

एक पाश्चात्य कवि 'चिलो' ने सद्गुणो का यथार्थ महत्व वडे सुन्दर शब्दो मे वताया है। कहा हैं—

"Virtue maketh men on the earth famous, in their graves illustrious, in the heavens imromrtal"

अर्थात्—'सद्गुण पृथ्वी पर मनुष्य का प्रसिद्धि प्रदान करता है, कब्र मे प्रख्यात कर देता है और स्वर्ग मे अमर वना देता है।'

वास्तव मे ही सद्गुणो मे ऐसी महान् शक्ति होती है। हम देखते हैं कि पुष्पो की सुगध वडी तेजी से पवन द्वारा दूर-दूर तक पहुच जाती है, किन्तु जवकि पुष्पो की सुगध पवन के विपरीत नही जाती अर्थात् जिस दिशा की ओर पवन वहता है उसी दिशा मे जाती है, वहाँ सद्गुणो की सौरभ अविलम्व समस्त दिशाओ मे व्याप्त हो जाती है। इसलिये अगर व्यक्ति को उन्नत वनना है, तो उसे सर्वप्रथम आत्मा से सद्गुणो का सचय करना होगा।

मोर और कौवे के शरीर मे रक्त का रग समान ही होता है। इसी प्रकार सत्य सर्वत्र एक समान व्याप्त है।

भगवान महावीर ने यही कहा है कि तुम वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखो और भले ही अपने दृष्टिकोण को सत्य समझो किन्तु जो दृष्टिकोण तुम्हे विरोधी प्रतीत होता है उसकी सत्यता को भी समझने का प्रयत्न करो। तभी विषमताएँ मिटेंगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर का जीवन एकमुखी नही अपितु सर्वतोमुखी था। जिस क्षेत्र मे भी उन्हें कोई त्रुटि दिखाई देती थी, वे जी-जान से उसे दूर करने का प्रयत्न करते थे। अपनी अलौकिक एव अद्भुत प्रतिभा से उन्होंने समाज और धर्म का ढाचा ही परिवर्तित कर दिया था। आज भी अगर व्यक्ति उनके उपदेशो और आदेशो पर अमल करता हुआ चले तो कोई कारण नही है कि उसका जीवन उन्नति के चरम शिखर पर न पहुच जाय।

सोलह सौ सामन्त सहस इक पन्द्रह राजा,
सर्व धरत हैं शक बजत इन्द्रपुर बाजा।
टांचे सीस तस कागले, एक दिवस ऐसो भयो।
नर नरिन्द्र मत गर्व कर, कह रावण किस दिस गयो ।।

कहा जाता है—रावण के पास अस्सी करोड हाथी, दस अरब घोडे, पचास करोड योद्धा, अठारह नील पैदल सेना, सोलह सौ सामन्त, एक हजार पन्द्रह अधीनस्थ राजा थे जो कि सदा उसकी सेवा मे तत्पर रहते थे। स्वर्ग और मृत्युलोक के सभी प्राणी उससे डरते थे। किन्तु एक दिन ऐसा आया कि उसकी लाश भी ठिकाने नही लग पाई तथा चील-कौवो ने उसके सदा ऊँचे रहने वाले मस्तक को जी भरकर क्षत-विक्षत किया। इसलिये कवि का कहना है—कोई भी व्यक्ति चाहे वह नर हो या नरेन्द्र, किसी भी प्रकार का गर्व न करे। क्योकि गर्व के कारण महाबली और महा ऐश्वर्यशाली रावण भी जब कुल सहित नष्ट होकर न जाने किधर प्रयाण कर गया तो फिर साधारण मनुष्य की तो बिसात ही क्या है ?

तो बधुओ ! मैं आपसे यह कह रहा था कि अभिमान सद्गुणो का शत्रु है अत उसे हृदय से निकाले बिना स्नेह, प्रेम, सेवा, सहानुभूति करुणा तथा सहिष्णता आदि सद्गुणो को नही अपनाया जा सकता। अभिमान के कारण व्यक्ति औरो से सहानुभूति नही रख पाता तथा सबसे मिल जुलकर नही चल सकता।

सस्कृत मे एक श्लोक है—

सर्वेपि यत्र नेतार सर्वे पडितवादिन ।
सर्वे महत्वमिच्छन्ति, तद् वृदमवसीदति ।।

पद्य का पहला भाग है—'**सर्वेपि यत्र नेतार** ।' जहाँ सभी अपने आपको नेता मानते है, वहाँ समाज का कार्य कैसे चल सकता है ? क्योकि प्रत्येक नेता अपनी अलग विचारधारा रखता है तथा उसी के अनुसार अलग मार्ग ग्रहण करके औरो को भी उस पर चलाना चाहता है। क्योकि अगर अन्य बहुत से व्यक्ति उसका अनुसरण न करे तो वह नेता कैसे कहलाएगा ? कोई साधारण व्यक्ति तो अपने विचार औरो से भिन्न रख सकता है, क्योकि उसका औरो से सपर्क न रहे तो चलता है। किन्तु जिस प्रकार सेना के बिना सेनापति नही बना जा सकता। उसी प्रकार अपने अनुयायियो के बिना नेता भी नही बना जा सकता। आखिर किनका नेता कहलाएगा वह ? बडी हास्यास्पद बात है यह। पर यथार्थ भी है।

अब प्रश्न यह है कि सद्‌गुणो का सचय हो कैसे ? सद्‌गुण ऐसी वस्तु नही है जो धन देकर खरीद ली जाय अथवा शारीरिक बल के द्वारा किसी से छीन ली जाय। सद्‌गुण आतरिक निधि है और आतरिक उच्चता, त्याग एव सयम के द्वारा ही उन्हे अपनाया जा सकता है।

सद्‌गुणो की प्राप्ति मे बाधाएँ कौन सी हैं ?

आप सभी जानते हैं कि कोई भी मूल्यवान वस्तु व्यक्ति को सरलता से प्राप्त नही होती उसके लिये बहुत परिश्रम और त्याग करना पडता है तथा कई बाधाओ को हटाना पडता है। फिर सद्‌गुण तो अमूल्य हैं। अत उनकी प्राप्ति मे बाधाएँ भी जबर्दस्त हो, इसमे आश्चर्य की बात नही है।

सद्‌गुण आतरिक निधि हैं, अत उनके मार्ग मे आने वाली बाधाएँ भी आतरिक ही है। सरल शब्दो मे सद्‌गुण आत्मा की विशेषताएँ हैं और उनके लिये बाधक आत्मा के विकार या दोष हैं। वे हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारो कषाय आत्मिक गुणो की प्राप्ति मे बाधक बनते है। इनमे सबसे मुख्य मान या अभिमान है। यह प्रथम तो सद्‌गुणो को आत्मा मे प्रवेश ही नहीं करने देता और किसी तरह अगर वे प्रवेश कर जायें तो उन्हे पुन निकाले बिना नही छोडता।

रावण अनेक गुणो से युक्त था। महापडित, तपस्वी और महान सिद्धियो का स्वामी भी था। जिनके बल पर वह सूर्य, चन्द्र तथा पवन को भी अपनी इच्छानुसार चलाया करता था ऐसा कहा जाता है। पूर्वकृत पुण्यो के उदय से उसे उच्च जाति, उच्च कुल, अतुल ऐश्वर्य और अपार शक्ति भी प्राप्त हुई थी। किन्तु साथ ही अहकार रूपी विषधर नाग भी उसके हृदय मे कुडली मारे बैठा हुआ था।

हमारे शास्त्रो मे अहकार अथवा मद के आठ प्रकार बताए गये हैं। वे हैं—जाति मद, लाभ मद, कुल मद, ऐश्वर्य मद, बल मद, रूप मद, तप मद एव श्रुत मद। शास्त्रो मे यह भी बताया गया है कि अगर इन आठो मे से एक भी मद होता है तो वह आत्मिक-गुणो का नाश कर देता है। किन्तु रावण के हृदय मे तो इन आठो ने कब्जा कर रखा था और इन्ही के परिणाम स्वरूप उसकी क्या दशा हुई। इससे शायद ही कोई व्यक्ति अपरिचित हो।

एक कवि ने उसके सबध मे कहा है—

असी क्रोड गजबध, अर्ब दस तुरी तुखारा,
सत्री क्रोड पचास, पायदल नील अठारा।

सोलह सौ सामन्त सहस इक पन्द्रह राजा,
सर्व धरत हैं शक बजत इन्द्रपुर बाजा।
टाँचे सीस तस कागले, एक दिवस ऐसो भयो।
नर नरिन्द्र मत गर्व कर, कह रावण किस दिस गयो ॥

कहा जाता है—रावण के पास अस्सी करोड हाथी, दस अरव घोडे, पचास करोड योद्धा, अठारह नील पैदल सेना, सोलह सौ सामन्त, एक हजार पन्द्रह अधीनस्थ राजा थे जो कि सदा उसकी सेवा मे तत्पर रहते थे। स्वर्ग और मृत्युलोक के सभी प्राणी उससे डरते थे। किन्तु एक दिन ऐसा आया कि उसकी लाश भी ठिकाने नही लग पाई तथा चील-कौवो ने उसके सदा ऊँचे रहने वाले मस्तक को जी भरकर क्षत-विक्षत किया। इसलिये कवि का कहना है—कोई भी व्यक्ति चाहे वह नर हो या नरेन्द्र, किसी भी प्रकार का गर्व न करे। क्योकि गर्व के कारण महाबली और महा ऐश्वर्यशाली रावण भी जब कुल सहित नष्ट होकर न जाने किधर प्रयाण कर गया तो फिर साधारण मनुष्य की तो बिसात ही क्या है ?

तो बधुओ! मैं आपसे यह कह रहा था कि अभिमान सद्गुणो का शत्रु है अत उसे हृदय से निकाले बिना स्नेह, प्रेम, सेवा, सहानुभूति करुणा तथा सहिष्णुता आदि सद्गुणो को नही अपनाया जा सकता। अभिमान के कारण व्यक्ति औरो से सहानुभूति नही रख पाता तथा सबसे मिल जुलकर नही चल सकता।

सस्कृत मे एक श्लोक है—

सर्वेपि यत्र नेतार सर्वे पडितवादिन ।
सर्वे महत्वमिच्छन्ति, तद् वृ दमवसीदति ॥

पद्य का पहला भाग है—'**सर्वेपि यत्र नेतार** ।' जहाँ सभी अपने आपको नेता मानते है, वहाँ समाज का कार्य कैसे चल सकता है ? क्योकि प्रत्येक नेता अपनी अलग विचारधारा रखता है तथा उसी के अनुसार अलग मार्ग ग्रहण करके औरो को भी उस पर चलाना चाहता है। क्योकि अगर अन्य बहुत से व्यक्ति उसका अनुसरण न करे तो वह नेता कैसे कहलाएगा ? कोई साधारण व्यक्ति तो अपने विचार औरो से भिन्न रख सकता है, क्योकि उसका औरो से सपर्क न रहे तो चलता है। किन्तु जिस प्रकार सेना के बिना सेनापति नही बना जा सकता। उसी प्रकार अपने अनुयायियो के बिना नेता भी नही बना जा सकता। आखिर किनका नेता कहलाएगा वह ? बडी हास्यास्पद बात है यह। पर यथार्थ भी है।

श्लोक मे आगे कहा गया है 'सर्वेपडितवादिन ।' यानी सभी अपने आपको पडित और विद्वान् मानना चाहते हैं। ऐसा होने पर भी वडा गडवड-झाला समाज मे हो जाएगा । अगर प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको पूर्ण विद्वान् समझ ले तथा अन्य किसी विद्वान् के गुणो, विचारो और विद्वत्ता मे लाभ न उठाए तो क्या वह स्वय पूर्ण गुणी वन सकेगा ? ज्ञान की तो इति कभी होती नही चाहे वह जीवन भर उसका अर्जन करे ।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'एमर्सन' का कथन है -

Every man I meet is my superior in some way In that I learn of him

प्रत्येक मनुष्य जिससे मैं मिलता हूँ किसी न किसी रीति से मुझसे श्रेष्ठ होता है। इसलिये मैं उससे कुछ शिक्षा लेता हू ।

कितनी यथार्थ वात है। ऐसा विचार रखनेवाला निरभिमानी व्यक्ति ही सच्चा पडित या ज्ञानी वन सकता है। और इसके विपरीत अपने आपको पूर्ण ज्ञानी समझने वाला अहकारी पुरुप न तो सच्चा ज्ञानी वन सकता है और न ही अपना प्रभाव औरो पर डाल सकता है। उसका जीवन केवल औरो से तर्क-वितर्क करने मे तथा अपने ज्ञान का निरर्थक डका पीटने मे ही चला जाता है।

तीसरी वात है—**'सर्वे महत्वमिच्छन्ति'** सभी व्यक्ति अपने आपको वडा और महत्वपूर्ण मानना चाहते है। पर स्वय के चाहने मात्र से ही क्या यह सभव हो सकेगा ? व्यक्ति वही महान् होता है जिसकी महानता अथवा गुणो की अन्य व्यक्ति सराहना करें। अपनी जवान से अपनी वडाई करने वाला व्यक्ति तो स्वय ही अपने आपको ओछा सावित कर लेता है।

आचार्य चाणक्य ने भी कहा है—

परस्तुतगुणो यस्तु निर्गुणोऽपि गुणी भवेत् ।
इन्द्रोऽपि लघुता याति स्वय प्रख्यापितैर्गुणै ।।

जिस गुण का दूसरे व्यक्ति वर्णन करते हैं उससे निर्गुण भी गुणवान होता है। इन्द्र भी अपने गुणो की प्रशसा करने से लघुता को प्राप्त होता है।

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि ऐसा क्यो ? पर यह है सही। क्योकि अपनी प्रशसा स्वय न करने वाले व्यक्ति मे अधिक नही तो नम्रता का गुण तो होगा ही जो सव गुणो मे श्रेष्ठ गुण कहलाता है।

हमारे आगमो मे नम्रता अथवा विनय की बडी महिमा बताई गई है। और तो और इसे धर्म का मूल ही माना गया है। भगवान ने कहा भी है—

"विणयओ नाण, नाणाओ दसण,
दसणाओ चरण, चरणाओ मोक्खो ।"

अर्थात् विनय से ज्ञान आता है, ज्ञान से जीव-अजीवादि तत्त्वो का बोध होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, सम्यक्त्व से आचरण प्राप्त होता है और सम्यक्चारित्र से मोक्ष उपलब्ध होता है।

इस कथन से भलीभाँति सिद्ध होता है कि विनय अथवा नम्रता जीवन का सबसे महत्वपूर्ण गुण है और जिसके अदर वह होता है वह अन्य गुणो के न होने पर भी महान् कहलाता है।

इसके विपरीत, जिसमे बहुत किताबी ज्ञान हो किन्तु उसके साथ ही साथ अहकार रूपी महान् दुर्गुण हो, तो वह उसकी समस्त विद्वत्ता पर पानी फेर देता है और उसके लाख चाहने पर भी महानता उससे कोसो दूर भागती है।

वस्तुत अगर सभी व्यक्ति कहे कि मैं ही नेता हू, मै ही पडित हू या कि मैं ही महान् हू, तो कैसे काम चल सकता है ?

पच महाभूतों का झगड़ा

हमारे शरीर मे पच महाभूत माने जाते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। कहते हैं कि एक बार इन सबमे विवाद उठ खडा हुआ। सभी का कहना था कि मैं ही मुख्य हू, मेरे न होने पर तुम मे से किसी का भी काम नही चल सकता। सर्वप्रथम वायु ने अपना बडप्पन बताया—'मेरे होने पर ही तुम लोगो की कुशल है, अन्यथा तुम सबकी कीमत ही क्या है ?

वायु का कथन ठीक है, क्योकि जब तक श्वास है तभी तक शरीर टिकता है। इसे लक्ष्य मे रखते हुए सत कबीर ने कहा है—

दौड बे दौड, जब लग उजाला तब लग दौड।
अँधेरा पड़ेगा, बजा कुछ न चलेगा।
एक सास जाता है, तीन लोक का मोल,
कहना था सो कह गया, अब क्या बजाऊँ ढोल ?

अर्थात्—"हे प्राणी ! जब तक शरीर मे सास यानी प्राणवायु है तब तक परमार्थ के मार्ग पर दौड चल अर्थात् जो कुछ धर्माराधना और तप-त्याग कर सके तो करले। अन्यथा एक दिन आत्म-ज्योति के इस शरीर से निकल जाने पर

अधेरा हो जाएगा और फिर सिवाय भिन्न-भिन्न योनियो मे भटकने के, और तेरा कुछ भी वश नही चलेगा।"

आगे कहा है—"तेरे शरीर मे से एक-एक श्वास जो कि तीनो लोको से भी अधिक मूल्यवान है, धीरे-धीरे चला जा रहा है। इनकी कीमत समझकर इनका उपयोग कर। मैं तो जिस प्रकार तुझे कहना चाहिये कह चुका पर तेरी समझ मे कुछ आ नही रहा है तो अब क्या ढोल बजा-बजाकर तुझे कहू ताकि तू सुन सके ?"

श्वास खरीदे नहीं जाते

एक-एक श्वास की क्या कीमत है यह अतिम समय मे एक अमीर व्यक्ति को मालूम हुई जो मृत्यु-शैय्या पर पडा था। वह चाहता था कि पाँच मिनिट के लिये भी मुझमे बोलने की शक्ति आ जाय तो मैं अपना वसीयतनामा लिखवा दूँ। किन्तु श्वास समाप्त हो रहे थे और वह असमर्थ पडा हुआ अपनी विवशता पर आँसू बहा रहा था। अपनी कुछ सासो के लिये वह मुँह माँगा धन डाक्टरो को दे देना चाहता था किन्तु डाक्टरो के लाख प्रयत्न करने पर भी उस अमीर को चद श्वास भी नही बढ सके और वह अपना मृत्यु पत्र लिखवाने की तमन्ना लिये हुए ही इस लोक से प्रयाण कर गया।

स्पष्ट है कि वायु का इस शरीर के लिये बडा महत्व है और उसके अभाव मे शरीर का काम नही चलता। किन्तु जब जल ने कहा कि 'मेरे बिना किसी का काम नही चल सकता' तो उसकी बात भी सत्य प्रतीत हुई। आखिर जल के अभाव मे भी किसी का शरीर कभी टिका है ? जल तत्त्व न हो तो केवल, अग्नि के कारण वह सूखकर लकडी नही हो पाएगा क्या ? तो वायु के समान जल का भी महत्त्व है।

अब बारी आई अग्नि तत्त्व की। वह भी अकडकर बोला—'शरीर मे सारा महत्व तो मेरा है। अगर मैं न होऊ तो इसमे डाला हुआ भोज्य पदार्थ कैसे पचेगा ? और फिर खाना पचने की ही बात काफी नही है, मेरे अभाव मे तो तुम सब शरीर अग बर्फ होकर रह जाओगे। इस प्रकार अग्नि का महत्व भी पूरा साबित हो गया।

पर पूर्व के तीनो तत्वो की बाते सुनते ही आकाश भी भडक गया। वह बोला—"मेरा क्या शरीर मे कम महत्व है ? मैं हू तो शब्दो का उच्चारण हो सकता है, अन्यथा नही। न्याय शास्त्र ने भी यही कहा है 'शब्दगुणकमाकाश।" इस प्रकार शब्द है तो तो आपका समाज है, जीवन है। अत मैं ही सबसे बडा और महत्वपूर्ण हू।

पृथ्वी अब तक चुप थी पर चारो की गर्वोक्तियाँ सुनकर वह क्यो पीछे रहती ? वह भी बोल पडी—"अरे, तुम सब किस का घमड कर रहे हो ? आखिर इस शरीर का निर्माण तो मुझसे ही हुआ है । मिट्टी के द्वारा ही इन्द्रियाँ बनी हैं, अन्यथा तुम क्या करते ? सच केवल यही है कि सारा कार्य केवल मेरे बल-बूते पर चल रहा है ।"

इस प्रकार पाँचो ही तत्व अपने आपको महत्वपूर्ण और अनिवार्य साबित करने लगे । पर बधुओ ! क्या आप बता सकते हैं कि इन पाचो मे से कौनसा अधिक महत्वपूर्ण है और बाकी सब गौण ? आपका यही उत्तर होगा कि सभी महत्वपूर्ण है और एक दूसरे के पूरक हैं । आवश्यकता केवल उनके सगठित होकर रहने की है । क्योकि सारा महत्व सगठन का ही है ।

भाइयो ! मैं भी आज आपको सगठन का महत्व बताने जा रहा हू ।

सघे शक्ति कलौयुगे

इस कलियुग मे सबसे बडी शक्ति सगठन मे है । सतयुग मे इस बात का उपदेश देने की आवश्यकता नही होती थी क्योकि व्यक्ति अपने आपको नेता नही मानता था, स्वय को ही महापडित नही कहता था और अपने माहात्म्य का प्रदर्शन नही करता था । कुछ विरले व्यक्ति ऐसे होते भी थे तो उनका पूरे समाज पर प्रभाव नही पड पाता था क्योकि जनता जागरूक थी और वह सत्य की पहचान कर लेने के कारण उन व्यक्तियो के भुलावे मे नही आती थी ।

किन्तु आज का समय ऐसा है कि इस जमाने मे चाहे सामाजिक क्षेत्र हो, धार्मिक हो, या राजनैतिक हो । इनसे सबध रखनेवाले अधिकाश व्यक्ति अपने आपको ही सर्वोपरि मानते हैं और जनता को अपने ही मतानुसार चलाना चाहते हैं । भला ऐसी खीचा-तान करने से समाज कैसे टिकेगा ? वह तभी टिक सकेगा, यानी उसमे तभी व्यवस्था रहेगी जबकि सभी व्यक्ति सगठित होकर रहेगे और एक दूसरे के विचारो का आदर करते हुए उचित मार्ग खोजकर उस पर बढेंगे । एक भजन मे कहा भी है—

सगठन की वीणा बजने दो,
मोहे मधुर मधुर धुन सुनने दो ।

वीणा मे सात तार होते है और वे अलग-अलग होने पर भी जब बजते हैं तो बेसुरे नही होते कि किसी का स्वर कान को फाड दे, किसी का सुनाई न पडे, किसी का प्रिय न लगे या किसी का लय मे न चले । हम देखते हैं कि अलग-अलग तार होने पर भी जब वीणा बजती है तो उसमे इतनी मधुर

और लयवद्ध स्वर-लहरी उठती है कि सुननेवालो का मन झूम उठता है, व्यक्ति मत्र मुग्ध हो जाता है। इसका कारण क्या है ? केवल यही कि वीणा के सम्पूर्ण तार सगठित होकर वजते हैं एक भी इधर-उधर नही होता।

जव वीणा के जड तार भी एक-दूसरे के सहायक होकर झकृत होते है तथा लोगो को अपनी मधुर ध्वनि से मोहित कर लेते हैं तो फिर चैतन्य मानव ऐसा क्यो नही करते ? क्या वे भी सगठित होकर अपने समाज और देश मे ऐसा आकर्षण पैदा नही कर सकते जिससे विश्व के अन्य देश भी प्रभावित हो जाँय ? अवश्य कर मकते हैं, किन्तु सगठित होना ही बडी वात है। आज का व्यक्ति तो केवल अपनी ही ख्याति चाहता है, भले ही समाज मे फूट पडे या देश रसातल को चला जाय।

इसीलिये मे आप लोगो से कहता हूँ कि आप चाहे राजनीतिक क्षेत्र मे कार्य करते हो, सामाजिक क्षेत्र मे करते हो या धार्मिक क्षेत्र मे कर रहे हो सगठित होकर ही जो करना हो वह करिये। क्योकि अकेले आप किसी भी क्षेत्र मे सफल नही हो पाएँगे। एक कहावत भी है—'अकेला चना भाड नही फोड सकता।' इसी प्रकार एक व्यक्ति समाज की गाडी को भी चला नही सकता।

एक फैक्टरी है। उसकी मशीन के सभी पुर्जे अगर बरावर काम करते हैं तो पूरी फैक्टरी चालू रहती है किन्तु फैक्टरी को चलाने वाली मशीन का एक पुर्जा भी अगर खराव हो जाता है या एक कील भी निकल कर गिर जाती है तो मशीन काम नही करती और सम्पूर्ण फैक्टरी का काम ठप्प हो जाता है। इसलिये मुख्य मशीन के सभी पुर्जे सलामत होने चाहिये। कोई भी एक पुर्जा यह नही कह सकता कि मैं ही सर्वेसर्वा हूँ। मेरे कारण ही मशीन चल रही है।

इसी प्रकार समाज का प्रत्येक सदस्य समाज की शोभा है और उसे उन्नत वनाने का हकदार है। समाज का कोई भी व्यक्ति यह नही कह सकता कि मेरे अभाव मे समाज की कोई कद्र नही है। अगर वह ऐसा कहता है तो यह उसका थोथा अहकार मात्र है। व्यक्ति का महत्त्व स्वय उसके कहने से नही वढता अपितु ओरो के कहने से वढता है।

एक जाट अपनी पत्नी से वोला—"तू मुझे पटेल कहा कर।" जाटनी समझदार थी अत मुस्कराती हुई अपने पति से वोली—"अजी, पटेल क्या कहूँ, मुझे ही कहना है तो फिर मैं तुम्हे राजा क्यो न कहा करूँ ?"

स्त्री की बात सुनकर जाट बडा शर्मिन्दा हुआ। वह समझ गया कि 'अपने मुँह मियाँ मिठ्ठू' बनने से कोई लाभ नही होता। व्यक्ति तभी ऊँचा कहलाता है जब उसकी योग्यता को देखकर ससार स्वय ही उसे ऊँचा कहे। और ऐसा तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति समाज मे सबसे मिल-जुल कर रहे और अपने सद्व्यवहार से लोगो का हृदय जीत ले।

कवि ने आगे कहा है—

अब नया जमाना आया है, सदेश प्रेम का लाया है।
टूटे हुए दिल को मिलने दो, सगठन की वीणा बजने दो ॥

आशय है—आज का नवीन युग अपने साथ प्रेम का सदेश लेकर उपस्थित हुआ है। यह अपील करता है कि सब प्रेम पूर्वक रहो, प्रेम से अपने कर्तव्यो का पालन करो और प्रेम का ही एक दूसरे से व्यवहार रखो। इसी मे मानव की महत्ता है।

कबीर ने भी सीधे-सीधे शब्दो मे कहा है—

पोथी पढि पढि जग मुआ, पडित हुआ न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़ै सो पडित होय ॥

वस्तुत अहकारी विद्वान् की अपेक्षा एक अज्ञानी किन्तु नम्र और स्नेह शील व्यक्ति अधिक अच्छा होता है।

जिसके हृदय मे स्नेह का स्रोत प्रवाहित होता है वह अपने विरोधियो और कट्टर दुश्मनो को भी अपना बना लेता है। किन्तु इसके विपरीत जो अहकारी और क्रोधी होता है वह अपनो को भी अपना वैरी बनाकर छोडता है। क्योकि क्रोधावेश मे वह भान भूल जाता है तथा जो नही कहना चाहिये वह कहता है तथा जो नहीं करना चाहिये वह कर बैठता है।

अग्रेजी मे एक कहावत है—

An angry man opens his mouth and shuts his eyes

अर्थात्—क्रोधी व्यक्ति अपने मुँह को खोल लेता है किन्तु आँखो को बन्द कर लेता है।

आप कहेगे कि क्रोध मे आँखे बन्द कहाँ होती हैं ? वे तो और बडी तथा लाल हो जाती हैं। आपका विचार गलत नही है। किन्तु यहाँ आशय मनुष्य के चर्म-चक्षुओ मे नही, अपितु ज्ञान-नेत्रो मे है। इसलिये ही यह कहा गया है। यह सत्य है कि जिस समय मनुष्य क्रोध मे होता है, नही ध्यान रखता

कि उसके सामने उसके माता-पिता है या मालिक, अथवा वहू है या वेटी। वह तो गुस्से के मारे अनर्गल गालियाँ या कटुवाक्य कहता चला जाता है। क्रोध की आग उसके अन्तर मे रहे हुए स्नेह को भस्म कर देती है।

इसीलिये कवि को कहना पडा है कि आज का नवीन युग प्रेम का सदेश लाया है। प्रेम और सगठन के अभाव मे न घर सुरक्षित रह सकता है, न समाज और न ही देश। उदाहरणस्वरूप-हमारे देश मे भले ही अनेक पार्टियाँ थी किन्तु जव चीन ने आक्रमण किया था, उस समय सभी ने सगठित होकर शत्रु का मुकावला किया था और उस सगठन के परिणामस्वरूप उसे मुँह की खानी पडी थी।

अभिप्राय यही है कि सगठन और प्रेम के विना कही भी काम नही चलता और किसी भी कार्य मे सफलता हासिल नही होती। अपने हाथ मे पाँच अगुलियाँ है। पर अगर इनमे एकता न हो तो क्या ये कोई भी कार्य सम्पन्न कर सकती हैं? नही। भोजन का ग्रास पाँचो अगुलियो से वनाया और मुँह मे डाला जाता है। अगर वे एक दूसरे से अलग रहकर कार्य करना चाहे तो यह कैसे सभव हो सकता है? कौन सी एक अगुलि भोजन का ग्रास मुँह तक ले जाने मे समर्थ है? एक भी नही।

पद्य मे आगे कहा है—'टूटे हुए दिल को मिलने दो।' शव्द सरल हैं किन्तु भाव कितना सुन्दर है? इसमे वताया है—किसी का भी दिल तोडो मत वरन प्रेम से और मधुर वचनो से उसे जोडने का प्रयत्न करो।

एक फारसी के कवि ने भी वडी सुन्दर वात कही है—

> **अज वराए नरम गुपतन शुद जवां वे उस्तखा।**
> **सख्त-तगो तुरश गुपतन नेस्त कोर आकिला॥**

अर्थात्—जिह्वा मे हड्डी इसीलिये नही रखी गई है कि यह कोमल शव्दो का उच्चारण करे। कटु और कठोर शव्द वोलना अक्लमदो का कार्य नही है।

वस्तुत कटु वचन रूपी वाण वडे तीखे होते हैं और उनका आघात छुरी तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्रो के आघात की अपेक्षा वहुत गहरा और दीर्घ काल तक दिल मे चुभने वाला होता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह कटु वचनो मे किसी का दिल तोडना नही, वरन मधुर वचनो से टूटे हुए दिलो को जोडना सीखे।

आगे कहा गया है —

वीणा यह तान सुनाती है, सगठन का पाठ पढाती है।
मुरझी हुई कलियाँ खिलने दो, सगठन की वीणा वजने दो।

प्रस्तुत पद्य की लाइनो मे मुख्य वात यह कही गई है कि—"हे भाई! वीणा के तारो से सगठन और स्नेह की शिक्षा लेकर तुम भी उन कलियो को, जो शीघ्र ही मुरझाने वाली हैं पुन खिलाओ और उनमे नव-जीवन का सचार करो।'

वन्धुओ, मुरझाने वाली कलियो के पुन खिलाने की वात शायद आपके गले से नही उतरी होगी। आप सोचते होगे, यह माली का कार्य है, हमे इतना समय कहाँ कि इन व्यर्थ की वातो मे उन्हें वर्वाद करें। पर यहाँ कलियो से आशय वगीचे मे पैदा होने वाली फूल की कलियो से नही है। अपितु हमारे समाज मे उत्पन्न होने वाली कलियो से है।

आपने कभी तो ध्यान दिया होगा कि हमारे समाज मे कितनी विपमता है ? इसमे आप जैसे लोग कम ही हैं जो धन मे खेलते हैं तथा किसी वस्तु का अभाव क्या और कैसा होता है इसका अन्दाज भी नही लगा सकते। किन्तु अगर ध्यान पूर्वक देखें तो आप पाएँगे कि इसी समाज मे अधिकाश व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हे भरपेट रोटी भी कभी नही मिलती, अनेको आश्रयहीन विधवाएँ हैं जो पराया काम करती हैं ताकि उन्हे पेट मे डालने को दो ग्रास रोटी के और लज्जा ढकने को थोडा सा वस्त्र उपलब्ध हो सके। इसी समाज मे अनेको वालक अनाथ और असहाय हैं जो अपने पढने की उम्र होने पर भी पढ नही सकते क्योकि उनके पास पैसा नही है। और पैसा तो क्या पेट भरने को अन्न भी नही है, अत. वे जैन वालक होटलो मे काम करते हैं, पैसे वालो के यहाँ छोटे-मोटे कामो के लिये नौकर हो जाते हैं या मजदूरी करने लगते हैं।

क्या ये सव समाज रूपी वगीचे के मुरझाये हुए फूल या असमय मे ही मुरझा जानेवाली कलियाँ नही है ? अवश्य हैं, और इन्हे पुन खिलाने का कर्त्तव्य आप लोगो का है। किन्तु समाज इतना वृहत् है और अभावग्रस्त प्राणी उसमे इतने अधिक हैं कि चद व्यक्तियो के किये यह कार्य नही हो सकता। जव आप लोग सगठित होकर समाज के उन श्री-हीनो की स्थिति सुधारने का वीडा उठाएँगे, तभी यह सभव हो सकेगा। किसी की सहायता केवल पैसे से ही नही की जाती। जिसके पास पैसा है, वह पैसा खर्च करे, जिसके पास पैसा नही है वह अपने शरीर से सेवा-कार्य करे और जिसके पास ये दोनो नही हैं

तो वह अपने स्नेह और मधुर व्यवहार के द्वारा ही दुखी, चिन्तित और शोक-ग्रस्त प्राणियो के दुखो पर सान्त्वना का मलहम रखकर उन्हे जीने की शक्ति प्रदान करे। साराश कहने का यह है कि केवल धन से ही नही वरन् तन और मन मे मानव-सेवा करना भी कम महत्व नही रखता। वल्कि धन की अपेक्षा मन से सेवा करना अधिक उत्तम है। धन तो हाथ का मैल कहलाता है, उसे कोई भी फेक कर दे सकता है, किन्तु आतरिक प्रेम से किसी की सेवा करना वडा कठिन और दुर्लभ होता है। मत तुलसीदास जी का कथन भी है

'सेवा धरम कठिन जग जाना।'

अर्थात्—सेवा करना सवसे वडा धम है पर कठिन भी है। आज हम सामायिक, प्रतिक्रमण, व्रत, उपवास, देव-दर्शन, पूजा आदि अनेक धर्म-क्रियाएँ करते हैं किन्तु इन सवसे वडा धर्म जो प्राणी की सेवा करना है उसकी ओर ध्यान नही देते। परिणाम यह होता है कि सेवा धर्म के अभाव मे अन्य समस्त धर्म-क्रियाएँ फीकी पड जाती है। सच्चे धर्म का प्रारम्भ ही मानव-सेवा से हो सकता है, इस वात को कभी नही भूलना चाहिये।

वडो की सेवा

एक ग्रामीण व्यक्ति वडा श्रद्धालु था और धर्म करके अपना जीवन सफल वनाने की इच्छा रखता था। किन्तु उसे यह नही सूझता था कि धर्म किस प्रकार करे, क्योकि वह अपढ और धर्म कैसे किया जाता है इस वात से अन-भिज्ञ था। किन्तु एक वार सयोगवश उसके गाँव मे सत आए और वह श्रद्धालु व्यक्ति उनका धर्मोपदेश सुनने के लिये गया।

सत उस समय कह रहे थे—'जो वडो की सेवा करता है वह जन्म-मरण के चक्कर से सदा के लिये छूट जाता है और उसका मानव-जीवन सार्थक होता है। क्योकि सेवा करना सवसे महान् धर्म है।"

सत का यह उपदेश ग्रामीण व्यक्ति को वहुत पसन्द आया। वह सोचने लगा—"धर्म का यह काम तो मैं वखूवी कर लूँगा।' वह उसी वक्त गाँव के मुखिया के पास गया और वोला "पटेल जी, मैं आपकी सेवा मे रहना चाहता हूँ।" पटेल यह वात सुनकर चकित हुए और उन्होने इन्कार भी किया किन्तु वह व्यक्ति माना नही और उनकी सेवा मे रह गया।"

पर एक दिन उस गाँव मे थानेदार आ गया। अत पटेल ने कहा—"भाई! आज खाना जल्दी तैयार कर देना। थानेदार साहव की हाजिरी मे जाना है।"

उस व्यक्ति ने चौंककर पूछा—"क्या थानेदार आपसे भी बड़ा है ?" पटेल ने हँसकर उत्तर दिया—"हाँ वह हमारे अफसर हैं !"

ग्रामीण व्यक्ति यह सुनकर थानेदार की सेवा मे पहुच गया क्योकि वह तो वडो की सेवा करना चाहता था। पर जब उसने थानेदार को अपने से बड़े अधिकारी का हुक्म मानते देखा तो वह उस अधिकारी के पास चल दिया।

इस प्रकार वडे से वडे की सेवा करने की इच्छा रखने के कारण वह उस देश के राजा के पास पहुँचा और तन-मन से राजा की सेवा करने लगा। अपनी नि स्वार्थ सेवा-भावना के कारण वह कभी किसी को अप्रिय नही लगा था और इसीलिए शीघ्र ही राजा का भी प्रिय वन गया।

काफी समय गुजर जाने के वाद एक दिन उसे लेकर राजा जगल मे शिकार खेलने गया। पर शिकार की खोज मे भटकते-भटकते रात हो गई, अत उस जगल मे ही एक पेड के नीचे दोनो ने रात्रि व्यतीत करने का निश्चय किया। सेवाभावी ग्रामीण ने कहा—"महाराज ! आप सो जाइये, मैं जागता रहूँगा ताकि कोई वन्य-पशु आकर हमे कष्ट न पहुँचाए।" राजा ने यही किया, वह सो गया। किन्तु ठीक अर्ध-रात्रि के समय कुछ आहट पाकर राजा जाग उठा और उस व्यक्ति से वोला—"भाई ! कोई भूतो का झुड इधर आता हुआ दिखाई देता है। चलो जल्दी से पेड पर चढ जाएँ नही तो ये हमे मार डालेगे।"

वह व्यक्ति चकित हुआ और पूछ बैठा—"महाराज ! आप डर क्यो रहे हैं ? क्या ये आप से भी वडे हैं ?" राजा वोला—"ये मेरे से ही क्या, मेरे पुरखो मे भी वडे हैं। चलो जल्दी करो पेड पर चढ जाँय।"

पर सेवा धर्म अपनाने वाला व्यक्ति फिर कहाँ ठहरता ? वह वोला—"महाराज, अव मैं आपकी चाकरी नही करूँगा। मुझे तो वडो की ही सेवा करनी है।" ऐसा कहकर उसने राजा को तो पेड पर चढा दिया और स्वय निर्भीकता से उधर ही आने वाले उस टोले के नायक भैरवनाथ के समीप पहुँचा तथा उनसे कहने लगा—

"आप राजा से वडे है अत मुझे आपकी सेवा मे रहना है।"

भैरवनाथ उसे देखकर चकित हुए किन्तु उसके भोलेपन पर प्रसन्न होकर उन्होने उसे अपने साथ ले लिया और आगे चल दिये। किन्तु थोडा ही आगे वढे थे कि एक मन्दिर दिखाई दिया जिसमे भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापित थी। भगवान की मूर्ति देखकर भैरवनाथ काँप गए। यह देखते ही ग्रामीण

व्यक्ति उनसे पूछ बैठा - "क्या ये तुमसे भी बडे हैं ?" उत्तर मिला—"हाँ ये हम सबसे बडे हैं ।"

यह सुनते ही व्यक्ति ने भैरवनाथ का साथ छोड दिया और मन्दिर मे आकर बैठ गया । पर वहाँ सेवा किसकी करता, अत चुपचाप बैठा रहा । कुछ समय पश्चात् सयोगवश एक व्यक्ति वहाँ आया और पूछने लगा—

"तुम यहाँ क्यो बैठे हो ?"

"मैं इनकी सेवा करना चाहता हूँ इसलिए बैठा हूँ ।" व्यक्ति ने मूर्ति की ओर इगित करते हुए उत्तर दिया ।

आगतुक बुद्धिमान था । वह कुछ देर सोचता रहा और बोला—"कुछ समय बाद भगवान के इस मन्दिर के पास ही एक बडा मेला लगेगा । हजारो लोग यहाँ आएँगे, तुम अगर मनुष्यो की सेवा करोगे तो तुम्हे भगवान के दर्शन हो जाएँगे ।"

श्रद्धालु व्यक्ति वही एक कुटिया बना कर रहने लगा और मन्दिर मे आने-जाने वालो की सेवा मे जुट गया । वह लोगो को नदी के इस पार से उस पार भी पहुँचा देता था । कुछ समय बाद वहा मेला भर गया और उस व्यक्ति का काम भी बढ गया । दिन-रात वह लोगो की सेवा करता था ।

एक दिन वह बहुत रात बीते,थककर चूर हुआ लेटा ही था कि किसी ने कुटिया का द्वार बजाया । वह तुरन्त उठा और देखा तो एक बालक वहाँ खडा था । बालक ने कहा—"क्या तुम अभी मुझे नदी के उस पार पहुँचा सकते हो?"

"हाँ, हाँ क्यो नही ?" कहता हुआ व्यक्ति फुर्ती से उस बालक को लेकर नदी के उस पार पहुँचा तो उसे लगा कि उस बालक का रूप मदिर मे स्थापित मूर्ति के समान हो गया है । आश्चर्य से उसकी आँखे फटी सी रह गई । यह देखकर मुस्कराते हुए बाल-रूप भगवान ने कहा—

"भाई ! तू जिस मदिरवाले की सेवा करना चाहता है, वह मैं ही हूँ । पर अगर तू मेरी सेवा करने की इच्छा रखता है तो दीन-दुखी, अनाथ, असहाय एव जरूरतमदो की सेवा कर, क्योकि उनकी सेवा करना ही मेरी सेवा करना है । मानव-सेवा ही सबसे बडा धर्म है ।"

बधुओ ! हमे भी बडी-बडी धर्म-क्रियाएँ करने से पहले धर्म के मूल सेवा-कार्य को अपनाना चाहिए । क्योकि इस मूल के मजबूत होने पर ही तप-रूपी प्राचीरें और क्रिया-रूपी छत सुरक्षित रह सकेंगी । और धर्म के ऐसे सुदृढ

भवन मे ही ज्ञान की समुज्ज्वल ज्योति कपाय-रूपी आँधी से वची हुई आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त करेगी। पर यह सेवा-कार्य हो कैसे ? तभी, जवकि प्रत्येक समाज के व्यक्ति मे प्रेम की भावना और सगठित होकर कार्य करने की लगन हो।

समाज के प्रत्येक सदस्य को चाहे वह वालक हो, युवक हो और वृद्ध हो, सभी को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करना होगा। अपनी-अपनी ढफली और अपना अपना राग।' वजाने से तो सामाजिक व्यवस्था सुधारने की वजाय और भी विगड जायगी। हमारा जैन-धर्म एक विश्व-प्रसिद्ध धर्म है तथा ससार इसका आदर व सम्मान करता है। किन्तु आज इसी के अनुयायी इसे टकडो मे बाँटकर स्वय धर्म गुरु वनना चाहते हैं। इससे क्या लाभ होगा ? सभी विखर जायेंगे और अशक्त वनकर औरो मे टक्कर लेने की क्षमता खो वैठेंगे। एक कहावत भी है—"वधी मुट्ठी लाख की और खुल गई तो खाक की।"

अर्थ स्पष्ट है कि एक होकर रहने मे ही लाभ है और समाज तथा धर्म का गौरव है। इसके विपरीत अपनी इच्छानुसार धर्म के विभिन्न रूप वनाकर उन्हे अपना-अपना मानने तथा एक दूसरे की खमियो का प्रदर्शन करने से धर्म के नाम पर ही धब्वा लगता है, जिस विशेप व्यक्ति के लिए कहा जाय वह तो गौण ही रह जाता है।

हमारे प्राचीन धर्माचार्य और धर्म प्रचारक तो ससार के अन्य धर्मों का भी अपने धर्म के समान ही आदर करते रहे हैं। आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर का कथन इस वात का प्रमाण है—

उदधाविव सर्वसिधव,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टय।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते,
प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि ॥

—चतुर्थद्वात्रिंशिका, श्लोक १५

अर्थात्—हे नाथ ! जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र मे पहुँचकर सम्मिलित होती है उसी प्रकार विश्व के समस्त दर्शन आपके शासन मे सम्मिलित हो जाते है। जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियो मे समुद्र दिखाई नही देता, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनो मे आप दिखाई नही देते, फिर भी जैसे नदियो का आश्रय समुद्र है, उसी प्रकार समस्त दर्शनो का आश्रयस्थल आपका शासन ही है।

कितनी उदारता थी उन महापुरुषों की अन्य दर्शनो के प्रति ? किन्तु आज ? आज हम अपने एक धर्म को भी अलग-अलग रखकर उसे अलग-अलग वाने पहनाने का प्रयत्न कर रहे है। इससे केवल हानि ही हो रही है। लाभ कुछ भी नही। कितना अच्छा हो कि हम सब इन बातो के चक्करो को छोड कर अहिंसा, सयम और तप रूप महान् धर्म की उसके शुद्ध रूप मे ही आराधना करें।

पर इसके लिए हमे अपने अह का त्याग करना होगा। अपनी प्रसिद्धि, अपनी प्रतिष्ठा और अपने नेतापने की आकाक्षा को तिलाजलि देनी होगी सगठित होकर भगवान महावीर के आदर्शों पर पूर्ण रूप मे चलना पडेगा। वीतराग पुरुषो द्वारा प्रदर्शित साधना-मार्ग को जब-हम ग्रहण करेंगे तभी हम अपनी मजिल तक पहुँचेंगे और मुक्ति का भव्य द्वार हमारे लिये खुल सकेगा।

 

३ | प्रीति की रीति…

धर्म प्रेमीवन्धुओ, माताओ एवं वहनो ।

कल हमने सगठन की महत्ता पर विचार किया था और यह भी समझाया था कि सगठन की आधारशिला प्रेम है। जव तक समाज के सदस्यो मे एक दूसरे के प्रति प्रेम-भाव नही होता तव तक वे सभी सगठित होकर किसी उद्देश्य के लिए प्रयत्न नही कर सकते। इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे अन्य सभी प्राणियो के प्रति प्रेम, सद्भावना और उदारता हो। स्स्कृत के एक श्लोक मे कहा गया है—

'उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।'

यानी जिसका चित्त उदार है उसके लिये तो केवल अपना परिवार, समाज या देश ही नही, अपितु सम्पूर्ण विश्व ही कुटुम्ब के समान है। ससार के प्रत्येक प्राणी को वह अपना कुटुम्वी समझता है।

वास्तव मे अन्त करण ऐसा ही उदार और विशाल होना चाहिए। जिस व्यक्ति का अन्त करण उदार और प्रेमानुभूति से आप्लावित होगा, उसका जीवन सपूर्ण ससार के लिये आकर्षण का केन्द्र वन जाएगा।

प्रेमोत्पत्ति के सहायक कारण

अव हमे यह देखना है कि अन्त करण मे प्रीति की उत्पत्ति और उसका वर्धन कैसे हो सकता है। क्योकि 'प्रेम वढाओ!' यह कहने मात्र से तो किसी के हृदय मे प्रेम जगाया नही जा सकता। उसके लिये अपने व्यवहार मे परिवर्तन करना पडेगा। और वह किस प्रकार किया जा सकता है यह हमे एक सस्कृत का श्लोक वताएगा—

ददाति, प्रतिगृण्हाति, गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भु क्ते, भोजयते चैव, षड्विध प्रीति लक्षणम् ।।

श्लोक मे प्रेमवर्धन के छ कारण या प्रेम के छ लक्षण वताए हैं। इनमे से पहला है —

(१) **ददाति** ददाति यानि देना। देने से प्रेम वढता है। आप अपने किसी भी सुहृद-सवधी को अपने हाथ से उपहार देंगे तो उसका आपके प्रति-प्रेम वढेगा। हम देखते भी है कि एक व्यक्ति जिसके वगीचे मे आम, अनार या अमरूद, कोई भी वस्तु पैदा होती है तो वह समय-समय पर उन्हे अपने मित्रो या सगे-सवन्धियो के यहाँ भेजता है। इसका क्या कारण है ? क्या जिनके यहाँ वे फल अथवा अन्य कोई वस्तु भेजी जाती है, उन्हें वह प्राप्त नही होती ? नही, कमी उसके यहाँ भी कुछ नही है किन्तु व्यक्ति एक-दूसरे के यहाँ ये वस्तुएँ स्नेह-सवध वढाने के लिए भेजते हैं।

देने के महत्व का आप सभी को भली-भाति अनुभव है। क्योकि आप आए दिन किसी के जन्मदिन की या शादी-विवाह मे दी जाने वाली पार्टियो मे सम्मिलित होते है। और उनमे जाते समय कुछ न कुछ उपहार लेकर ही जाते हैं, चाहे वह आभूषण हो, वस्त्र हो, पुस्तक, पैन या कोई भी छोटी-वडी वस्तु हो। वह आप क्यो देते है ? जो व्यक्ति अपनी लडकी के विवाह पर हजारो रुपये खर्च करता है उसे चन्द रुपयो मे खरीदी हुई आपकी वस्तु की कोई आवश्यकता नही है। किन्तु वह उसे प्रेम का उपहार समझकर ग्रहण करता है। सिर्फ इसलिए कि उसका आपके साथ मधुर सम्वन्ध कायम रहे। वह उपहार की कीमत नही देखता, देखता है उसके पीछे रहे हुए आपके स्नेह को। क्योकि देने वाले का हृदय उपहार को अत्यन्त प्रिय और मूल्यवान वना देता है।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को देने का महत्व समझकर उससे स्नेह-प्राप्ति का लाभ उठाना चाहिए।

(२) **प्रतिगृण्हाति**—इसका अर्थ है—वदले मे लेना। आप सोचेंगे यह भी कोई प्रेम वढाने का साधन है ? लेने से तो उलटा प्रेम घटता है। पर नहीं, ऐसी वात नहीं है। प्रेम उस लेने से घटता है जो किसी से जवर्दस्ती लिया जाता है। जैसे चोरी करके, छीन करके, व्याज या कर के रूप मे लेकर के या फिर हैसियत न होने पर भी दहेज आदि की माग करके। सक्षेप मे, कोई देना न चाहता हो, फिर भी उससे लिया जाय तो अवश्य प्रेम घटता है।

किन्तु स्नेह और सम्मानपूर्वक जो किसी के द्वारा दिया जाता है, उसे लेने से प्रेम घटता नही वरन वढता है, और उसे लेने से अगर इन्कार किया जाय तो न लेने वाला व्यक्ति अहकारी सावित होता है।

आपको ज्ञात होगा कि सुदामा जव श्रीकृष्ण से मिलने द्वारिका गए तो उनकी पत्नी ने केवल कुछ मुट्ठी चावल श्री कृष्ण को भेंट मे देने के लिए अपने पति सुदामा के दुपट्टे मे वांध दिये। किन्तु तीन खड के राजा श्रीकृष्ण को मुट्ठी भर चावलो की भेंट देने की हिम्मत सुदामा की नही पडी। भले ही कृष्ण उनके वचपन के मित्र थे किन्तु उस समय वे महाराज थे और उन्हें चावलो की तुच्छ भेंट देने का साहस सुदामा को कैसे होता ?

पर कृष्ण अन्तर्यामी थे और जान गए थे कि अत्यन्त दरिद्रावस्था होने पर भी ये चावल सुदामा की पत्नी ने अत्यन्त प्रेम से भेजे हैं और मेरे मित्र में लाए हैं। अत उस भेंट की वस्तु को सप्रेम ग्रहण करने के लिए वे अपने वाल-मित्र से वोले—

कछु भाभी हमको दियौ, सो तुम काहे न देत ?
चापि पोटरी काख मे, रहे कहौ केहि हेत ?
आगे चना गुरु मातु दए ते लए तुम चावि हमे नहिं दीने।
स्याम कह्यो मुसकाय सुदामा सो चोरी की वानि मे हौ जु प्रवीने॥
पोटरी काख मे चापि रहे तुम खोलत नाहिं सुधारस भीने।
पाछिली वानि अजौं न तजी तुम तैसेई भाभी के तन्दुल कीने॥

प्रेम की तुच्छ भेंट ग्रहण करने के लिए ही कृष्ण वडा मधुर उपालम्भ देते हुए सुदामा से कहते हैं—"मित्र ! मेरी भाभी ने मेरे लिए कुछ भेजा होगा, उसे क्यो नही देते हो ? तुम्हारी वगल मे यह पोटली दिखाई तो दे रही है पर उसे निकालते क्यो नहीं ?

आगे और वे मुस्कराते हुए कहते हैं—"देखो मित्र ! वचपन मे जव हम साथ-साथ पढते थे, एक वार हमारी गुरु-माता ने चने दिये थे। किन्तु वे भी तुम ही खा गए थे मुझे नही दिये थे तुमने। लगता है कि आज भी तुमने अपनी वह पुरानी आदत छोडी नही है और उन चनो के समान ही भाभी द्वारा भेजे हुए चावलो की दशा की है। अन्यथा वताओ यह पोटली तुम खोलते क्यो नही हो ?"

वधुओ ! इसे लेना कहते हैं। गरीव सुदामा अपनी छोटी सी भेंट देने मे सकोच का अनुभव न करें तथा शर्मिन्दा न हो, इसलिये कृष्ण उन्हे मीठे

उपालम्भ देकर स्वय ही वह भेंट ले लेते है और प्रेम-वश चावल कच्चे ही खाने लग जाते है। कथा वडी है अत प्रसगानुसार थोडा सा मैंने वताया है।

साराश यही है कि इस प्रकार स्नेहपूर्वक किमी का दिया हुआ लेने पर परस्पर प्रेम की वृद्धि होती है।

(३) **गुह्यमाख्याति**—प्रेम-वृद्धि मे तीमरा कारण है अपने मन की गुप्त वात कह देना। जिस व्यक्ति पर विश्वास हो उससे मन की न वतानेवाली वात कहने से सुनने वाले का स्नेह वढता है और उसे प्रसन्नता होती है कि मुझे विश्वास के योग्य माना है। दूसरे, कहते हैं कि मन की व्यथा कहने से मन हलका हो जाता है और कभी-कभी सुननेवाले के द्वारा किसी समस्या का हल भी निकल आता है।

किन्तु ऐसी गुह्य वातें कहने से पहले, सुनने वाले को खूब ठोक-वजा लेना चाहिये। अगर वह ओछे दिल वाला हुआ तो कहने वाले को ससार के सामने उपहासप्रद या अपमानित वनाकर छोडेगा और ऐसे व्यक्ति से कुछ कहना खतरे से खाली नही होगा। एक दोहे मे कहा गया है—

कपटी मित्र न कीजिये, पेस-पेस बुध लेत।
पहले ठाव वताइ के पीछे गोता देत ।।

यानी कपटी मनुष्य जो मित्रता का दम भरते हैं, वे भुलावा देकर किसी व्यक्ति के मन का भेद तो निकाल लेते है किन्तु फिर उसे प्रकाशित करके व्यक्ति को समार के सामने मुँह दिखाने लायक भी नही रखते। ऐसे धूर्त व्यक्ति ऊपर से तो नम्रता, पवित्रता और मित्रता का दावा करते हैं किन्तु उनके अन्तर मे कपट का विप भरा होता है।

किसी कवि ने सत्य ही कहा है—

मुख पद्मदलाकारं, वाचा चन्दन-शीतला।
हृदय कर्त्तरीतुल्य, धूर्तस्य लक्षण त्रयम् ।।

तात्पर्य यह कि—धूर्त व्यक्ति के तीन लक्षण होते हैं- प्रथम धूर्त का मुख कमल के पत्ते के समान कोमल होता है। दूमरे, उसकी वाणी चन्दन के समान शीतल होती है। तीमरे, उसका हृदय कैंची के समान होता है।

इसलिये ऐसे व्यक्तियो मे भूलकर भी मन की गुप्त वाते नही कहना चाहिये अन्यथा लेने के वदले देना पड सकता है।

(४) **पृच्छति**—यह अभी वताए गए तीमरे कारण का उलटा है। अर्थात्

प्रेम वढाने का तीसरा साधन था मन की गुप्त वात कहना और यह चौथा कारण है दूसरे के मन की वात पूछना। पढने और सुनने मे यह वात छोटी लगती है किन्तु महत्त्व की दृष्टि से कम नही है।

किसी दुखी और चिन्ताग्रस्त व्यक्ति को हम देखते हैं तो स्पष्ट महसूस होता है कि उसके दिल पर दर्द का मानो पहाड ही खडा है। किन्तु जव हम सहानुभूतिपूर्वक उससे उसके दु ख का हाल सुन लेते है, उसे सान्त्वना देते हैं और वन सके तो उसके दुख-निवारण का कोई उपाय वता देते है तो वह व्यक्ति अपने आपको वडा हलका मससूस करता है और हमारे प्रति प्रेम व्यक्त करता हुआ कृतज्ञता प्रदर्शित करता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपनी ही हाके जाते हैं, औरो की कुछ नही सुनते। ऐसे व्यक्ति से सुनने वाला उकता जाता है और उससे पीछा छुडाने का प्रयत्न करता है। किन्तु जो व्यक्ति अपनी कहता है, उसी प्रकार प्रेम से दूसरे की भी सुनता है वह सभी का शीघ्र ही प्रिय-पात्र वन जाता है। इसलिये आवश्यक है कि अगर अपनी दूसरो से कहो तो दूसरो की भी अवश्य सुनो। तभी आपस मे प्रेम वढ सकता है।

(५) भु क्ते—प्रेम वढाने का पाचवां कारण है खाना। खाने से यहाँ आशय अपने घर मे वैठकर अपना ही भोजन करने से नही है वरन् औरो के द्वारा प्रेम से खिलाये जाने वाले भोजन से है।

भले ही आप श्रीमत हैं किन्तु आपका कोई गरीव मित्र या सवधी अपनी किसी खुशी के अवसर पर आपको आमन्त्रित करके आपके सामने अपनी हैसियत के अनुसार रूखा-सूखा भोजन रखता है तो विना नाक-भौंह सिकोडे हुए प्रेम से उसे ग्रहण करना चाहिये। अनेक व्यक्ति तो यही मानकर नियम ले लेते हैं कि सामने आए हुए अन्न का कभी अनादर नही करूँगा भले ही उसमे से एक ही ग्रास क्यो न खाऊँ क्योकि अन्न हमारे लिये देवता के समान पूज्य है।

आज के अधिकाश व्यक्ति जो कि अमीर होते हैं, वे गरीव के घर खाने तो क्या जाएँगे, उनसे वात करने मे भी अपनी हेठी समझते हैं। वे भूल जाते हैं कि जिस धन का हम गर्व करते हैं उसका अन्त क्षय या वियोग ही है। और कोई भी लाभ उससे होने वाला नही है।

वाल्मीकि रामायण मे कहा भी है —

सर्वेक्षयान्ता निचया पतनान्ता समुच्छ्रया ।
सयोगा विप्रयोगान्ता, मरणान्तं च जीवितं ॥

सभी सग्रहो का अन्त क्षय है, बहुत ऊँचे चढने का अन्त नीचे गिरना है। सयोग का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है।

बुद्धिमान और विशाल हृदय वाले व्यक्ति इन बातो को सदा स्मरण मे रखते हुए धन, जन अथवा किसी भी अन्य सयोग का गर्व नही करते। न वे इन सयोगो के कारण अपने आपको उच्च समझते हैं और न इनके अभाव मे अन्य व्यक्तियो को नीचा।

श्रीकृष्ण ने अपने भक्तो पर अन्तर का सम्पूर्ण स्नेह उडेलते हुए भी कैसा मधुर उपालम्भ दिया है—

दुर्योधन की छोड मिठाई,
साग विदुर घर खायो
भक्तो ने मोहे नाना भाति नचाओ।

कितनी प्रेम पूरित झिडकी है ? कहा है—"इन भक्तो के मारे तो मेरे नाक मे दम हो गया है। कितना नचाते हैं ये मुझे। इन महात्मा विदुर के कारण मुझे राजा दुर्योधन के बढिया पकवान छोडकर इनकी पत्नी के हाथ से रूखा साग खाना पडा। कहते है कि एक बार विदुर की पत्नी ने प्रेम-विह्वल हो जाने के कारण केले छीलते वक्त अन्दर का गूदा तो एक ओर फेंक दिया तथा छिलको का ढेर कृष्ण के आगे लगा दिया। पर कृष्ण उन्हे ही खा गए। पर उसी समय सयोग वश विदुर आ गए और यह सब देखकर महान् आश्चर्य से पत्नी को झिडकते हुए बोले—

"अरी भागवान् ! यह क्या कर रही है ?"

"क्यो क्या हुआ ?" पत्नी उनकी बात पर ध्यान न देते हुए केले छीलती हुई बोली।

"जरा देखतो सही, तू खिला क्या रही है इन त्रिलोकीनाथ को ?"

तब चोंककर पत्नी ने देखा तो उसे मालूम पडा कि वह कृष्ण को छिलके देती जा रही है, और वे खाते जा रहे हैं। अपनी भूल पर अत्यन्त शर्मिन्दा होती हुई वह भगवान के चरणो पर झुक गई।

किन्तु कृष्ण क्या वे छिलके नाराजी से खा रहे थे ? नही, उन्हे तो अपार प्रेम मे खिलाये हुए छिलके अमृत तुल्य महसूस हो रहे थे।

राम के जीवन की भी एक ऐसी ही प्रसिद्ध घटना है। वन मे घूमते-घामते एक बार वे किन्ही ऋषियो के आश्रम की ओर बढे। उनके आगमन की सूचना पाकर सभी ऋषि अत्यन्त प्रसन्न हुए और स्वागत की सपूर्ण तैयारियां करके भगवान की प्रतीक्षा करने लगे।

उसी आश्रम के पास शवरी नामक एक भीलनी रहती थी। उसने भी राम के आने का समाचार सुना। सुनते ही वह भी राम के स्वागत की तैयारी करने लगी। पर वह गरीबनी क्या तैयारिया करती ? उसके पास महर्षियो के समान सुरुचिकर कद, मूल, फल कुछ भी नही थे। केवल एक टोकरीभर वेर थे। किन्तु पूर्ण विश्वास और भक्तिपूर्वक उसने उन्ही वेरो को चखना शुरू कर दिया। जो खट्टे होते उन्हे एक ओर रखती जाती, और मीठे लगने पर भगवान को खिलाने के लिए अपनी टोकरी मे रख देती।

उसका यह कार्य देखकर आश्रमवासी हसने लगे और वोले—"इस भीलनी के जूठे वेर खाने के लिए तो भगवान जरूर आएँगे भला और कौन उनका ऐसा स्वागत कर सकता है ?"

पर भीलनी भी थी कि उसने किसी भी व्यक्ति के उपहास पर ध्यान नही दिया और चख-चखकर मीठे वेर छाँटती रही। जब उन्हे छाँट चुकी तो अपनी साडी के आचल से ही झोपडी के सामने की सारी जगह वुहार दी और वह भी भगवान की प्रतीक्षा करने लगी।

समय होते ही राम आश्रम मे प्रविष्ट हुए और ऋषियो ने भक्तिपूर्वक उन्हे अपने-अपने यहाँ पधारने का आग्रह किया। किन्तु सव ठगे मे खडे रहे, यह देखकर कि राम सीधे शवरी की झोपडी की ओर जा रहे हैं।

प्रेम के आसू वहाती हुई शवरी दौडी आई और राम को हाथ पकड कर अपनी झोपडी के वाहर ले आई। एक आसन पर उन्हे विठा दिया और वार-वार उनके चरणो से अपना मस्तक छुआने लगी। उसके पश्चात् ही वह टोकरी उठा लाई और एक-एक करके अपने चखे हुए वेर राम को खिलाने लगी। वे जूठे वेर खाकर राम ने अत्यन्त तृप्ति का अनुभव किया और उसके पश्चात् ही अन्य आश्रम निवासियो का आतिथ्य ग्रहण किया।

कहने का अभिप्राय यही है कि महत्त्व खाने की वस्तु का नही है वरन् उसके पीछे रहे हुए स्नेह का है। अत उसका अनादर कभी नही करना चाहिए। और अत्यन्त स्नेहपूर्वक जो भी रूखा-सूखा किसी के द्वारा उपस्थित किया जाय उसे खिलाने वाले के स्नेह के समान ही स्वय भी स्नेह से ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करने पर ही आपसी प्रेम की वृद्धि हो सकती है।

(६) भोजयते—प्रेम की वृद्धि का छठा साधन है—खिलाना। स्नेह खाने से जिस प्रकार वढता है उसी प्रकार खिलाने से भी वढता है। यह नही कि किसी के यहाँ स्वय तो अनेक वार खा आएँ अपनी श्रीमताई का और उच्चता का एहसान करने के लिए और सामने वाले को कभी ठडे पानी के

लिए भी न पूछें। अभी मैंने सुदामा के विषय मे आपको बताया था कि वे किस प्रकार अपनी तुच्छ भेंट लेकर कृष्ण के पास गये और कृष्ण ने किस प्रकार उस भेंट को अपार स्नेह के साथ स्वीकार किया।

उन्ही सुदामा के द्वारिका जाने से पहले की बात है, उनकी पत्नी उन्हे कृष्ण के पास जाने का आग्रह कर रही थी तो अपनी घोर दरिद्रावस्था से भी पूर्ण सतुष्ट यानी सतोषी ब्राह्मण सुदामा ने पत्नी को समझाते हुए कहा—

तैं तो कही नीकी सुनि बात हित ही की यही—
रीति मित्रई की नित प्रीति सरसाइए।
मित्र के मिले तें चित्त चाहिए परसपर,
मित्र के जो जेंइए तो तो आपहु जेंवाइए॥

सुदामा ने अपनी पत्नी से क्या कहा ? यही कि—"अरी बावली ! तूने कृष्ण के यहाँ जाने के लिए बार-बार कहा सो तो ठीक है, किन्तु यह तो सोच कि मित्रता निभाने की रीति क्या है, जिससे प्रेम सदा बना रहे, वह यही है कि मित्र से मिलने पर उसके समान हमे भी स्नेह देना चाहिये और अगर उसके यहाँ हम खाएँ तो हमे भी खिलाना चाहिये।

कितनी सुन्दर बात है ? यद्यपि सुदामा गरीब थे किन्तु इस बात को भली-भाँति महसूस करते थे कि समान व्यवहार करने से ही मित्रता निभ सकती है और परस्पर प्रेम बना रह सकता है।

बधुओ, आप सत मुनिराजो के दर्शन करने के लिये अनेक शहरो मे जाते है, चाहे वे मारवाड मेवाड, राजस्थान, मालवा, पजाब या महाराष्ट्र कही के भी हो, वहाँ का सघ और सघ के व्यक्ति आपका इतना सत्कार करते हैं, और प्रेम-पूर्वक भोजन कराते है कि हृदय गद्गद् हो जाता है। उसी प्रकार आप भी अपने यहाँ आने वाले दर्शनार्थियो की सेवा मे तन-मन से जुट जाते हैं। पर अगर आप ऐसा न करें तो ? क्या आपके शहर का, सघ का और व्यक्ति का महत्व कम नही होगा ? अवश्य ही होगा।

इसीलिए मेरा कहना है कि प्रेम बढाने के लिये खाने के साथ ही खिलाना भी आवश्यक है। यद्यपि मैं जानता हूँ कि आप केवल उन्हे ही नही खिलाते, जिनके यहाँ खा चुके है अपितु जिन्हे कभी देखा नही और जिनमे कोई पूर्व-परिचय नही, ऐसे भी अपने समस्त अतिथियो का आप पूरा सत्कार करते हैं। पर मैं नीति की दृष्टि से बात कह रहा हूँ कि अगर और कुछ अधिक न कर सकें तो हमे आये हुए अतिथि को रूखा-सूखा खिलाकर ही ठडा पानी अवश्य

पिलाना चाहिए। आपके यहाँ से खाकर जाने वाला व्यक्ति कभी आपको भूल नहीं सकता।

एक बार एक वरात एक गाँव से दूसरे गाँव जा रही थी। मार्ग मे उसे चोरो ने लूट लिया मयोगवश चोरो के सरदार ने एक व्यक्ति से वरात के मालिक का नाम पूछ लिया।

जिससे पूछा गया था उस व्यक्ति ने डरते-डरते वता दिया कि अमुक सेठ के लडके की वरात जा रही है।

नाम सुनते ही चोरो का मुखिया चौक पडा और वोला—"ओह! मैंने तो एक वार उनके यहाँ भोजन किया है, उनका नमक खाया है। फिर किस प्रकार उनके लडके की वारात को लूट सकता हूँ?"

यह विचार आते ही उसने अपने साथियो को आदेश दिया कि—'लूट का सब माल वापिस कर दो।' इस प्रकार उस चोर ने लूटा हुआ माल वापिस कर दिया और अपनी ओर से भी दूल्हे को उपहार दिया। यह क्यो हुआ? इसलिए कि चोर को सेठ ने कभी भोजन कराया था।

तो वधुओ! आपस मे प्रेम वढाने के ये छ साधन आपके सामने रखे गए हैं। अगर प्रत्येक व्यक्ति इनका उपयोग करे तो परिवार मे और समाज मे कभी अशांति और आपसी तनाव की स्थिति उत्पन्न न हो। यद्यपि अभी वताए हुए ये सभी साधन सुनने मे सरल और सहज लगते हैं किन्तु इन पर अमल करना उतना सरल नही है। फिर भी जो व्यक्ति इन पर अमल करेंगे उनका जीवन निश्चय ही सुन्दर वनेगा तथा वह अपने सम्पर्क मे आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के मन को मुग्ध कर लेगा।

आप जानते ही होगे कि मन का मिलना वडा कठिन है और उनका फटना कितना सरल है। मन मिलने मे तो वहुत समय लग सकता है किन्तु उनके टूटने मे क्षण भर भी नही लगता। एक दोहे मे कहा गया है —

'दूध फटा, घी कहा गया? मन फटा गई प्रीति।
मोती फटा कीमत गई, तीनो की एक ही रीति॥

गद्य मे बताया गया है—'दूध के फटते ही उसमे से घी विलीन हो जाता है, मन के फटते ही प्रीति नष्ट हो जाती है और मोती के फटते ही उसकी कीमत समाप्त हो जाती है। इन तीनो की एक ही रीति है।

इसीलिये वधुओ अपने आपसी सवधो को विगडने मत दो अन्यथा प्रेम नष्ट हो जाएगा और एक वार जो प्रेम नष्ट हो गया तो फिर उसे पुन जागृत करना कठिन होगा। इस विपय मे भी कवि रहीम ने कहा है—

रीति प्रीति सबसों भली, वैर न हित मित गोत ।
रहिमन याही जनम की, बहुरि न सगति होत ॥

अर्थात्—सबसे प्रेम-भाव रखना ही उत्तम है, इससे मन शात, निर्मल और निश्चिन्त रहता है । और इसके विपरीत अगर अपने हितैषी या मित्रो के साथ वैर बाध लिया जाय तो प्रथम तो अपना मन ही प्रसन्न और हलका नही रह सकता दूसरे एक बार क्रोध की अग्नि के जल जाने पर धीरे-धीरे सभी सद्गुण उसमे भस्म हो जाते हैं और अनेकानेक कर्मों का बध होता है ।

पद्य मे आगे कहा गया है कि हम सब मानव जो इस जन्म मे एक-दूसरे से मिले है, पुन इस प्रकार कभी नही मिल सकेगे । क्योकि मनुष्य पर्याय बार-बार नही मिलती । जो जीव जैसे कर्म करेगा उसे उन्ही के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियो मे जन्म लेना पडेगा ।

इस ससार मे जो भी सयोग हमे मिले हैं उनका वियोग होना ही है । वाल्मीकि रामायण का एक श्लोक हमे बताता है—

यथा काष्ठ च काष्ठ च समेयाता महार्णवे ।
समेत्य तु व्यपेयाता कालमासाद्य कञ्चन ।
एव भार्याश्चपुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च ।
समेत्य व्यवधावन्ति, ध्रुवो ह्येषा विनाभव॰ ॥

अर्थात्—जिस प्रकार महा-सागर मे बहते हुए दो काष्ठ के टुकडे कभी एक-दूसरे से मिल जाते हैं और मिलकर कुछ काल के बाद एक-दूसरे से विलग हो जाते है उसी प्रकार स्त्री, पुत्र मित्र, कुटुम्बी तथा धन भी मिलकर बिछुड जाते हैं । इनका वियोग अवश्यभावी है ।

इसीलिये महापुरुष हमे बार-बार कहते हैं—किसी से वैर मत बाधो, क्योकि जीवन का अल्प समय पलक झपकते ही व्यतीत हो जाएगा किन्तु वैर से बधे हुए कर्म अनेक जन्मो तक दुख देगे । और इसके विपरीत अगर मानव-मानव से प्रेम करेगा तो उसका यह जन्म तो सुखमय बनेगा ही, अगला जन्म भी शुभ-कर्मों के फलस्वरूप सुखद हो सकेगा ।



निर्गुणी को क्या उपमा दी जाय ?

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

आज हमे इस बात पर विचार करना है कि मनुष्य जीवन कितना महत्त्वपूर्ण है, और कैसे व्यक्ति इस महिमामय जीवन का भी लाभ न उठाकर इसे निरर्थक खो देते हैं ?

मानव जीवन की दुर्लभता

इस ससार मे लाखो प्रकार के प्राणी हैं जो चौरासी लाख योनियो मे बटे हुए हैं। चौरासी लाख की सख्या छोटी नही है। इस पर शीघ्रता मे विश्वास भी नही किया जा सकता। किन्तु दीर्घ दृष्टि से देखा जाय तो इस सख्या के लिये आश्चर्य भी नही होता। क्योंकि हम अपनी आखो मे भी न जाने कितनी प्रकार के जीव-जन्तुओ को देखते है। उनमे से अनेक आकाशगामी हैं, अनेक भूमि पर विचरण करने वाले, और अनेको जल मे अपनी जिन्दगी बिताते है। वर्षा काल मे असख्य प्रकार के कीडे, मकोडे, मक्खी, मच्छर, पतिगे तथा डास आदि जीवो से भूमि पट जाती है। इसके अलावा केवल पृथ्वी पर ही सारा ससार सीमित नही है, अपितु इसके ऊपर स्वर्ग और नीचे नरक भी है। अनन्तानन्त तिर्यच जीव भी यहाँ निवास करते है।

इस प्रकार विचार करने पर हमारी समझ मे सहज ही आ जाता है कि इस जीव-जगत का प्रकार कितना अधिक और जीवो की चौरासी लाख योनिया होना भी कोई बडी बात नही है।

तो अब मैं यह बताने जा रहा हू कि इस ससार मे जो लाखो प्रकार के प्राणी है उनमे से एक प्रकार का प्राणी मनुष्य भी है और वह अन्य समस्त प्राणियो मे श्रेष्ठ है। यह इसलिये कि मनुष्य मे अन्य समस्त प्राणियो की

अपेक्षा असाधारण मस्तिष्क, विशिष्ट विवेक और चमत्कारिक बुद्धि है। उसका विशाल अन्त करण है और उसमे अपना भला-बुरा सोचने की शक्ति है। इतना ही नही, इस भूतल पर जन्म लेनेवाले अन्य समस्त प्राणियो की अपेक्षा उसे स्पष्ट वाणी प्राप्त हुई है, जिसके द्वारा वह अपनी वात औरो से भली-भाँति कह सकता है। साराश यही कि ससार की अन्य असख्य योनियो से वचकर मनुष्य योनि प्राप्त होना वडा दुर्लभ है और यह अनन्त पुण्यो के फल-स्वरूप प्राप्त होती है। और तो और देवता भी मनुष्य पर्याय पाने के लिये लालायित रहते है।

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि 'देवता मनुष्य जन्म पाने के लिए तरसते हैं। आपका आश्चर्य करना और विचार करना उचित है। क्योकि हम रात-दिन पढते और सुनते भी हैं कि पुण्य-सचय करने से स्वर्ग प्राप्त होता है। और जव मनुष्य स्वर्ग की प्राप्ति करने का प्रयत्न करता है तो फिर देवता क्यो मनुष्य जन्म पाने की इच्छा करते हैं?

हमारे आगम इसका कारण आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वताते हैं। वीत-राग प्रभु का कथन है कि मनुष्य और देवताओ की सृष्टि भिन्न है तथा सासारिक सुखो के मुकावले मे तो देवताओ के पास असीम ऋद्धि होती है तथा वे मनुष्य की अपेक्षा अनेक गुना अधिक सुख भोगते हैं। किन्तु आध्यात्मिक विकास, साधना और उसकी सिद्धि का जहाँ सवाल आता है, वहाँ देवता मनुष्य मे वहुत नगण्य सावित होते हैं। क्योकि देवता अधिक से अधिक केवल चार गुणस्थानो तक पहुच सकते हैं, किन्तु मनुष्य चौदहो गुण-स्थानो को पार करके ससार-मुक्त हो जाता है। अर्थात् परमात्म पद की प्राप्ति कर सकता है। अव आप ही वताइए कि देवयोनि श्रेष्ठ हुई या मनुष्य-योनि? निश्चय ही मनुष्य योनि श्रेष्ठ है। और इसीलिये देवता मनुष्य जीवन प्राप्त करना चाहते हैं।

हमारे स्थानाग सूत्र मे कहा भी है—

तओ ठाणाइ देवे पीहेज्जा
माणुस भव, आरिए खेत्ते-जम्म, सुकुल पच्चायाति ॥

देवता भी तीन वातो की इच्छा करते हैं—मनुष्य जीवन, आर्यक्षेत्र मे जन्म और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति।

स्पष्ट है कि मानव जीवन वडा महिमामय और दुर्लभ है। इसकी प्राप्ति भी अनन्त पुण्यो के फलस्वरूप होती है। किन्तु जो बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं वे इस जीवन का सम्पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं तथा अपनी सयम-साधना

के द्वारा ऐसा कर भी लेते हैं। पर जो विवेकहीन और अदूरदर्शी व्यक्ति होते हैं, वे इसे पाकर भी निरर्थक खो देते हैं।

तो किनका मनुष्य जन्म निरर्थक जाता है ? और उनके विषय मे क्या कहा जा सकता है ? इस विषय मे भर्तृहरि ने एक बडा सुन्दर श्लोक लिखा है—

येषा न विद्या, न तपो न दानम्,
ज्ञान न शील न गुणो न धर्म ।
ते मृत्युलोके भुविभारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

— जिन व्यक्तियो मे विद्या, तप, दान, ज्ञान एव शील आदि गुण नही हैं तथा उनके मानस मे धर्म का अस्तित्व भी नही है, वे इस मृत्युलोक की भूमि पर भारभूत ही साबित होते है तथा जिस प्रकार वन मे मृग अर्थात् हरिण केवल अपना पेट भरते हुए निरर्थक जीवन यापन करते हैं इसी प्रकार गुण-हीन व्यक्ति भी हरिणवत् केवल अपना पेट भरते हुए अपनी जिन्दगी निरर्थक व्यतीत कर देते है।

जहाँ न पहुँचे रवि, तहाँ पहुँचे कवि

बन्धुओ, यह बात सुनकर आप लोगो को बडा अटपटा लगा होगा कि इस समय महाराज ने किस प्रसग मे ऐसी बात कह दी। पर मैं आपके समक्ष इसी बात को खुलासा करने जा रहा हू कि अभी मुझे कवियो का ध्यान कैसे आया ?

बात यह है कि 'भर्तृहरि' ने निर्गुणी पुरुषो को हरिण की उपमा अपने श्लोक मे दी है। निर्गुणी को हरिण की उपमा देना सभव है अनेक व्यक्तियो को अच्छा न लगा होगा। किन्तु वे इस बात का विरोध नही कर सके। पर आप जानते हैं कि कवि किसी से नही डरते। वे निर्भय होकर अपनी कल्पनाओ के द्वारा आकाश, पाताल, सूर्य चन्द्र और अधिक क्या, सृष्टि के प्रत्येक कोने तक दौड लगाया करते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक शेक्सपियर ने भी कवि के विषय मे बडे सुन्दर ढग से कहा है—

The Poets eye in fine frenzy rolling Doth glance from heaven to earth and earth to heaven

अर्थात्—सौन्दर्य के मद मे झूमती हुई कवि की दृष्टि स्वर्ग से पृथ्वी तक और पृथ्वी से स्वर्ग तक विचरण करती रहती है।

वस्तुत कवि सृष्टि के सौन्दर्य का मर्मज्ञ होता है। वह ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा ही ससार का सौन्दर्य देखा जा सकता है।

पर ध्यान देने की वात है कि कवि केवल वाह्य जगत का ही सौन्दर्य नही देखता, वह अन्तर्जगत की उपासना भी करता है। और हम यह कह सकते हैं कि वाहरी सौन्दर्य का वर्णन करने वाला जहा कवि कहलाता है, वहा अन्तर्मन के सौन्दर्य का वर्णन करने वाला महाकवि होता है।

ऐसे ही महाकवि हमारे पूज्य पाद श्री तिलोक ऋषि जी महाराज हुए है, जिन्होने केवल मानव के मानस का ही सौन्दर्य और महत्व नही देखा अपितु मूक पशु हरिण के मन का महत्त्व भी समझा तथा उसकी ओर से भर्तृहरि जी को उत्तर दिया है। उन्होने अपनी लेखनी के द्वारा वताया है कि हरिण को निर्गुणी की उपमा तनिक भी पसद नही है। वह कहता है—

कहत कुरग वे, खान कस्तूरी की हू मैं,
करत तिलक हरी, सुगधित भारो है।
लोचन की उपमा सो, लागत हमारी शुभ,
वाजत है श्रृगी तब, नाद हो प्यारी है।
मास ही सो काम आवे, रहूँ मैं जगल वीच,
खाल के सन्यासी जोगी, विछावे जहारी है।
और भी अनेक गुण मोय मे नराधिपत,
निर्गुणी की उपमा न, लागन हमारी है।

कवियो की लीला भी न्यारी ही है। जिस प्रकार सभी वकील चतुर एव होशियार होते हैं और कानून के जानकार भी। किन्तु फिर भी वे कोर्ट मे परस्पर विरोधी व्यक्तियो का पक्ष लेकर दोनो को ही सच्चा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

उसी प्रकार कवि भी यहा एक दूसरे का विरोध कर रहे है। एक कहता है—निर्गुणी व्यक्ति हरिण के जैसा है, तो दूसरा कहता है नही, हरिण मे अनेक गुण हैं उसे निर्गुण नहीं कहा जा सकता।

तो हम यहा पद्य के आधार पर हरिण की वात सुन रहे हैं जो कहता है—

मुझे निर्गुणी मनुष्य के समान मत वनाओ! क्योकि मुझमे तो अनेक गुण हैं। उनमे से प्रथम यह है कि मैं कस्तूरी की खान हू। मेरी नाभि से अमूल्य कस्तूरी प्राप्त की जाती है। क्या निर्गुणी व्यक्ति कभी कस्तूरी का निर्माण कर सकता है? मेरे द्वारा प्रदत्त कस्तूरी की कीमत कोई आक नही

सकता क्योकि इसी कस्तूरी के द्वारा 'हरि' अर्थात् कृष्ण का राजतिलक किया गया था । इसकी सुगध भी अवर्णनीय है जो कि शब्दो के द्वारा नही बताई जा सकती । तभी तो कहा गया है—

आमोदेन हि कस्तूर्या, शपथेन विभाव्यते।'

आशय यही कि कस्तूरी की सुगध का परिचय शपथ खाकर देने की आवश्यकता नही है, वह स्वय ही अपना परिचय दे देती है।"

हरिण अपना दूसरा गुण बताता है—मेरे नयन इतने सुन्दर और आकर्षक होते है कि कवियो और विद्वानो को नारी के नेत्रो की उपमा देने के लिए मेरी आखो का उल्लेख करने की आवश्यकता पडती है। क्योंकि सौन्दर्य के अलावा मेरे मन की सरलता, पवित्रता और भोलापन भी मेरी आखो मे झलकता है।

लोग कहते हैं कि जो बात वाणी प्रकट नही कर पाती वह बात आखे आसानी से कह देती है । आखें आन्तरिक भाव को ग्रहण करने मे इतनी पटु हैं कि लज्जाजनक बात देखते ही झुक जाती हैं, आनन्द का भान होते ही चमक उठती हैं, रोष का उदय होते ही जलने लगती हैं और करुणा का उद्रेक हुआ नही कि नम्र हो जाती है और बरस पडती हैं।

तो, चूकि नारी का हृदय भी सरल, कोमल एव करुण होता है और इसीलिये उसके नेत्रो मे सहज सौन्दर्य अपना स्थान बना लेता है। स्पष्ट है कि समान गुण होने के कारण नेत्रो मे समानता होती है और मेरे भी नेत्र गुणवती नारी के नेत्रो के सदृश होने के कारण उन्हे काव्यरसिक और शृगार प्रेमी व्यक्ति 'मृगाक्षी', 'मृगनयनी' एव 'मृगलोचनी' कहा करते हैं।"

इस प्रकार दो गुण तो मैंने बता दिये । अब तीसरा गुण बताता हू कि—मेरे सीग भी कम महत्त्व नही रखते । उनके द्वारा 'शृगी' नामक वाद्य का निर्माण होता है, जिसकी मधुरध्वनि लोगो के मन को मुग्ध कर देती है। मनुष्य के पास तो ऐसी कोई वस्तु है नही, फिर उसकी तुलना मुझ से क्यो की जाती है।

आगे हरिण कहता है—मैं मनुष्यो की बस्ती से दूर वन मे रहता हू। किसी को भी कोई हानि नही पहुचाता । फिर भी शिकारी वहां आ पहुचते हैं और मुझे मारकर मेरा मास खाने के लिये लालायित रहते है। एक श्लोक मे कहा भी है—

मृग मीन सज्जनानाम्,
तृण जल सतोष निहित वृत्तीनाम्।

लुब्धक, धीवर, पिशुना,
निष्कारणवैरिणो जगति ॥

पद्य मे कहा गया है—हरिण, मछली और सज्जन ये तीन प्राणी हैं जो क्रमश तृण यानी घास, जल और सतोष के द्वारा ही अपना जीवन शाति पूर्वक व्यतीत करते हैं किन्तु फिर भी हरिण के पीछे शिकारी, मछलियो के पीछे धीवर और सज्जनो के पीछे दुर्जन व्यक्ति पड़े ही रहते हैं।

तो हरिण कह रहा है—मैं किसी का कभी अहित नही करना फिर भी मुझे मारकर मेरा मास लोग खाते हैं, और इस प्रकार मेरा मास भी निरर्थक नही जाता। जबकि मनुष्य का मास किसी काम नही आता।

अब नम्बर आता है मेरी खाल का ! सीग और मास जिस प्रकार काम आते है, उसी प्रकार मेरी खाल भी व्यर्थ नही जाती। अमीर व्यक्ति मेरी खाल को अपने ड्राइग रूप मे सजाकर रखते है तथा योगी और सन्यासी मृगचर्म को बिछाते हैं। यह बात 'जहारी' अर्थात् जगत प्रसिद्ध है। विद्वद्वर्य प० शोभा चद्र जी भारिल्ल ने भी कहा है—

गाय भैस पशुओ की चमडी, आती सौ सौ काम।
हाथी दात तथा कस्तूरी, बिकती महगे दाम ॥
नर तन किन्तु निपट निस्सार, हस का जीवित कारागार।

पद्य मे बताया है कि गाय, भैस आदि पशुओ की चमडी जूते, बेल्ट आदि सैकडो वस्तुओ के निर्माण मे काम आती है, हाथी के दातो द्वारा स्त्रियो की चूडियाँ तथा अनेक अन्य कलापूर्ण कृतिया बनाई जाती हैं। मृग आदि मे रही हुई कस्तूरी भी अनेक रोगो के लिए सजीवनी का काम करती है तथा बडी मँहगी बिकती है। किन्तु मनुष्य के शरीर की एक भी वस्तु किसी काम नही आती। मनुष्य शरीर वास्तव मे पूर्णतया निस्सार है केवल आत्मा के लिये कारागार अवश्य है।

इसलिए हरिण का कहना है कि मुझमें अनेक गुण हैं अत मेरी तुलना निर्गुणी से करना उचित नही है।

निर्गुणी गाय जैसा ही सही

बधुओ ! अभी मैंने आपको बताया था कि जो व्यक्ति यह दुर्लभ मानव-जीवन पाकर विद्या हासिल नही करता, तपश्चरण नही करता, दान नही देता, शील का पालन नही करता, और आत्म-ज्ञानप्राप्न करने का प्रयत्न नही करता ऐसे धर्महीन तथा गुणहीन मनुष्य को श्री भर्तृहरि ने पृथ्वी पर भारभृत और मनुष्य के रूप मे हरिण के समान बताया है।

किन्तु उसके विरोध मे पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी म० ने हरिण के मन की बात अपनी लेखनी के द्वारा बताते हुए प्रकट किया है कि हरिण कभी भी अपने आपको निर्गुणी व्यक्ति के समकक्ष नही रखना चाहता और इसीलिये उसने अपने अनेक गुण बताते हुए भर्तृहरि के विचारो का खडन कर दिया है।

तो अब पुन यह समस्या सामने आ गई कि फिर निर्गुणी मनुष्य की उपमा किससे दी जाय ? आखिर किसी न किसी के जैसा तो वह होगा ही। तो किसी मन चले कवि ने राजा भर्तृहरि के कथन मे थोडा सा परिवर्तन करते हुए कह दिया—

येषा न विद्या न तपो न दानम,
ज्ञान न शील न गुणो न धर्म ।
ते मृत्यु लोके भुविभारभूता,
मनुष्य रूपेण धेन्वश्चरन्ति ॥

आशा है श्लोक मे किया गया थोडा सा परिवर्तन आपकी समझ मे आ गया होगा। वह यही है कि जिस गुणहीन व्यक्ति मे विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील तथा धर्म आदि कोई भी विशेषता नही है, वह पृथ्वी पर भारभूत है तथा मनुष्य के रूप मे गाय के समान है।

तो भाई ! अब निर्गुणी को गाय के समान बना दिया। किन्तु मैंने अभी कहा था न, कि कवि निडर और जिद्दी होते है। पूज्यपाद त्रिलोक ऋषि जी म० ऐसे ही तो कवि थे। उन्होने गाय पर लगाया हुआ आरोप उसे जाकर बता दिया और गरीब गाय ने अत्यन्त दुखी होकर जो जवाब दिया उसे ज्यो का त्यो अपनी कविता मे गूँथ दिया। वही मैं आपको बताने जा रहा हूँ कि निर्गुण कह देने पर गाय क्या कहती है ?

सुरभि कहत तृण, खाय के उदर भरूँ,
मालिक को देऊ खीर, अमृत जहारी है।
दधि लूणी घृत आदि, होत है अनेक रूप
पचेन्द्रिय पुष्ट होय, खावे नर नारी हैं।
छाना ही से होत है रसोई पुनि लीपे घर,
पुत्र मुझ खेती करे, भार पाडे भारी है।
और भी अनेक गुण, मोय मे नराधिपत,
निर्गुणी की उपमा न, लागत हमारी है ॥

वधुओ, आप और हम सभी जानते है कि गाय अत्यन्त सरल और सीधी होती है। वह न कभी किसी का बुरा सोचती है और नही कभी किसी को कटु वचन कहती है। किन्तु निर्गुणी कहलवाना तो उसे भी प्रिय नही लगा। वह कहने लगी—"भाइयो ! मेरे लिये निर्गुणी की उपमा तो नही लगाई जा सकती। अर्थात् मे निर्गुण व्यक्ति के समकक्ष नही हो सकती। मुझ मे कई गुण हैं जो निर्गुणी मे नही पाये जाते।"

सारा जगत जानता है कि मैं केवल घास-फूस खाकर अपना गुजारा करती हूँ। यद्यपि दुनियाँ के लोग वडे स्वार्थी है। वे जव तक गाय दूध देती है, तब तक तो उसे थोडा वहुत दाना देते भी हैं किन्तु ज्यो ही वह दूध देना वन्द कर देती है, उसके सामने वैलो और घोडो आदि का वचा-खुचा गदा घास सुखा-सुखू कर डालने लगते हैं। फिर भी गाय गिला नही करती और अपने भविष्य के दुख का विचार किये विना ही जब तक वह दूध दे सकती है देती रहती है। तो गाय कहती है—मैं केवल घास खाकर ही पेट भरती हूँ फिर भी दूध जो शरीर के लिये अमृत का काम करता है, वह लोगो को प्रदान करती हूँ।

सस्कृत साहित्य मे अमृत चार प्रकार का माना गया है—

अमृतम् शिशिरेवह्नि, अमृतम् क्षीरभोजनम्।
अमृतम् राजसम्मानम्, अमृतम् प्रियदर्शनम्॥

प्रथम प्रकार का अमृत है—सर्दी मे आग का समीप होना। जब कडाके की सर्दी पडती है तव अगर अग्नि का इन्तजाम न हो तो शरीर मानो जमने लगता है। हम आये दिन अखवारो मे पढते हैं कि दिल्ली आदि वडे-वडें शहरो मे अनेक गरीव और फुटपाथ पर रहने वाले व्यक्ति सर्दी से ठिठुर-ठिठुर कर मर गये। तो पहला अमृत शीत मे वह्नि हुआ।

दूसरा अमृत भोजन के साथ दुग्ध का होना है। दूध के द्वारा ही आप खीर, श्री खड तथा मावे की नाना प्रकार की मिठाइयाँ वनाते है तथा उसे जमाकर दही और दही से मक्खन निकालते है। घर मे केवल दूध हो तो आप अपने मेहमानो को भाँति-भाँति की चीजें वनाकर खिला सकते हैं तथा उनका पूर्ण सत्कार कर सकते हैं।

तीसरा अमृत वताया गया है—राज सम्मान। प्राचीन काल मे राजाओ का राज्य होता था। और राजाओ के विपय मे प्रसिद्ध ही था कि वे अगर रुष्ट हो जाते तो व्यक्ति को नेस्तनावूद कर देते, और अगर तुष्ट हो जाते तो उसे मालामाल करके छोडते थे।

राजा भोज के दरवार मे एक धनपाल नामक वडे विद्वान् पडित थे।

उन्होने वर्षों के परिश्रम के वाद वाणभट्ट की कादम्बरी का प्राकृत मे अनुवाद किया। जब अनुवाद पूरा हो गया तो उन्होने उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया।

राजा यश-लोलुपी थे। उन्होने धनपाल से कहा—"इस ग्रन्थ के साथ मेरा नाम जोड दो तो मैं तुम्हे इच्छित स्वर्ण मुद्राएँ दूँगा।" किन्तु धनपाल धर्मात्मा थे अत उन्होने ऐसा गलत काम करने से इन्कार कर दिया था।

बस फिर क्या था ? राजा आग बबूला हो गया और यह सोचकर कि मेरा आश्रित पडित ही मेरी वात नही मानता, उसने वर्षों के परिश्रम से तैयार किया हुआ अनुवाद अपने कर्मचारियो के द्वारा अग्नि की भेंट चढा दिया।

इसी प्रकार वादशाह अकवर ने भी सुप्रसिद्ध कवि गग को हाथी के पैरो-तले कुचलवा दिया था, क्योकि कवि ने अकवर को अपनी कविता मे सर्वोपरि वताने पर भी ईश्वर के पश्चात् अर्थात् दूसरा दर्जा दे दिया था। इसीलिये लोग कहा करते थे – "भगवान के घर का तेडा (वुलावा) भले ही आ जाय पर राजा के घर का न आये।"

पर सदा ही ऐसा नही हुआ करता था। राजा दयालु भी होते थे और वे अपनी प्रजा के लिये अपनी उदारता का प्रयोग भी दिल खोलकर करते थे।

एक वार महाराजा रणजीतसिंह की सवारी शहर से गुजर रही थी कि अचानक एक मिट्टी का ढेला उनके मस्तक पर आ लगा। कर्मचारी इधर-उधर दौडे और एक वुढिया को पकड लाए, जिसने वह ढेला फेंका था।

पूछने पर उसने कहा—"हुजूर ! मेरा लडका तीन दिन से भूखा था अत मैंने इस वृक्ष पर से एक फल तोडने के लिये ढेला फेंका था, आपको मारने के लिये नही।"

वुढिया की वात सुनकर महाराज ने अपने कर्मचारियो को आज्ञा दी—"इस वृद्धा को खजाने से एक हजार रुपये और आज के लिये तैयार रसोई दिलवा दो।"

लोगो के आश्चर्य प्रकट करने पर वे वोले—

"जब यह मन-हीन वृक्ष भी ढेला फेंकने वाले को पका फल प्रदान करता है तो क्या मैं इससे भी गया-बीता हूँ जो ढेला मारने वाले को उलटा दड दूँ ?"

इसी प्रकार अनेक राजा अपने दरबार मे रहने वाले विद्वानो को तथा कवियो को नाना-प्रकार से पुरस्कृत किया करते थे। राजा जयसिह कवि विहारी को उनके एक-एक पद्य पर एक-एक मोहर पुरस्कार के रूप मे दिया करते थे।

भर्तृहरि ने भी राजा की राजनीति पर एक श्लोक मे लिखा है—

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च,
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुर नित्य धनागमा च,
वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा॥

राजा की नीति वेश्या के समान अनेक प्रकार से व्यवहार मे लाई जाती है। कही झूठी, कही सत्य, कही कठोर और प्रिय भाषिणी होती है, कही हिंसक और कही दयालु होती है, कही कृपण और कही उदार होती है। कही अधिक द्रव्य व्यय करने वाली और कही बहुत सचय करने वाली होती है।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि राजा के द्वारा सम्मान प्राप्त होना भी अमृत-प्राप्ति के समान है जो कि बडी कठिनाई से प्राप्त होता है।

अब आता है चौथे प्रकार का अमृत। वह है प्रिय-दर्शन यानी लम्बे समय के वियोग के पश्चात् पिता, पुत्र, भाई अथवा पत्नी, किसी का भी मिलन होना।

आत्मीयो के वियोग मे घटे महीनो के और दिन वर्षों के समान व्यतीत होते है। कबीर ने कहा है—

हिरदे भीतर दव बरें, धुआ न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, की जिन लागी होय॥

परदेश मे या देश मे भी दूर रहने वाले आत्मीयो के लिये मन जितना दुखी होता है, उस दुख का अनुभव वही कर सकता है, जिसने वियोग का अनुभव किया है या जो कर रहा है। और ऐसे वियोग के पश्चात् प्रियजनो का मिलन अत्यन्त सुखद और अमृत के समान ही अमूल्य महसूस होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि इस ससार मे अमृत चार प्रकार के माने गए हैं और उनमे से एक दुग्ध होता है जो कि गाय के द्वारा प्राप्त किया जाता है।

इसीलिये गाय कह रही है—"मुझे निर्गुण मत कहो! क्योकि मुझमे अनेक गुण है, जिनमे प्रथम यह गुण है कि मैं घास-फूस खाकर भी दूध रूपी अमृत प्रदान करती हूँ, जिससे दही, मक्खन और घी प्राप्त होता है तथा इन

सब चीजो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के पौष्टिक पदार्थ बनते है, जो शरीर को स्वस्थ और सबल बनाते हैं।

दूसरा गुण गाय अपना यह बताती है कि 'मैं गोबर प्रदान करती हूँ जिसके द्वारा घर के फर्श तथा रसोई आदि को लीपकर शुद्ध व साफ किया जाता है तथा उसे सुखाकर उपले बनाते है जो भोजन बनाने के लिये जलाये जाते हैं। गोमूत्र भी अनेक दवाइयो मे काम आता है तथा गदे स्थानो पर उसे छिडककर स्थान की शुद्धि भी की जाती है। किन्तु क्या निर्गुण मनुष्य का मल मूत्र इस प्रकार किसी कार्य मे व्यवहृत हो सकता है ? नही, फिर भाई, कैसे निर्गुणी के लिये मेरी उपमा देते हो ?"

आगे भी वह कहती है—"अभी तक तो मैंने अपनी विशेषताएँ बताई हैं, अब मेरे पुत्र की बात भी सुनो। मेरा पुत्र बैल खेतो मे हल चलाता है, जिसकी मेहनत से लोगो को पेट भरने के लिये अन्न मिलता है। वह कुए पर रहट खीचता है जिससे शाक-भाजी और फूल-फुलवारी सीचे जाते हैं। मेरा पुत्र बैलगाडी के द्वारा नित्य मनो बोझ इधर से उधर ले जाता है। अगर बैल न हो तो मनुष्य के अनेक कार्य सम्पन्न होने कठिन हो जाँय। कांग्रेस भी बैल का ही चित्र अपने चुनाव चिह्न मे लेती है, क्योकि बैलो को धोरी कहा जाता है यानी कि सम्पूर्ण बोझ को उठाने वाला। क्या मेरे पुत्र बैल की बराबरी मनुष्य कर सकता है ? नही, तो फिर निर्गुणी की उपमा भी उससे नही दी जा सकती।"

वस्तुत गाय को उपयोग की दृष्टि से बडा लाभदायक और धार्मिक दृष्टि से पूज्य माना जाता है। महाभारत मे वेद व्यास जी ने कहा है—

गोभिस्तुल्य न पश्यामि धन किञ्चिदिहाच्युत !
कीर्तन श्रवण दान दर्शन चापि पार्थिव।
गवा प्रशस्यते वीर सर्व-पाप-हर शिवम् ॥

अर्थात्—मैं इस ससार मे गायो के समान दूसरा कोई धन नही समझता। गायो के नाम और गुणो का कीर्तन-श्रवण, गायो का दान तथा उनका दर्शन-इनकी बडी प्रशसा की गयी है। यह समस्त कार्य सम्पूर्ण पापो को दूर करके परम कल्याण को प्रदान करने वाले हैं।

तो बधुओ, निर्गुणी पुरुष को गाय की उपमा देना भी निरर्थक और गलत हो गया। पर आखिर उसे किसी न किसी के समान तो बताना ही है अत कवि लोगो ने फिर किसी को उसकी उपमा देने के लिये खोज करना

आरम्भ किया। और इस बार जिसे हम सबसे निकृष्ट प्राणी कहते है तथा दिन भर मे सैकड़ो बार दरवाजे पर से दुत्कार कर भगाते हैं उस श्वान यानी कुत्ते को ही निर्गुणी की तुलना मे लाकर खडा कर दिया। और भर्तृहरिजी के श्लोक मे पुन परिवर्तन किया।

येषा न विद्या न तपो न दानम्
ज्ञानम् न शील न गुणो न धर्म ।
ते मृत्युलोके भुविभारभूता,
मनुष्य रूपेण श्वानो भवन्ति ॥

क्या निर्गुणी श्वान से भी गया-बीता है ?

बधुओ ! आप देख ही रहे हैं कि कवि लोग गुणहीन व्यक्ति की उपमा देने के लिये कितने परेशान हो रहे हैं ? पहले वे हरिण को इस कार्य के लिये लाये। किन्तु जब सही तर्क देते हुए उसने इससे स्पष्ट इन्कार कर दिया तो फिर उन्होने गाय को चुना। पर गाय ने भी अपने अनेक गुण बताते हुए अपनी उपमा निर्गुणी व्यक्ति के लिए देने से मना किया तो वे खोज-खाजकर कुत्ते को लाए है। यह सोचकर कि कुत्ता तो ससार मे सबसे निकृष्ट प्राणी माना जाता है और इसीलिये किसी को अत्यन्त तुच्छ साबित करने के लिये कुत्ता कहकर गाली देते है। तो अब वे सोच रहे हैं कि निर्गुणी व्यक्ति कम से कम कुत्ते से गया—बीता तो नही होगा। तभी कहा है—

मनुष्य रूपेण श्वानो भवन्ति।'

यानी निर्गुणी मनुष्यो के रूप मे श्वान के सदृश होते है।

पर कवि के ऐसा कह देने से क्या होता ? कुत्ता गाय नही था जो अपने आप को निर्गुण कहने पर शाति से उत्तर देता। वह तो यह बात सुनते ही भड़क उठा—

श्वान तो कहत भक्त, स्वामी को हू निशदिन,
निंदरा अलप मोहे, अधिक हुशारी है।
चार ही अगुल टुक, रोटी खाय काढू दिन,
संतोष करू मैं मन, चोर करू जारी है।
उद्यमी मैं निशदिन, आलस न मुझ अग,
पोच देखी काम करू, अधिक लाचारी है।
और भी अनेक गुण मोय मे नगाभिपत्,
निगुणी की उपमा न लागत हमारो है।

तो पूज्यपाद कविकुलभूषण श्री तिलोक ऋषि जी म० की लेखनी के द्वारा श्वान बोला—"मेरे लिए हरगिज निर्गुणी की उपमा नही दी जा सकती। क्योकि मैं अपने स्वामी का अनन्य भक्त बनकर रहता हू। एक बार जो मुझे अपना लेता है, प्राण देकर भी उसकी रक्षा रात-दिन करता हू। अपने मालिक के प्रति मेरी भक्ति भगवान के भक्त से कदापि कम नही है।"

"मैं जानता हू ससार मे भगवान के अनेकानेक भक्त हुए हैं। मीराबाई ने भक्ति के बल पर जहर का प्याला हसते-हसते पी लिया था, सेठ सुदर्शन भक्ति के बल पर ही हत्यारे अर्जुनमाली के समक्ष बेधडक चले गये और सूली पर ही निर्भय होकर चढ गये थे। हनुमान जी मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त और सेवक थे तथा इसी कारण आज हमे रामचन्द्रजी के मदिरो की अपेक्षा हनुमान जी के मदिर अधिक दिखाइ देते हैं। इसका कारण यही है कि वे वफादार सेवक थे। और सेवक निम्न श्रेणी का होने पर अधिक महत्त्व रखता है।

मनुष्य के चरण शरीर मे सबसे नीचे होते है किंतु सपूर्ण शरीर का बोझ वे ही उठाते है तथा पत्थर काटे या अन्य नुकसान पहुचाने वाले पदार्थों से भरे हुए मार्ग पर वे ही सम्पूर्ण शरीर को सुरक्षित ले जाते हैं। कहने का अर्थ यह है कि चरण पूरे शरीर की दिलोजान से सेवा करते हैं अत लोग प्रणाम करते समय अपना मस्तक अपने से बडे व्यक्तियो के चरणो पर झुकाते हैं। यद्यपि शरीर मे मस्तक सबसे ऊपर होता है। किन्तु वह गर्व से तना रहता है अत कोई भी मस्तक को प्रणाम नही करता। वह क्यो ? इसीलिए कि शरीर की सेवा चरण करते है। अनेक कष्ट सहकर भी वे अपने कार्य मे कभी पीछे नही हटते। तुलसीदास जी का कथन भी है—

'सब तें सेवक-धर्म कठोरा।'

तो श्वान कह रहा है कि मैं तो दिन-रात अपने स्वामी की सेवा करता हू क्या इससे बडा और उत्तम गुण ससार मे और भी होता है ? फिर मुझे निर्गुणी की उपमा क्यो ?

आगे भी वह कह रहा है—मैं अपने मालिक की रक्षा के लिए इतना तत्पर रहता हू कि निद्रा भी अत्यल्प लेता हू और वह भी ऐसी कि रचमात्र आहट पाते ही जागरूक होकर चोर-डाकू या अन्य किसी भी अजनबी को पुन घर से निकाले बिना नही छोडता चाहे मेरी कोई जान ही क्यो न ले ले।

दूसरे, आप लोग तो अपनी पेट पूर्ति के लिये नाना प्रकार के स्वादिष्ट

भोजन बनाते हैं तथा हजारो रुपये घी, दूध, मिठाई आदि मे खर्च करते हैं पर मैं रूखी-सूखी कौर-दो कौर की रोटी खाकर भी अपने कार्य मे तत्पर रहता हूँ तथा वासी या जूठा जो भी मिल जाता है उसी मे परम सतोप का अनुभव करता हूँ। जैसा कि कबीर ने कहा है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा वेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सोई साहसाह ॥

तो मैं ऐसा ही शाहशाह हूँ जो अन्य किसी भी मासारिक झझट मे नही पडता और जो मिले वही खाकर अपने स्वामी की सुरक्षा मे रत रहता हूँ। इसके अलावा मुझमे और भी एक वडा भारी गुण है। वह यही कि मैं आलस्य तनिक भी नही करता। पलक झपकने मे तो फिर भी देर लगती है, किन्तु मुझे अपनी ड्यूटी पर तत्पर होते देर नही लगती। इसके अलावा उदर पूर्ति के लिये मे चन्द समय मे ही एक घर से दूसरे, तीसरे-या चौथे, चाहे जितने घर घूम आता हूँ। मुझ मे उद्यम की तनिक भी कमी नही है। निर्गुणी पुरुप तो आलसी होता है पर मैं सदा चुस्त रहता हूँ पर इतना जरूर है कि मैं समय सूचक भी हूँ। अवसर देखकर और अपनी पहुँच देखते हुए ही काम करता हूँ। अगर मुझ से ताकतवर कोई मेरे सामने आ जाये तो मैं झुक भी जाता हूँ। इस प्रकार मुझ मे नम्रता भी है।"

वस्तुत नम्रता एक वडा विशिष्ट गुण है। एक घटना हमारी आँखो देखी है। दो श्रावक थे अपने ही। उनमे से एक अमीर और दूसरा गरीव था। आवश्यकता के कारण निर्धन श्रावक ने दूसरे से कुछ रुपया उधार लिया था।

किन्तु किसी समय तकाजा करते हुए अमीर श्रावक ने अपने वडप्पन के गर्व मे आकर कर्जदार को कुछ कटु शब्द कह दिये और सुनने वाले ने कह दिया—"ठीक है मैं अव तुम्हे पैसा दूँगा ही नही, अपने घर पर 'तुलसी पत्र' रख दूँगा। उसने यही किया भी।

मैंने उसे अवसर पाकर समझाया भी कि 'भाई! जिसका लिया है, उसका वापिस लौटाना भी चाहिये।' किन्तु वह नहीं माना। कहने लगा—'उसने मुझे ऐसे शब्द कहे ही क्यो? मैंने तो अपने घर 'तुलसी पत्र' रख ही दिया है।' परिणाम यह हुआ कि देखते ही देखते वह कर्जदार निर्धन तो था ही, पूरी तरह वरवाद भी हो गया।

यह सव नम्रता के न होने का परिणाम था और गुणहीनता की निशानी थी। तो श्वान कह रहा है—'मुझ मे नम्रता का भी वडा भारी गुण है।

इसीलिये जैसा समय देखता हूँ वैसा कर लेता हूँ। अत गुण-हीन के लिये मेरी उपमा मैं कदापि नही देने दूँगा।'

तो बधुओ, अब क्या किया जाय ? एक कुत्ता भी तो अपने आपको गुण-हीन कहलवाना पसद नही करता। फिर क्या मनुष्य को गुणहीन रहकर कुत्ते से भी बदतर कहलवाना चाहिये ? नही, उसे अपने दुर्लभ मानवजीवन का पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिये।

अभी हमने कवियो की बातें सुनी। यद्यपि हरिण, गाय और श्वान बोलते नही है, किन्तु इन रूपको के द्वारा उनमे रहे हुए गुण कवि ने अपनी भाषा मे दिये है और यह इसलिये कि मनुष्य अपने आपको गुणवान् बनाए। अपनी काव्य-कला के द्वारा कवि ने अभी बताए हुए तीनो पशुओ के माध्यम से मानव को सीख देकर अपना कर्तव्य पूरा किया है। क्योकि कहा भी जाता है—

केवल मनोरजन न कवि का कर्म होना चाहिये।
उसमे उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिये॥

जिस प्रकार माता-पिता अपने बालक को खेल के माध्यम से भी अनेक अच्छी बातें सिखा देते है, इसी प्रकार कवि भी अपनी कला की सुन्दरता मे अज्ञानी पुरुषो का मनोरजन करते हुए भी उन्हे अपनी आत्मा को ऊँचा उठाने वाली शिक्षा प्रदान करते हैं।

यही हमारे आज के विषय के माध्यम से बताया गया है कि अनन्त काल मे मनुष्य नाना योनियो मे भ्रमण करता रहा है और असख्य पुण्यो के परिणामस्वरूप जबकि उसे यह दुर्लभ मानव पर्याय मिली है तो वह पशु के समान खाने और सोने मे ही उसे व्यतीत न करके ज्ञान सहित तप, दान और शील रूप धर्म का आचरण करते हुए सार्थक बनाए।

तप का महत्त्व

हमारे उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—

तवेण भते ! जीवे कि जणयई ?
तवेण वोदाण जणयई।

प्रश्न है---'हे भगवान ! तप करने से क्या लाभ होता है ?' उत्तर है, तप करने से ही आत्मा बधे हुए कर्मो का क्षय करता है।

हमारी आत्मा एक शुद्ध और प्रकाशमय तत्त्व है किन्तु उस पर अनादि-काल से कर्मो की मलिनता चढी हुई है। उस मैल को तप के द्वारा ही भस्म किया जा सकता है।

कुछ व्यक्तियो का कथन है कि तप करना निरी मूर्खता है। क्योकि पाप तो आत्मा करती है और तप करने वाले शरीर को दुख देते है ? शरीर को भूखा-प्यासा रखने से आत्मा को क्या लाभ होता है ? लाभ तो तव हो सकता है जवकि केवल आत्मा को ही तपाया जाय।

ऐसा विचार करने वाले अज्ञानी कहलाते हैं। वे भूल जाते हैं कि जिस प्रकार मक्खन मे से छाछ अलग करके घी निकालने के लिये उसे वर्तन मे डालकर अग्नि पर चढाना पडता है, उसी प्रकार आत्मा मे से कर्मों को अलग करके उसकी शुद्धता प्राप्त करने के लिये भी आत्मा के आश्रयभूत शरीर को तपाना पडता है।

जो व्यक्ति आयबिल, उपवास, नवकारसी, पोरसी आदि तप करते हैं उनका शरीर भले ही कृश हो, किन्तु आत्मा अत्यन्त दृढ, निर्मल और सशक्त वनती है। और शरीर के कृश होने पर भी नुकसान कुछ नही होता क्योकि इस शरीर को तो वैसे भी एक दिन नष्ट होना ही है। इसलिये क्यो न तप करके आत्मा को लाभ पहुँचाया जाय ? कहा भी है—

अध्रुवे हि शरीरे यो, न करोति तपोऽर्जनम्।
सपश्चात्तप्यते मूढो, मृतो गत्वात्मनो गतिम् ॥

यह शरीर तो क्षण भगुर है, इसमे रहते हुए जो जीव तप उपार्जन नही करता, वह मूर्ख मरने के पश्चात् जव उसे अपने कुकर्मों का फल मिलता है। तव वहुत पश्चात्ताप करता है।

इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु को आतरिक एव वाह्य तप के द्वारा अपने कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिये।

दान की महिमा

भर्तृहरि के श्लोक मे कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने जीवन मे दान के महान् गुण को नही अपनाता वह भी पशु के समान ही अपना जीवन निरर्थक विताता है।

दान के विपय मे सत तुकाराम जी कहते हैं—

ने दा तरी हे हो, न का देऊ अन्न,
फुकाचे जीवन, तरी पाजा।
नका घालु दूध, तुपामध्ये सार,
ताकाचे उपकार, तरी करा ॥

अर्थात्—तुम्हारे पास अगर अन्नदान करने की शक्ति नही है, तुम किसी

को अन्न नही खिला सकते तो कम मे कम उसे प्रेमपूर्वक ठडा पानी तो पिलाओ जिसके लिये पैसे भी नही देने पडते ।

और अगर तुम किसी को दूध नही दे सकते क्योकि उसमे सार है, मलाई के रूप मे, तो कम से कम मक्खन निकाली हुई छाछ तो उसे प्रदान करो ।

मदसौर मे एक श्रावक गौतम जी वाघ्या रहते थे । उनके घर की स्थिति अच्छी थी यानी वे धन मे सम्पन्न थे । पर पैसे के साथ ही उनमे उदारता भी बहुत थी । कभी उनके घर कोई तपस्वी बहन छाछ मागने आती और वे जान लेते कि यह तपस्विनी है तो कहते - "बहन, आज छाछ नही बची दूध ही ले जाओ ।" कभी कहते तुम्हारा बर्तन छोटा है, बडा ले आओ और छाछ देते तो चुपके से उसमे मक्खन की टिकिया भी डाल देते । ऊपर से जरूरत के अनुसार रुपये भी दिया करते थे ।

ऐसे उदार और गुणवान व्यक्ति अगर समाज मे अधिक सख्या मे हो तो हमारा समाज अति श्रेष्ठ और उन्नत बन सकता है । समाज का कोई सदस्य भूखा व वस्त्रहीन नही रह सकता ।

• सर्वश्रेष्ठ गुणशील

इस ससार मे मानव के आचरण को दूषित करने वाले नाना प्रकार के प्रलोभन होते है । धन को प्राप्त करने के लिये वह अनेक पाप करता है, पुत्र-पौत्र, पत्नी तथा अन्य परिजनो के मोह वशात् वह भाति-भाति की विडम्बनाएँ सहता है तथा प्रसिद्धि और कीर्ति प्राप्त करने के लिये भी आकाश और जमीन के कुलावे मिलाता रहता है । अभिप्राय यह है कि इन प्रलोभनो के वश मे होकर वह अनेक कुकर्म करने मे नही चूकता ।

किन्तु इन समस्त प्रलोभनो से भी बडा जो प्रलोभन है, वह है काम-विकार । यह विकार मनुष्य के जीवन को पतन की ओर ले जाता है तथा वरदान बनने के बदले घोर अभिशाप बन जाता है ।

सिक्खो के धर्मग्रन्थ मे कहा गया है

या ते काम मूल मन जान,
ऊपर विकार कोड फल जान ।
जब ही मूल को देहि उखेर,
साखा पत्र न फलिहे फेर ॥

अर्थात् यह काम विकार एक विकार-वृक्ष की जड के समान है । अन्य विकार इसी की शाखाएँ और पत्ते है । यदि इस मूल को उखाड दिया जाय

तो शाखाएँ और पत्ते स्वय ही सूख जाते हैं। पुन नही फलते। यानि काम के नाश हो जाने पर अन्य विकार स्वत नष्ट हो जाते हैं।

वास्तव मे, शील जीवन का अमूल्य धन है और इसके तेज से जीवन मे ऐसा विलक्षण सौन्दर्य और अनेकानेक सद्‌गुणो की सौरभ भर जाती है कि वह देवताओ के लिये भी ईर्ष्या का कारण वन जाता है। इस महान व्रत की महत्ता शब्दो से नही वताई जा सकती। भगवान ने स्वय सूयगडाग सूत्र मे फरमाया है—

"तवेसु वा उत्तम वभचेर ॥"

ब्रह्मचर्य सभी तपस्याओ मे उत्तम तपस्या है।

महिमामय ज्ञान

ज्ञान से हमारा तात्पर्य यहाँ लौकिक ज्ञान से नही है, जिसमे हिन्दी, गणित, व्याकरण, खगोल और भूगोल आदि नाना विषयो को पढाया जाता है। इन सव का ज्ञान यद्यपि अनावश्यक नही है क्योकि लौकिक सफलता के लिए ये सहायक हैं। किन्तु आत्मा के उद्धार का जहाँ प्रश्न आता है, वहाँ ये सव किसी काम नही आते।

इसलिये लौकिक ज्ञान के साथ ही मनुष्य को लोकोत्तर ज्ञान हासिल करना चाहिये। इसके द्वारा वह जीव, अजीवादि तत्वो के विपय मे तथा स्वर्ग, नरक और मोक्ष के विपय मे जान सकता है तथा यह भी जान सकता है कि मोक्ष प्राप्ति के साधन क्या है और उन्हे किस प्रकार आचरण मे उतारा जा सकता है?

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे वताया गया है—

नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
एय मग्गमणुपत्ता, जीवा गच्छन्ति सुग्गई ॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इन चारो की अनुक्रम से आराधना करके जीव मोक्ष रूपी सुगति को प्राप्त कर सकता है।

इस गाथा मे स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम सम्यक्‌ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही जीवादि तत्वो की जानकारी होगी, दुख के कारणो को समझा जा सकेगा और जिन महान गुणो को ग्रहण करना चाहिये उन्हे ग्रहण किया जा सकेगा। और सम्यक्‌ज्ञान तथा सम्यक्‌दर्शन से चारित्र तथा तप जीवन मे उतरेंगे जो मोक्ष को प्रदान करने वाले हैं।

तो वन्धुओ, आज के विपय को आप भली-भाति समझ गये होंगे, जिसका

सार यही है कि मनुष्य ने यह अमूल्य जीवन प्राप्त कर लिया है तो वह सद्‌गुणो का सचय करे जिससे उसकी आत्मा शुद्ध होती हुई उन्नत बने तथा अपने समस्त कर्मों का क्षय करके ससार से मुक्त हो सके ।

किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब कि वह ज्ञान हासिल करे तथा शील का पालन करते हुए दान देवे और यथाशक्य तपश्चरण करे । इन समस्त गुणो का सचय किये बिना तो उसका जीवन पशु की कोटि मे भी नही रहेगा । अभी-अभी आपने सुना ही है कि गुणहीन अर्थात् निर्गुणी व्यक्ति को तो हरिण और गाय क्या, श्वान तक भी अपनी तुलना मे नही रखने देता । तो क्या मनुष्य को ससार की चारो गतियो मे से सर्वश्रेष्ठ योनि प्राप्त कर लेने पर भी पशुओ मे बदतर जीवन बिताना चाहिए ? नही, उसे समस्त श्रेष्ठ गुणो का संचय करके पाँचवी या सर्वोत्कृष्ट गति मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए तभी उसका मानव पर्याय सार्थक हो सकेगा ।

५ घड़ी से, घड़ी दो घड़ी लाभ ले लो!

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो!

आज हमे यह देखना है कि समय कितना मूल्यवान है और उसका सही हिसाव रखते हुए घडी हमे किस प्रकार शिक्षा देती है?

यद्यपि इस ससार मे सूर्य और चन्द्र दोनो ही हमे समय की गति वताते हैं। सूर्य प्रात काल उदित होकर शाम को अस्त होता है तथा एक दिवस का व्यतीत होना वताता है और उसके पश्चात् नभमडल मे चन्द्रमा उसका स्थान लेता है तथा आकाश के एक छोर से दूसरे छोर पर पहुचकर रात्रि के समाप्त होने का सदेश देता है। किन्तु इन दोनो के सकेतो से भी प्रत्येक घटे, प्रत्येक मिनट और प्रत्येक सैकिड का विलकुल सही अनुमान नही लगाया जा सकता। यह कार्य एक मात्र घडी ही करती है। वही समय के प्रति सैकिड, प्रति मिनट और प्रति घटे का पूरा और सही हिसाव देती है। कही भी कोई भूल नही करती।

घडी कभी एक पल का भी विराम नही लेती और अपनी टिक-टिक की ध्वनि से मनुष्य को प्रति पल समय के व्यतीत होने तथा सजग रहने की चेतावनी भी देती रहती है। इसलिए कवि श्री चदन मुनि ने अपनी लेखनी के द्वारा वताया है—

यह शिक्षा सुनहरी सुनाती घडी है।
समय वीतता है वताती घडी है॥

घडी हमे अमूल्य शिक्षा देती है कि समय एक-एक पल करके वीतता जा रहा है अत इसे व्यर्थ न जाने दो तथा इसका सदुपयोग करो। भले ही आत्मा

अमर है किन्तु यह मानव-शरीर तो अमर नही है, कभी भी यह नष्ट हो सकता है। ससार मे देखा जाता है कि कोई व्यक्ति हास-परिहास मे निमग्न है किन्तु क्षण भर मे ही वह जमीन पर लुढक जाता है और उसकी आत्मा इस देह से कूच कर जाती है। कोई साधारण सी ठोकर लगते ही उस सडक पर पुन चलने के बजाय किसी अदृश्य दिशा की ओर गमन कर जाता है। अगणित मनोरथो को पूरा करने का जोड-तोड करता हुआ व्यक्ति किसी भी पल अपने सकल्पो को सदा के लिए त्याग करने को बाध्य हो जाता है तथा इस बात को सार्थक करता है—

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं।
सामान सौ बरस का पल की खबर नहीं॥

मृत्यु तो मनुष्य को एक पल का भी अवकाश नही देती। अपनी अथाह सम्पत्ति, और अनेकानेक स्वजनो को छोडकर उसे काल के एक सकेत मात्र से अकेले ही अपने कर्मों का भार लादकर चल देना पडता है।

आशय यही है कि मनुष्य को मृत्यु ध्रुव यानी अनिवार्य है। तथा उसके आने का समय भी निश्चित नही है अतएव प्रत्येक विवेकशील प्राणी को अपने जीवन की महत्ता तथा उसकी नश्वरता को समझकर समय से पूर्व ही जाग जाना चाहिए। कवि ने कहा भी है—

जो गफलत की नींद मे सोए है इन्सा।
अलार्म से उनको जगाती घडी है।

प्रमाद मनुष्य का सबसे बडा शत्रु होता है, जो उसकी समस्त इच्छाओ और गुणो पर पानी फेर देता है और जीवित प्राणी को मृतक के समान बनाकर छोडता है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु को गफलत की अथवा प्रमाद की निद्रा का त्याग करके प्रबुद्ध हो जाना चाहिए।

भगवान महावीर स्वामी का आदेश भी यही है—

जो पुव्वरत्ता वररत्तकाले, सपिक्खए अप्पगमप्पएण।
कि मे कड कि च मे किच्चसेस, कि सक्कणिज्ज न समायरामि।
कि मे परो पासइ कि च अप्पा, कि वाह खलिय न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्म अणुपासमाणो, अणागय नो पडिबन्ध कुज्जा॥

— दशवैकालिक, चूलिका २-१२-१३

अर्थात्—साधक को चाहिये कि वह रात्रि के प्रथम एव अतिम प्रहर मे स्वय आत्मा का निरीक्षण करे और विचारे कि मैंने कौन से कर्त्तव्य कार्य किये

हैं, कौन सा कार्य करना अवशेष है और क्या क्या करने योग्य अनुष्ठानो का मैं आचरण नही करता हू। दूसरे लोग मुझ मे क्या दोष देख रहे हैं ? मुझे स्वय अपने आप मे क्या दोष दिखाई देते हैं ? क्या मैं इन दोषो का त्याग करने के लिए प्रयत्न कर रहा हू ?

इस प्रकार के विचार वही व्यक्ति कर सकता है जो गफलत की निद्रा से जाग जाय। प्रमाद आत्मा के लिए घोर निद्रा है और अप्रमाद जागरण। घडी का अलारम ऐसे ही धर्म-जागरण के लिए प्रेरित करता है।

आगे कहा गया है—

समय जा रहा है न आएगा वापिस,
सबक रोज सबको सिखाती घडी है।

बीता हुआ समय पुन कभी लौटकर नही आता। भक्ति तथा प्रार्थना आदि से परमात्मा को तो बुलाया जा सकता है किन्तु कोटि प्रयत्न करने पर भी गये हुए समय को पुन नही लाया जा सकता। इस प्रकार समय को हम परमात्मा से भी शक्तिशाली और महान कह सकते हैं। हमारा बिगडा हुआ जीवन पुन सुधर सकता है, बिसरी हुई विद्या याद आ सकती है, छिना हुआ राज्य भी फिर प्राप्त हो जाता है तथा अनन्त पुण्य कर्मों के फल-स्वरूप पाया हुआ मनुष्य जन्म भी खो जाने पर कदाचित दुबारा मिल सकता है किन्तु कभी भी दुबारा जो प्राप्त नही हो सकता वह केवल समय ही है अत उसे व्यर्थ न खो कर एक एक क्षण का हमे लाभ लेना चाहिए यही घडी कहती है।

साधारणतया हम देखते हैं कि व्यक्ति क्षणो का कोई महत्त्व नही मानते और एक-एक क्षण करके ही जीवन की अनेकानेक सुनहरी घडियाँ व्यर्थ गवा देते हैं। वे भूल जाते हैं कि लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रत्येक क्षण अपनी बडी भारी कीमत रखता है तथा किसी भी शुभ कार्य के लिए शुभ घडी या शुभ मुहूर्त खोजना व्यर्थ है। जिस समय भी व्यक्ति अपना उद्देश्य बनाए वही क्षण उस कार्य के प्रारम्भ के लिए शुभ है, अन्यथा भगवान महावीर गौतम स्वामी से पुन पुन क्यो कहते—'**समय गोयम ! मा पमायए।**'

यानी हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो। आगे पद्य मे कहा है—

न जाने सफर पेश आ आ जाये किस दम,
सदा कूच नौबत बजाती घडी है।

कवि का कहना है कि घटी की आवाज केवल आवाज ही नही है जो इस

कान से सुन ली और उस कान से निकाल दी। अगर गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह जीवात्मा के परलोक की ओर कूच करने की नौवत है जो एक-एक क्षण के व्यतीत होते ही वज जाती है कि मनुष्य को प्रत्येक क्षण सतर्क और सावधान रहना चाहिए, क्योकि कहा नही जा सकता किस पल मे सफर का पैगाम आ जाये।

अभी मैंने वताया था कि व्यक्ति एक दिन का ही नही वरन् महीनो और वर्षों के प्रोग्राम वनाता है जवकि उसे अपने अगले पल का भी पता नही रहता कि उस पल भी मैं जीवित रहूगा या नही।

परमात्मा हस पडता है

कहते हैं कि ईश्वर दो अवसरो पर हसता है। प्रथम तो तव, जवकि वैद्य या डॉक्टर रोगी के माता-पिता से कहते है—'फिक्र मत करो, हम तुम्हारे पुत्र को अवश्य ठीक कर देगे।'

उस समय ईश्वर मुस्कराते हुए मन मे कहता है—"मैं इस रोगी के प्राण लेने वाला हू और ये कहते हैं हम इसे वचा लेंगे।"

यह तो ईश्वर के एक वार हसने का कारण हुआ। दूसरी वार वह तव हसता है जव कि लोग आपस मे वडी भयकरता से धन, मकान, जमीन आदि के लिए झगडते हैं। ईश्वर उस समय सोचता है—"सम्पूर्ण विश्व तो मेरा है, लेकिन ये मूर्ख ससार की इन तुच्छ वस्तुओ को ही मेरी-मेरी कह रहे हैं, ऐसा अन्य ग्रथो मे देखने को आया है।

अभिप्राय यही है कि मनुष्य चाहे ससार की समस्त सपत्ति को अपने अधिकार मे कर ले और उसके वल पर चाहे जितने मसूवे क्यो न वाधे पर जिस दिन मौत का नगारा वजेगा उसे सव छोड-छाड कर उसी दिन कूच कर जाना पडेगा। घडी यही हमे वताती है।

कविता मे आगे दिया गया है—

ये दुनिया सरा है और तू है मुसाफिर।
चला चल, चला चल ये गाती घडी है॥

अर्थात्—ये दुनिया एक सराय है और प्राणी मुसाफिर। सव जीवात्माएँ यहाँ अपने अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियो मे जन्म लेती हैं और कुछ काल पश्चात् अपना-अपना समय पूरा करके चल देती हैं।

प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने अपनी 'भावना' नामक पुस्तक में भी लिखा है—

है, कौन सा कार्य करना अवशेष है और क्या क्या करने योग्य अनुष्ठानो का मैं आचरण नही करता हू । दूसरे लोग मुझ मे क्या दोष देख रहे हैं ? मुझे स्वय अपने आप मे क्या दोष दिखाई देते हैं ? क्या मैं इन दोषो का त्याग करने के लिए प्रयत्न कर रहा हू ?

इस प्रकार के विचार वही व्यक्ति कर सकता है जो गफलत की निद्रा से जाग जाय । प्रमाद आत्मा के लिए घोर निद्रा है और अप्रमाद जागरण । घडी का अलारम ऐसे ही धर्म-जागरण के लिए प्रेरित करता है ।

आगे कहा गया है—

समय जा रहा है न आएगा वापिस,
सबक रोज सबको सिखाती घडी है ।

बीता हुआ समय पुन कभी लौटकर नही आता । भक्ति तथा प्रार्थना आदि से परमात्मा को तो बुलाया जा सकता है किन्तु कोटि प्रयत्न करने पर भी गये हुए समय को पुन नही लाया जा सकता । इस प्रकार समय को हम परमात्मा से भी शक्तिशाली और महान कह सकते है । हमारा बिगडा हुआ जीवन पुन सुधर सकता है, बिसरी हुई विद्या याद आ सकती है, छिना हुआ राज्य भी फिर प्राप्त हो जाता है तथा अनन्त पुण्य कर्मों के फल-स्वरूप पाया हुआ मनुष्य जन्म भी खो जाने पर कदाचित दुबारा मिल सकता है किन्तु कभी भी दुबारा जो प्राप्त नही हो सकता वह केवल समय ही है अत उसे व्यर्थ न खो कर एक एक क्षण का हमे लाभ लेना चाहिए यही घडी कहती है ।

साधारणतया हम देखते हैं कि व्यक्ति क्षणो का कोई महत्त्व नही मानते और एक-एक क्षण करके ही जीवन की अनेकानेक सुनहरी घडियाँ व्यर्थ गवा देते है । वे भूल जाते हैं कि लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रत्येक क्षण अपनी बडी भारी कीमत रखता है तथा किसी भी शुभ कार्य के लिए शुभ घडी या शुभ मुहूर्त खोजना व्यर्थ है । जिस समय भी व्यक्ति अपना उद्देश्य बनाए वही क्षण उस कार्य के प्रारम्भ के लिए शुभ है । अन्यथा भगवान महावीर गौतम स्वामी से पुन पुन क्यो कहते—'**समय गोयम ! मा पमायए ।**'

यानी हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो । आगे पद्य मे कहा है—

न जाने सफर पेश आ आ जाये किस दम,
सदा कूच नौबत बजाती घडी है ।

कवि का कहना है कि घडी की आवाज केवल आवाज ही नही है जो इस

कान से सुन ली और उस कान से निकाल दी। अगर गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह जीवात्मा के परलोक की ओर कूच करने की नौवत है जो एक-एक क्षण के व्यतीत होते ही वज जाती है कि मनुष्य को प्रत्येक क्षण सतर्क और सावधान रहना चाहिए, क्योकि कहा नही जा सकता किस पल मे सफर का पैगाम आ जाये।

अभी मैंने वताया था कि व्यक्ति एक दिन का ही नही वरन् महीनो और वर्षों के प्रोग्राम बनाता है जवकि उसे अपने अगले पल का भी पता नही रहता कि उस पल भी मैं जीवित रहूगा या नही।

परमात्मा हस पडता है

कहते है कि ईश्वर दो अवसरो पर हसता है। प्रथम तो तव, जवकि वैद्य या डॉक्टर रोगी के माता-पिता से कहते हैं—'फिक्र मत करो, हम तुम्हारे पुत्र को अवश्य ठीक कर देगे।'

उस समय ईश्वर मुस्कराते हुए मन मे कहता है—"मैं इस रोगी के प्राण लेने वाला हू और ये कहते है हम इसे वचा लेंगे।"

यह तो ईश्वर के एक वार हसने का कारण हुआ। दूसरी वार वह तव हसता है जव कि लोग आपस मे वडी भयकरता से धन, मकान, जमीन आदि के लिए झगडते हैं। ईश्वर उस समय सोचता है—"सम्पूर्ण विश्व तो मेरा है, लेकिन ये मूर्ख ससार की इन तुच्छ वस्तुओ को ही मेरी-मेरी कह रहे हैं, ऐसा अन्य ग्रथो मे देखने को आया है।

अभिप्राय यही है कि मनुष्य चाहे ससार की समस्त सपत्ति को अपने अधिकार मे कर ले और उसके वल पर चाहे जितने मनूवे क्यो न वाधे पर जिस दिन मौत का नगारा वजेगा उसे सव छोड-छाड कर उसी दिन कूच कर जाना पडेगा। घडी यही हमे वताती है।

कविता मे आगे दिया गया है—

ये दुनिया सरा है और तू है मुसाफिर।
चला चल, चला चल ये गाती घडी है॥

अर्थात्—ये दुनिया एक सराय है और प्राणी मुसाफिर। सव जीवात्माएँ यहाँ अपने अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियो मे जन्म लेती है और कुछ काल पश्चात् अपना-अपना समय पूरा करके चल देती है।

प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने अपनी 'भावना नामक पुस्तक मे भी लिखा है—

है ससार सराय जहाँ हैं पथिक आय जुट जाते।
लेकर टुक विश्राम राह मे अपनी-अपनी जाते ॥
जो आये थे गये सभी जो आये हैं जायेंगे।
अपने अपनेकर्मो का फल सभी आप पाएँगे ॥

जिस प्रकार स्वप्न देखने वाला पुरुप स्वप्न काल मे राजा वन जाता है और अपने अपार वैभव को देखकर फूला नही समाता किन्तु नीद खुलते ही अपनी टूटी झोपडी और फटी गुदडी देखकर अपनी सही स्थिति का ज्ञान करता है इसी प्रकार ससारी जीव धन-वैभव पाकर स्वप्न काल के राजा की भाँति अपने आपको अनन्य सुखी मानता है किन्तु जव काल का वुलावा आ जाता है तो समस्त धन-वैभव और स्वजन-परिजन उसके सामने से विलीन हो जाते है तथा उसका निजी धर्म केवल 'कर्म' ही उसके सामने वचते हैं।

इसीलिये घडी कहती है—'तू इस ससार रूपी सराय मे केवल एक मुसाफिर है यहाँ रहना तेरा अन्तिम लक्ष्य नही है। कितना भी भौतिक सुख तुझे क्यो न प्राप्त हो जाय एक दिन तो तुझे सव छोडकर जाना ही होगा। अत क्यो न पहले ही उत्तम करनी करके तू अपने भविष्य को सवार ले।'

प्याऊ पर कव तक रुकोगे ?

हम कल्पना कर सकते है कि एक मुसाफिर एक शहर से दूसरे शहर की ओर रवाना होता है। किन्तु मार्ग मे निर्जन और गहन वन आता है, जिसमें वह मार्ग भूल जाता है। भटकते-भटकते सूर्यास्त होने को होता है और वह घवराया हुआ मुसाफिर थोडी दूर पर किसी झोपडी मे जलते हुए चिराग की मद रोशनी देखकर उस ओर वढ जाता है।

जिस स्थान पर वह राहगीर पहुँचता है वहाँ एक प्याऊ होती है, जिसमे से एक वृद्ध व्यक्ति मुसाफिर को आते हुए देखकर उठता है तथा अत्यत प्रसन्न होकर उसे ठडा पानी पिलाता है, रूखा-सूखा कुछ खाने को देता है तथा रात्रि को सोने के लिये भी इतजाम कर देता है।

मुसाफिर तीव्र धूप और गर्मी मे सारे दिन मार्ग खोजता हुआ भटका था अत भूख-प्यास के मारे उसका हाल वेहाल हो रहा था। दूसरे रात्रि के करीव आ जाने से उसे वन के भयानक जन्तुओ का भय भी वुरी तरह से सता रहा था।

ऐसी स्थिति मे वडी भूख और प्यास मिटाने के लिये जल व भोजन का मिलना तथा मृत्यु से वचने के लिये सुरक्षित स्थान का मिल जाना कितनी वडी वात है ? मुसाफिर को ऐसा महसूस हुआ मानो मरते हुए को सजीवनी

प्राप्त हो गई हो। वह आनन्दपूर्वक उदरतृप्ति करके निर्भयतापूर्वक सो गया।

किन्तु वन्धुओ, क्या वह मुसाफिर सदा के लिये वही डेरा डाल लेगा? नही, उसके मन मे प्रतिपल यह भावना रहेगी कि मुझे प्रातःकाल होते ही अपने नगर मे अपने घर पहुँचना है। यह प्याऊ मेरे लिये अस्थायी स्थान है। मैं चाहने पर भी सदा यहाँ नही रह सकता और इन्ही विचारो के अनुसार वह प्रातःकाल उठते ही वहाँ से अपने नगर की ओर चल देता है। वहाँ ठहरे रहने की उसकी स्वतः ही इच्छा नही होती, उलटे उसे लगता है कि कब मैं यह अस्थायी स्थान छोड़ूँ।

ठीक इसी प्रकार यह ससार एक गहन वन है तथा जीवात्मा एक मुसाफिर। सही मार्ग भूल जाने के कारण वह अनन्तकाल तक नाना योनियो मे भटकता रहा है और वडी कठिनाई से इसे मानव-जन्म रूपी प्याऊ मिली है जहाँ यह कुछ समय चैन से रह रहा है। किन्तु क्या यह स्थान ही इसका अन्तिम लक्ष्य है? क्या यहाँ पर यह सदा के लिये रह सकेगा? नही, यह मानव जन्म रूपी स्थान इसका गतव्य नही है। आत्मा का निर्दिष्ट और सही घर मोक्ष मे है और आत्मा वहाँ पहुँचने के लिये ही छटपटाती है।

इसलिये प्राणी को प्रत्येक पल यहाँ से चल देने के लिये तैयार रहना चाहिये। यहाँ के वैभव-विलास प्याऊ पर मिलने वाले शीतल जल के समान हैं जिनसे भले ही थोडी देर के लिये सुख की प्राप्ति हो जाय पर उसे आखिर छोडना तो पडता ही है। ठीक इसी प्रकार सासारिक सुख भी अस्थायी हैं और एक दिन छूट जाने वाले हैं अतः उनमे ममत्व रखना मूर्खता है।

विवेकवान पुरुष यही विचार करता हुआ ससार की किसी भी वस्तु पर आसक्ति नही रखता, किसी सवधी मे मोह नही रखता तथा अपनी आत्मा को उन्नति की ओर अग्रसर करता चला जाता है। जैसी कि घडी भी सदा वढते रहने की ही प्रेरणा देती है। वह भी यही कहती है—'रुको मत, आत्मोन्नति के मार्ग पर वढे चलो।'

अव देखिये आगे क्या कहा गया है?—

घडी से घडी दो घडी लाभ ले लो,
सत्सग मे तुम को वुलाती घडी है।

कितनी सुन्दर वात है? कहा है—'अरे भोले मानव! दिन और रात के चौवीसो घन्टे अर्थात् आठो प्रहर तुम सासारिक भोगोपभोगो मे व्यतीत करने

हो। क्या ये सब तुम्हारी आत्मा का कुछ भला कर सकेंगे ? कुछ भी तो नही, उलटे उसे पतन की ओर ले जाएँगे तथा कर्मों के भार को बढाएँगे।

अत अच्छा हो कि इस घडी के द्वारा ही सामायिक, प्रतिक्रमण आदि कुछ धर्म-क्रियाएँ करके घटे दो घटे परमार्थ का ही साधन करो। अधिक नहीं तो घडी दो घडी तो इसके लिये निकालो ही।

बधुओ, आप जानते ही होगे कि मानव को दो प्रकार की व्याधियाँ पीडित करती है। एक होती है शारीरिक व्याधि और दूसरी मानसिक। इन दोनो ही व्याधियो का उपचार करना आवश्यक होता है।

शारीरिक व्याधियो को दूर करने के लिये तो आज कदम-कदम पर अस्पताल बने हुए हैं, जिनमे असख्य डॉक्टर और वैद्य मरीजो की बीमारियो को मिटाने का प्रयत्न करते रहते है। देश मे प्रतिदिन नवीन औषधियो का आविष्कार एव निर्माण होता है, जिनके द्वारा गभीर और साघातिक रोग भी निर्मूल होते हुए देखे जाते हैं।

मानव की दूसरी व्याधियाँ होती हैं मानसिक। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग द्वेषादि विकार इस श्रेणी मे आते है। पर इनका इलाज दवा की गोलियो और इजेक्शनो से नही होता। इन्हे मिटाने के लिये सत-समागम या सत्सग करना अनिवार्य होता है। सत-पुरुष ही धीरे-धीरे मनुष्य के इन रोगो को दूर कर सकते है।

यद्यपि मानव के मन मे अच्छे और बुरे दोनो ही तरह के सस्कार होते हैं पर उसे जिस प्रकार की सगति मिल जाती है, उसी प्रकार के विचार उभर आते है। जैसे चार, डाकू जुआरी तथा व्यभिचारी लोगो की सगति होने पर हृदय के अच्छे सस्कार नहीं पनपते और बुरे पनप जाते हैं, उसी प्रकार सत महात्माओ की सगति प्राप्त होने पर कुविचार दबे रहते है तथा सुविचार उदित होकर आचरण मे उतरते हुए जीवन को उन्नत बनाते है।

सस्कृत के एक श्लोक मे बताया गया है—

> निधान सवरत्नाना हेतु कल्याण-सपदाम।
> सर्वस्या उन्नतेर्मूल महता सग उच्यते॥

अर्थात्—महान् पुरुषो का सत्सग समस्त उत्कृष्ट अमूल्य पदार्थो का आश्रय, कल्याण सपत्तियो का हेतु और सभी प्रकार की उन्नति का मूल कहा जाता है।

किन्तु इसके विपरीत अगर मनुष्य को बुरे व्यक्तियो की सगति प्राप्त हो जाय तो उसके सुगुण भी दुर्गुण बन जाते है तथा वह पतन की ओर अग्रसर

होता हुआ भयानक कर्मों का बध करके जन्म-जन्म तक उन्हे भोगने के लिये बाध्य हो जाता है। इसलिये मनुष्य को नीच पुरुषो की सगति से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिये पर जो ऐसा नही करते और कुसगति के कारण अपने जीवन मे कुविचारो का विष घोलते हैं उनके लिये कवि वृद कहते है—

आप अकारज आपनो, करत कुसगति साथ।
पाय कुल्हाडा देत है मूरख अपने हाथ॥

वास्तव मे यह कथन सत्य है कि मनुष्य बुरे व्यक्तियो की सगति अपनाकर अपने पैरो मे स्वय ही कुल्हाडी मारता है, अर्थात् अपना घोर अहित करता है। किन्तु वही व्यक्ति अगर सत-पुरुषो का समागम अल्प समय के लिये भी कर लेता है तो अपने जीवन को शुद्धि की ओर ले जाता है।

डाकू अगुलिमाल ने भगवान बुद्ध के तनिक से सपर्क म ही अपने कुख्यात जीवन को त्यागकर उच्च जीवन जीने का सकल्प कर लिया। छ व्यक्तियो की प्रतिदिन हत्या करने वाला अर्जुनमाली सेठ सुदर्शन के क्षणिक ससर्ग मे ही भगवान महावीर स्वामी के समीप पहुँचकर मुनि बन गया। सत्सग का ऐसा ही अद्भुत् प्रभाव होता है।

इसीलिये घडी कहती है कि दुनियादारी के प्रपचों मे लगे होन पर भी कम से कम घडी दो घटी सत-जनो का समागम किया करो। थोडा सा समय भी चितन-मनन, कीर्तन अथवा धर्मोपदेश सुनने मे बिताया करो ताकि उस सब के प्रभाव से अगर कभी कुसग हो भी गया तो वह निष्फल चला जाएगा यानी सत्सग से मन पर जो सुविचारो का असर होगा, उनके कारण कुविचार अपना स्थान नही बना सकेंगे।

कवि सुन्दरदास जी ने भी दुर्जनो की सगति का घोर विरोध करते हुए कहा है—

सर्प डसे सु नहीं कछु तालक,
बीछु लगे सु भलो करि मानो।
सिह हु खाय तो नाहि कछु डर,
जो गज मारत तो नहि हानी॥
अग्नि जरो जल बूडि मरौ, गिरि,
जाई गिरो, कछु भै मत आनी।
सुन्दर और भले सब ही यह,
दुर्जन-सग भलो नहि जानौ॥

कहा है—'अगर तुम्हे सांप-विच्छू काट खाय तो भी कोई हर्ज मत समझो। आग मे जलने, जल मे डूबने और पहाड से गिरने मे भी कोई हानि मत मानो किन्तु दुर्जनो की सगति को कभी अच्छा मत समझो।'

आप सोचेंगे कि ऐसा क्यो ? सर्प डम जाय, शेर खा जाय या अग्नि मे जलकर मर जाय तो उसे भी भला क्यो मानना, जबकि कुसगति करने पर भी प्राण-हानि तो नही होती। इसका उत्तर पाने के लिय हमे दूर दृष्टि से देखना होगा। वह यही है कि अभी बताई गई समस्त हानियो मे केवल इतना ही होता है कि एक बार मरना पडता है। किन्तु अगर मनुष्य कुसग मे पडकर निविड कर्मों का बधन कर लेता है तो उसे न जाने कितने काल तक, कितनी योनियो मे जन्म लेकर पुन पुन मरना पड जाता है। नरक और निगोदादि के दुख एक बार मरने से अनन्त गुना अधिक भोगने पडते हैं। आपने पढा और सुना भी होगा कि नरक मे शरीर पारे के समान बार-बार बिखरता है और जुडता है। तो क्या उससे अनन्त वेदना नही होती ? होती है। इसीलिये उन घोर दुखो की अपेक्षा एक बार मरना कम कष्टकर है।

इसीलिये सत्सग करना आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है। सतो के अलावा कोई भी, अज्ञानी प्राणी को मुक्ति का सही मार्ग नही बता सकता।

अमरत्व की प्राप्ति कैसे हो ?

कहा जाता है कि एक धनी युवक ने एक बार ईसामसीह से प्रार्थना करते हुए कहा—"देव! मुझे अमरत्व की प्राप्ति का उपाय बताइये। मैं इस दुनिया के धन-वैभव से बहुत ऊब गया हूँ। लाख प्रयत्न करने पर भी इसके द्वारा मुझे शान्ति और सच्चा सुख हासिल नही होता।"

ईसामसीह ने अत्यन्त स्नेह पूर्वक उस युवक की बात का उत्तर दिया—"वत्स! तुमने मुझे देव कहकर सम्बोधित किया, यह तुम्हारी भूल है। देव तो केवल परम पिता परमात्मा ही है। मैं तो उनका एक मामूली सेवक हूँ। फिर भी तुम्हे बताता हूँ कि अगर तुम सच्चे दिल से अमर-जीवन की प्राप्ति के इच्छुक हो तो जाओ अपनी समस्त सम्पत्ति निर्धनो मे बाँट दो। क्योंकि यह तो सभव है कि ऊँट सुई की नोक मे से निकल जाय, पर यह असभव है कि धनी व्यक्ति ईश्वर के राज्य मे प्रवेश करके अमरत्व को प्राप्त कर ले।

धनी युवक ईसा की बात से बडा प्रभावित हुआ और उसने अविलम्ब अपना सब कुछ अभावग्रस्त व्यक्तियो को दे दिया तथा स्वय परमात्मा की भक्ति मे लीन हो गया।

तो वधुओ, उस धनी युवक को ससार का यह अस्थायी और कर्म-वधन करने का कारण जो धन है, उसका त्याग करके धर्माराधन करते हुए ईश्वर की प्राप्ति का सुमार्ग किसने बताया ? सत ईसा ने ही तो। पर अगर वही व्यक्ति सयोगवश किसी दुराचारी की सगति मे पहुँच जाता तो क्या होता, जानते हैं आप ? निश्चय ही वह उस भोले युवक को भी सट्टा और जुआ खेलना अथवा शराब पीना सिखा देता। क्योंकि शराबी शराब पीकर अपने आपको जीवित ही स्वर्ग मे पहुँचा हुआ मानते हैं तथा ससार का सबसे सुखी प्राणी समझते हैं। इधर वह धनी युवक सुख की खोज मे तो था ही फिर पतन के गर्त मे गिरते उसे क्या देर लगनी ? कहा भी जाता है —

'Wine has drowned more men than the sea

—साइरस

सागर की अपेक्षा शराब ने अधिक मनुष्यो को डुबाया है।

कहने का अभिप्राय यही है कि कुसगति जहाँ मनुष्य को निगोद और नरक की ओर पहुँचाती है वहाँ सत्सगति उसे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति भी करा देती है।

कविता के अन्त मे कहा गया है—

करो ग्रहण शिक्षा कुछ चदन घडी से,
गई हाथ हर्गिज न आती घडी है।

श्री चदन मुनि का कथन है कि घडी से कुछ शिक्षा ग्रहण करो, अन्यथा ये जीवन की सुनहरी घडियाँ निरर्थक चली जाएँगी और लाख प्रयत्न करने पर भी एक भी घडी पुन हाथ नही आएगी।

वधुओ, जीवन के विषय मे बडी गभीरता से विचार करना चाहिये। हम देखते हैं कि आज असख्य मनुष्य अपना जीवन बिता रहे हैं। वे जीते है किन्तु ऐसे व्यक्ति उनमे से कितने है जो जीवन की सफलता के विषय मे विचार करते हैं ? लोग बाजार जाते हैं, पर दो पैसे की भी कोई वस्तु लेते हैं तो पहले ही उसके उपयोग का विचार करते हैं तथा कोई न कोई उद्देश्य बनाकर उस वस्तु को घर पर लाते हैं। और लाने के पश्चात् भी उस वस्तु का वही उपभोग करते हैं जिस उद्देश्य से उसे खरीदा था। खरीद लेने के बाद उस वस्तु को निरर्थक पडी रखकर कभी भी नष्ट नहीं होने देते। फिर मानव जीवन तो अमूल्य है और ऐसे अनमोल जीवन की उपेक्षा करके उसे नश्वर सासारिक सुखो को भोगने मे व्यतीत कर देना कितनी बडी भूल है ? क्या एक बार यह दुर्लभ जीवन वृथा चला जाने पर पुन जल्दी प्राप्त हो सकेगा ?

और जल्दी ही क्या, कभी प्राप्त हो सकेगा ही, यह भी निश्चित नहीं कहा जा सकता।

इसलिये बन्धुओ, ऐसे जन्म को हमें निरर्थक नहीं जाने देना है तथा इसका पूर्ण लाभ लेना है। अन्यथा जब यह समाप्त हो जायेगा तो पश्चाताप के अलावा कुछ भी हाथ नहीं आएगा।

जीवन की सार्थकता किसमें है ?

विवेकी पुरुषों के लिये यही प्रश्न विचारणीय है कि मानव जीवन की सार्थकता किसमें है ? इसका उत्तर पाने के लिये बड़ी गम्भीरता एवं दूरदृष्टिता की आवश्यकता है। अगर हम संतों का समागम करते हैं तथा शास्त्रों का श्रवण या वाचन करते हैं तो सहज ही जान सकते हैं कि जीवन की सार्थकता आत्म-कल्याण में है। आत्म कल्याण से अभिप्राय आत्मा का अपने विशुद्धरूप को प्राप्त करना है। पर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को तभी प्राप्त कर सकती है, जबकि इन्द्रियों के विषयों में तथा प्रमाद से बचा जाय।

यह तो सम्भव नहीं है कि इन्द्रियाँ अपना कार्य छोड़ दें। आँखों के समक्ष जो वस्तु आएगी उसे आंखें देखेंगी, कानों में पड़े हुए शब्द वे सुनेंगे तथा नासिका भी गंध-श्रवण किये बिना नहीं रहेगी। इस प्रकार इन्द्रियाँ अपना कार्य अवश्य करेंगी, उन्हें अपने विषयों से हटाया नहीं जा सकता। किन्तु किया यह जा सकता है कि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए विषयों में राग, द्वेष और आसक्ति न रहे। जो व्यक्ति ऐसा कर लेता है वह इन्द्रिय विजयी कहलाता है।

कर्मों का बंधन कैसे होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर हमारे आगम और महापुरुष यही देते हैं कि संसार के पदार्थों और प्राणियों में आसक्ति होना कर्म-बंध का कारण है। भौतिक पदार्थों और भौतिक सुखों के प्रति मनुष्य की आसक्ति अथवा गृद्धता जितनी अधिक होगी, उतने ही प्रगाढ़ कर्मों का उसके बन्धन होता जाएगा।

बड़ी बारीकी से समझने की बात तो यह है कि कर्मों का बंध होना भावना पर अधिक निर्भर होता है। जो इन्द्रिय विजयी पुरुष होते हैं वे मधुर से मधुर मिष्ठान भी अनासक्तभाव से खाते हैं अतः उनके कर्म बंधन नहीं होते और जो अपनी इन्द्रियों पर संयम नहीं रखते, दूसरे शब्दों में अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रखते वे रूखा-सूखा भी अगर अत्यन्त गृद्धता से खाते हैं उनके कर्म प्रगाढ़ बंध जाते हैं।

इस विषय को और अधिक सरलता से समझने के लिये यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति भले ही लखपती, करोडपती या चक्रवर्ती ही क्यो न हो, अगर वह अपार वैभव के बीच मे रहकर और समस्त सासारिक सुखो को भोगता हुआ भी उनसे उदासीन रहता है, यानी उन भोगो के प्रति उसकी आसक्ति नहीं होती तो वह कर्म-बधनो से बचा रहता है। तथा दूसरी ओर एक भिखारी अपनी फटी गुदडी और मुठ्ठी भर चनो के प्रति भी घोर आसक्ति या ममत्व रखता है तो वह निविड कर्मों का बन्धन कर लेता है। अतएव आसक्ति, लोलुपता एव गृद्धता का त्याग कर देना ही आत्म-कल्याण का मार्ग है। आसक्ति का त्याग जितनी-जितनी मात्रा मे होता जाएगा, उतनी-उतनी मात्रा मे आत्मा विशुद्ध होती जाएगी तथा अपने सच्चे और शुद्ध स्वरूप की ओर बढती जाएगी।

किसी कवि ने कहा है—

अति चचल ये भोग, जगत हू चचल तैसो।
तू क्यो भटकत मूढ जीव ससारी जैसो॥
आसा-फाँसी काट चित्त तू निर्मल ह्वै रे।
साधन साधि समाधि परम निज पद के ह्वै रे॥

पद्य मे कहा है—अरे चित्त ! इस ससार के भोगोपभोग अत्यन्त चचल है यानि कभी तो यहाँ पर राजा रक बन जाता है और कभी रक राजा। कभी तो मनुष्य अपनी शक्ति के गर्व मे पहाड से भी टकरा जाने को तैयार हो जाता है और कभी रोगो के आक्रमण होने पर शैय्या से उठ भी नही पाता। इसलिये— हे मेरे चित्त ! तू मूढ के समान इस ससार के भोग-विलासो के पीछे मत दौड, और आशाओ के बधनो को समूल नष्ट करके समाधि भाव धारण कर तथा अपने आत्म-रूप मे लीन हो जा।'

कितनी सुन्दर शिक्षा है यह ! वास्तव मे ही इच्छाओ और आशाओ के बढाने से क्या हासिल होगा ? तृष्णा के फेर मे पडकर मनुष्य भले ही अपने समक्ष धन का अम्बार लगा ले किन्तु एक दिन तो उसे सब कुछ छोडकर यहाँ से प्रयाण करना ही पडेगा। जिस समय मौत सिर पर मडराने लगेगी, उस समय आसक्ति अधिक होगी तो उसे अधिक माया त्यागनी पडेगी और विरक्त होगा तो कम छोडनी होगी। पर दोनो को जाना तो समान रूप मे ही होगा।

किसी ने सत्य ही कहा है —

कितने मुफलिस हो गये, कितने तवगर हो गये ।
खाक मे जब मिल गये, दोनो बराबर हो गये ।।

तो बन्धुओ, कहने का अभिप्राय यही है कि अन्तिम अवस्था तो प्रत्येक जीव की समान ही होती है तथा अमीर और गरीब दोनो ही मरकर भस्म हो जाते हैं। न निर्धन का थोडा भी धन उसके साथ जाता है और न अमीर का अधिक।

इसलिये अगर सच्चे सुख की आकाक्षा है तो आपको अपना सारा ही समय पर-पदार्थों के सचित करने मे तथा उनके द्वारा विषयो को तृप्त करने मे नहीं लगाना चाहिये। तथा जैसा कि अभी कहा गया है घडी दो घडी ईश-चिन्तन, साधना तथा समाधिभाव मे लगाना चाहिये। ऐसा करने पर निश्चय ही आपके लिये सच्चे सुख का खजाना खुल जाएगा और आपको अपूर्व और कल्पनातीत सुख का अनुभव होने लगेगा। ऐसे सुख का, जिसके समक्ष ससार का परिग्रहजनित सुख तुच्छ, नगण्य एव सर्वथा निस्सार प्रतीत होता है।



६ सच्चे सुख का रहस्य

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज हमे यह देखना कि सच्चा सुख कौनसा है ? उसका उद्गम कहाँ है और उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

हम क्या देखते हैं ?

(इस विराट विश्व मे) हम देखते हैं कि (मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी तथा छोटे मे छोटे कीट पतग भी सुख-प्राप्ति की इच्छा रखते है तथा उसके लिए अपनी शक्ति के अनुसार दौड-धूप करते रहते हैं । सभी को सुखप्रिय है और दुःख अप्रिय, अत सुख को प्राप्त करना और दुख से बचना चाहते हैं ।

फिर भी महान् आश्चर्य की बात है कि कोई भी प्राणी अपने आपको सुखी अनुभव नही करता । सभी अपनी स्थिति मे असन्तुष्ट रहते हैं । किसी को पुत्र का अभाव पीडित कर रहा है, कोई धनाभाव मे दुखी हो रहा है, कोई रोगो के फदे मे जकडा हुआ है, किसी को पारिवारिक क्लेश सता रहा है, किसी के पास मकान नही है, किसी को व्यापार मे घाटा हो रहा है और कोई कन्या के विवाह के लिए चिन्तित हो रहा है । इस प्रकार जिधर देखो और जिस व्यक्ति को देखो, वही किसी न किसी प्रकार के दुःख, शोक, चिन्ता, व्याकुलता तथा व्याधि आदि के कारण अशात और दुखी दिखाई देता है ।)

ससार की ऐसी स्थिति के कारण जिज्ञासु व्यक्तियो के अन्तःकरण मे यह जानने की इच्छा बलवती होती है कि आखिर कारण क्या है, जिससे प्राणी सुख की अभिलाषा रखते हुए तथा सुख के लिए प्रयत्न करते हुए भी सुख को हासिल नही कर पाता ?

हितोपदेश के एक श्लोक मे सुख के विषय मे बताया गया है—

अर्थागमो नित्यमरोगिता च,
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या,
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्!

कहा है—हे राजन्! नित्य धन का लाभ, आरोग्यता, प्रियतमा और प्रियवादिनी स्त्री, आज्ञाकारी पुत्र, तथा धन को प्राप्त करने वाली विद्या—ये संसार मे छः सुख है।

इस प्रकार संसार मे छः प्रकार के सुख बताये गए हैं। किन्तु हम दीर्घ-दृष्टि से विचार करते हैं तो निश्चय ही महसूस होता है कि धन से सच्चे सुख की प्राप्ति कहाँ संभव है? धन से न हम असाध्य रोगो को मिटा सकते हैं, न उससे युवावस्था को स्थिर रखकर बुढ़ापे को आने से रोक सकते हैं और न ही धन की बदौलत मौत से ही बच सकते हैं। जरा ध्यान से विचार करने की बात है कि इस संसार मे धन से कौन सुखी होता है? सत्य तो यह है

न वि सुही देवता देवलोए,
न वि सुही पुढवीवईराया।
न वि सुही सेट्ठ सेणावई य,
एगत सुही साहू वीयरागी॥

अर्थात्—देवलोक मे देवता सुखी नही हैं। यद्यपि उनके पास प्रचुर वैभव होता है, रत्नमय विमान होते हैं तथा अपूर्व सुन्दरी देवियाँ होती हैं और वे भी इच्छानुसार अपने रूप का परिवर्तन करते हुए उन्हे सुख पहुँचाने का प्रयत्न करती है। किन्तु देवताओं को अपने वैभव मे संतोष नही होता और वे दूसरे देवों की समृद्धि को देखकर असंतुष्टि तथा ईर्ष्या की आग मे जलते रहते हैं।

दूसरे नंबर मे पृथ्वीपति राजा आते हैं। जिनके यहाँ अगणित दास-दासियाँ, भारी सेना और धन का विपुल खजाना होता है। किन्तु सुख उन्हे भी नसीब नहीं होता क्योंकि उन्हें अन्य राजाओं के आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा करने की चिन्ता रहती है। कभी-कभी तो उनके सगे-स्नेही और भाई या पुत्र भी उन्हें धोखा दे देते हैं। हिन्दुस्तान के शाहंशाह जहाँगीर के चार पुत्र थे लेकिन उन्हें बादशाह होते हुए भी कौन सा सुख हासिल हुआ? उनके पुत्र औरंगजेब ने अपने भाइयों को तो धोखे से मरवाया ही, साथ ही उन्हें भी

आजीवन कारावास में रखा। तात्पर्य यही है कि राजाओं या बादशाहों को भी सुख हासिल नहीं होता।

इसी प्रकार सेठ-सेनापति भी दुखी रहते हैं। कभी-कभी तो राजा की आँख टेढ़ी होते ही उनका समस्त धन छीनकर उन्हें देश निकाला ही दे दिया जाता है, और उनका अपार धन भी उनके किसी काम नहीं आता।

श्लोक के अन्त में बताया गया है कि संसार में अगर कोई सुखी है तो वे साधु-जन हैं जिनके पास न धन है और न धन के लिये तृष्णा ही है।

तो बंधुओ, जैसा कि श्लोक में कहा गया है - नित्य धन का लाभ होना संसार में पहला सुख है यह सही नहीं साबित होता। अपितु धन सदैव दुख-दायी होता है। क्योंकि—

अर्थानामर्जने दुःखं, अर्जितानाञ्च रक्षणे ।
आये दुःखं, व्यये दुःखं,किमर्थं दुःख साधनम् ॥

धन का उपार्जन करने में भी दुःख होता है और उपार्जन कर लेने के बाद उसकी रक्षा करने में भी दुःख होता है। धन के आने में भी दुःख है और आकर चले जाने में तो और भी अधिक दुःख है। तब फिर अरे मानव ! तू जान बूझकर क्यों दुःख-प्राप्ति का साधन करता है?

वस्तुतः किसी विचारक ने मनुष्य को यथार्थ और सुन्दर चेतावनी दी है कि धन के द्वारा कभी भी सुख हासिल नहीं हो सकता।

अब हम श्लोक की दूसरी पंक्ति पर विचार करते हैं। जो कहती है—

'प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च'

यानी प्रियवादिनी पत्नी का मिलना भी सुख का कारण है। किन्तु हम तो संसार [illegible] बात भी सही होती नहीं देखते। [illegible] कि सभी सम-[illegible] के समान [illegible] जब तक मनुष्य [illegible] वस्त्राभूषण आदि [illegible] पत्नी [illegible] रहता है तभी तक वह भी अपने पति से मधुर भाषण करती है। [illegible] पति [illegible] नहीं [illegible] तो वह भी [illegible] फेर लेती है।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं

उरग तुरग नारी नृपति नर नीचो हथियार ।
तुलसी परखत रहत नित इनहिं न पलटत बार ॥

[illegible], [illegible], [illegible] राजा, नीच पुरुष और [illegible]

रहना चाहिये क्योंकि इन्हे पलटते देर नही लगती। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

पैर काट डालो, खभा मत काटो!

कहते हैं—एक सेठ का पुत्र नित्य किसी महात्मा के पास सत्सग के लिये जाया करता था। उसके माता-पिता को यह देखकर बडी चिन्ता हुई कि कही उनका पुत्र नित्य ही वैरागियों की सगति मे रहकर साधु न बन जाय। अत उन्होने शीघ्र ही एक सुन्दर कन्या के साथ उस लडके का विवाह कर दिया और पुत्रवधु से कहा—"तू इसकी ऐसी सेवा-टहल और मनोरजन कर कि यह महात्मा के पास जाना छोड दे।"

बहू ने ऐसा ही किया तथा अपने आकर्षक व्यवहार से श्रेष्ठिपुत्र को इतना मुग्ध कर लिया कि उसने धीरे-धीरे महात्मा के पास जाना छोड दिया।

एक दिन महात्मा जी कही जा रहे थे कि सयोगवशात् वही सेठ का पुत्र उन्हे मार्ग मे मिला। महात्मा जी ने कहा—"वत्स! आजकल तो तुम दिखाई ही नही देते। क्या कारण है?"

श्रेष्ठि पुत्र सहजभाव से बोला—"भगवन! मेरी पत्नी बडी पतिव्रता है। वह मुझ पर जान देती है और मेरे बिना क्षण भर भी अकेले नही रह सकती। उसका सच्चा प्रेम देखकर मै उसके वशीभूत हो गया हूँ, इसलिए आपके पास नही आ पाता।

महात्मा जी ने कहा—भाई! इस ससार मे सब स्वार्थ से प्रेम करते हैं। तुम्हारी पत्नी भी केवल अपने सुख के लिए ही तुमसे प्रीति रखती है। अगर विश्वास न हो तो परीक्षा करके देख लो!"

श्रेष्ठि पुत्र की भी कौतूहल वश पत्नी की परीक्षा करने की इच्छा हो गई और उसने महात्मा जी से परीक्षा करने की विधि पूछली।

एक दिन अपनी योजना के अनुसार वह अपनी पत्नी से बोला—"आज तो मेरा मन खीर पूरी खाने का हो रहा है।" पत्नी बोली—"इसमे क्या बडी बात है, अभी बना देती हू।"

युवक को तो अपनी स्त्री की परीक्षा लेनी थी। अत जब उसकी पत्नी भोजन बनाकर उसे खाने के लिये बुलाने आई तब तक वह श्वास को ब्रह्म-रंध्र पर चढाकर मृतकवत् पड गया।

उसकी स्त्री यह देखकर घबराई और चिन्ता के मारे अपने पति की नाडी वगैरह देखकर परीक्षा करने लगी कि क्या हुआ? जब उसने देख लिया कि कही भी नाडी का स्पदन नहीं हो रहा है और पति तो मर चुका

हैं तो यह विचार करने लगी कि अगर मैं अभी ही रोना-पीटना प्रारम्भ कर देती हू तो फिर यह बना बनाया स्वादिष्ट भोजन निरर्थक चला जाएगा, दूसरे मुझे न जाने कब तक भूखा मरना पडेगा। लोग तो अभी इकट्ठे हो जायेंगे।

यह सोचकर वह चुपके से रसोईघर मे गई और भर-पेट खाना खा लिया। तत्पश्चात् वापिस पति के पास आई और जोर-जोर से रोना शुरू कर दिया। तुरत ही लोग इकट्ठे हो गये और पूछने लगे—"यह कैसे क्या हो गया ?" स्त्री बोली—मुझे तो पता नही शायद हार्ट फेल हो गया होगा क्योकि थोडी देर पहले तो अच्छे थे।"

पर मरने के बाद क्या होता है ? लोगो ने भी सोचा कि शीघ्र ले जाकर क्रिया-कर्म कर दें अन्यथा रातभर लाश पडी रहेगी। ज्यो ही वे लोग अर्थी पर रखने के लिए युवक को घर से निकालने लगे। एक खम्भे मे युवक के पैर फस गये। एकत्रित व्यक्तियो मे से किसी ने कहा—"जल्दी से खभे को काट दो और पैर निकाल लो।"

यह बात सुनते ही पत्नी रोते-रोते बोली—'अरे ! खभा मत काटो, पैर ही काट लो। खभा फिर कौन अभी बनवाएगा ? और पैर तो आखिर जलाये जाने ही है।"

लोगो ने सोचा यह भी ठीक है। उन्होंने पैर काटने के लिए कुल्हाडा मगवाये। पर इतने मे ही वह युवक आखे मलते हुए उठ बैठा और बोला—"क्या कर रहे हैं आप लोग ? मैं अभी मरा नही हू।"

लोग इस आश्चर्यजनक घटना को ईश्वर का चमत्कार समझकर लडके को आशीर्वाद देते हुए अपने अपने घर चले गए। पर लडका वहाँ से उठकर सीधा महात्मा जी के पास आगया और बोला—"भगवन् ! आपका कथन सत्य है कि स्त्री भी अपने स्वार्थ के लिए ही पति का प्यार करती है अन्यथा नही।" यह कहकर वह पुन घर नही गया और स्वय भी साधु बन गया।

यही बात ऋषि याज्ञवल्क्यने मैत्रेयी से कही थी—

न वाऽरे पत्यु कामाय पति प्रियो भवति।
आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति॥

अर्थात्—अपने मतलब के लिए ही स्त्री को पति प्यारा होता है। पति के लिए स्त्री को पति प्यारा नही होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि नारी के सुख को सुख मानना भी निरर्थक

है। यह सुख कभी स्थायी नही होता। अगर यह मान लिया जाय कि पत्नी की पति मे प्रीति होती है तो वह भी कितने समय तक सुख पहुचा सकती है ? केवल तभी तक तो, जब तक कि मनुष्य इस शरीर को धारण किए हुए है। आख मूदते ही तो स्त्री का वियोग हो जाता है और आत्मा अन्य किसी योनि मे जन्म लेने पहुच जाती है।

बधुओ! श्लोक का विवेचन करने के क्रम मे कुछ गडबड हो गई है अर्थात् धन की प्राप्ति तथा स्त्री-सुख के मध्य कवि ने एक सुख और बताया है। वह है आरोग्यता। यानी निरोग रहना भी ससार के छ सुखो मे से एक सुख है।

इसके विषय मे आप और हम सभी जानते है कि सुन्दर स्वास्थ्य यद्यपि सुखदायी है और स्वस्थ रहने पर इन्सान अपने आपको पूर्ण सुखी मानता है। कहा भी जाता है—'पहला सुख निरोगी काया।' किन्तु यह शरीर किसी भी हालत मे सदा स्वस्थ नही रह सकता। चाहे व्यक्ति सदा ही पौष्टिक पदार्थ खाता रहे और सभी विटामिनो की गोलिया निगलता रहे। फिर भी न जाने किस अदृष्ट मार्ग से आकर रोग उसे घेर ही लेते है। और वृद्धावस्था के आ जाने पर तो वे हटाये नही हटते।

किसी कवि ने वृद्धावस्था का सच्चा चित्र खीचा है—

भयो सकुचित गात, दन्तहू उखर परे महि
आखिन दीखत नाहि, वदन तें लार परत वहि ॥
भई चाल बेचाल, हाल बेहाल भयो अति।
वचन न मानत बन्धु, नारिहू तजी प्रीति-गति ॥
यह कष्ट महा दिये वृद्धपन, कछु सुख सो नहि कहि सकत।
निज पुत्र अनादर कर कहत, यह बूढो यो ही बकत ॥

तो बधुओ, हम आरोग्यता के विषय मे बात कर रहे थे कि कोई भी व्यक्ति अपने शरीर के लिए निश्चित रूप से कभी नही कह सकता कि उसे रोग घेरेगा ही नही, और वृद्धावस्था जो कि शरीर के लिए आनी अनिवार्य है, उस समय तो रोग आकर फिर टलते ही नही। अत आरोग्यता को भी स्थाई सुख मानना निरा अज्ञान है।

अगला सुख आज्ञाकारी पुत्र का होना माना गया है। इस युग मे तो पुत्र का आज्ञाकारी होना बडी ही असभव सी बात लगती है। यह युग अनुशासन से हीन सा दिखाई देता है। आए दिन सुनते है, देखते है और पढते भी है

कि अमुक स्थान के विद्यार्थियों ने अपने मास्टरों को गालियां दीं और अमुक कालेज के छात्रों ने प्रोफेसर को पीट दिया। क्या ऐसे अनुशासनहीन लड़के अपने माता-पिता का भी आदर-सम्मान कर सकते हैं? जो छात्र अपने गुरु का मान नहीं करते वे आगे जाकर अपने माता-पिता का मान क्या रख सकते हैं। एक कवि ने कहा है—

जनक वचन निदरत निडर, बसत कुसंगत माहिं।
मूरख सो सुत अधम है तेहि जनमे सुख नाहिं॥

जो पुत्र कुसंगति में पड़कर पिता के वचनों का निडरतापूर्वक अनादर करते हैं वे मूर्ख और अधम पुत्र होते हैं, जिनके जन्म लेने में कोई सुख माता-पिता को हासिल नहीं होता।

इसके अलावा मान लिया जाय कि कोई पुत्र सपुत्र है तो भी उसकी ओर से क्या माता-पिता को सुख मिलता है? नहीं। जन्म से लेकर तो उसकी सेवा तथा सार-संभाल माता-पिता को करनी पड़ती है तथा स्वयं अनेकानेक कष्ट सहकर उसका लालन-पालन करना होता है। उसके पश्चात् कुछ बड़ा होने पर उसकी पढ़ाई-लिखाई के खर्च आदि की चिन्ता में इतना परिश्रम करना पड़ता है कि स्वयं की ओर ध्यान देने का भी अवकाश नहीं मिलता। उसके पश्चात् जरा और बड़ा होने पर शादी विवाह की चिन्ता हो जाती है और उससे निवृत्त होने पर पौत्र-पौत्री हो गये तो उनकी मोह ममता में पड़े रहकर अपनी आत्मा के लिये कुछ भी नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार पुत्र के जन्म से लेकर ही माता पिता को कभी शांति नसीब नहीं हो पाती। और ऐसी स्थिति में पुत्र से सुख मिलता है यह कहना भूल के अलावा और क्या कहा जा सकता है?

श्लोक में छठा सुख बताया गया है—अर्थ के उपार्जन में सहायक होने वाली विद्या को प्राप्त करना। पर क्या उस विद्या या शिक्षा से व्यक्ति सच्चे सुख को प्राप्त कर सकता है? नहीं, पहले तो विद्यार्थी कई वर्षों तक अनेक विषयों की पंक्तियां रटते-रटते ही परेशान हो जाता है और पढ़-लिख लेने के बाद अगर नौकरी मिल गई तो सुबह से शाम तक कार्य-रत रहकर अपने स्वास्थ्य को खो बैठता है। तीसरी हानि उसे यह होती है कि प्राप्त हुआ धन उसे निन्यानवे के चक्कर में डाल देता है। धन पाने से कभी किसी को संतोष होता तो ऐसा कहा जाता। ध्यान से प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह सौ रुपया महीना कमाता हो या हजार रुपये, अपनी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति न होने का रोना रोता रहता है। कम पैसे पाने वाले को खान-पान की कमी का

दुख होता है तो अधिक पाने वाले को बँगला और मोटर के न होने का।

इस प्रकार धन का उपार्जन करानेवाली विद्या को हासिल करके भी व्यक्ति कभी सुख का अनुभव नही कर पाता।

कहने का अभिप्राय यही है कि ससारी जीव पर-पदार्थों के निमित्त से सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु वह सुख, सुख नही बल्कि सुखाभास बनकर रह जाता है। क्योकि पर-पदार्थों के द्वारा प्राप्त हुआ सुख न तो परिपूर्ण होता है और न स्थायी ही रह सकता है। पर-पदार्थों का सयोग अल्प काल तक रहता है और उसके पश्चात् उनका वियोग होना अवश्यभावी होता है। ससारी प्राणी जिस सुख को सुख मानते हैं वह पर-पदार्थावलम्बी होने के कारण शान्त, परिमित तथा भविष्य मे प्राप्त होने वाले दु खो का मूल बन जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से वह सुख ही नही कहला सकता।

ध्यान दो!

बधुओ, यहाँ एक बात पर और बारीकी से विचार करना है कि पर-पदार्थो से यहाँ आशय केवल बाहर के पौद्गलिक पदार्थों से ही नही है अपितु सातावेदनीय कर्मों से भी है। सातावेदनीय कर्म भी एक तरह से पर वस्तु ही है क्योकि वे आत्म-स्वरूप नही है। पराश्रित और अस्थायी हैं अत उनसे प्राप्त होने वाला सुख सच्चा सुख नही है। इन सातावेदनीय कर्मो का उदय भी आज है तो कल नही भी हो सकता है। हम देखते ही हैं कि ससारी जीवो को सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख यानी साता के बाद असाता और असाता के पश्चात् के साता का अनुभव होता रहता है।

हिन्दी के किसी कवि ने कहा भी है—

> **आज है पाना कल है खोना,**
> **आज है हँसना कल है रोना।**
> **कभी है बाधा कभी है घाटा,**
> **कभी है ज्वार कभी है भाटा।**
> **हार कभी और जीत कभी है,**
> **इस नगरी की रीत यही है।**
> **खुशी मे खेद भी मिला हुआ है,**
> **अमृत मे विष घुला हुआ है।**

कवि ने जगत का जो स्वरूप बताया है, यह कोरी कल्पना नही है पूर्णतया सत्य है। हम सदा देखते है कि आज जो व्यक्ति लक्ष्मी के प्राप्त होने पर पुत्रादि के विवाह अथवा अन्य किसी शुभ सयोग के कारण फूला नही समाता

तथा नाना प्रकार से खुशियाँ मनाता है, वही कल धन पर डाका पड जाने के कारण, पुत्र, पत्नी या अन्य किसी स्वजन की मृत्यु के कारण अथवा किसी आकस्मिक विपत्ति के कारण फूट-फूट कर रोता हुआ देखा जाता है। यानी सुख और दुख समुद्र मे आनेवाले ज्वार-भाटे के समान आते-जाते देखे जाते है।

कवि आगे कहता है—इस नगरी अर्थात् इस ससार रूपी माया नगरी की यही रीति है कि यहाँ कभी जीव कर्मों से जीतता है और कभी हार जाता है। इसके हृदय-रूपी अमृत मे शोक का विष भी घुला हुआ रहता है जो अपना दाव लगते ही असर दिखाता है।

सुख और दुख

एथेन्स मे सोलन नामक एक महान् दार्शनिक रहता था। एक वार वह घूमता-घामता लीडिया के राजा कारू के यहाँ पहुच गया। कारू वडा धनवान था। आज भी उसके धन की प्रसिद्धि मे एक कहावत वन गई है। किसी के अधिक धन प्राप्त कर लेने पर हम कहते हैं "उसे कारू का खजाना मिल गया।"

तो सोलन जब कारू के यहाँ पहुँचा तो कारू ने वडे गर्व से अपनी दौलत सोलन को वताई। वह चाहता था कि सोलन उसे ससार का सवसे वढकर सुखी व्यक्ति माने और अपनी जवान से भी यही कहे। किन्तु सोलन पर कारू के खजाने का कोई प्रभाव नही पडा और वह केवल यही वोला—"इस ससार मे सवसे सुखी वही माना जा सकता है जिसका अन्त सुखमय हो।"

कारू को सोलन का यह कथन वहुत ही वुरा लगा और उसने सोलन की जरा भी आवभगत किये विना अपने राज्य से विदा कर दिया।

कुछ ही समय पश्चात् कारू ने फारस के राजा साइरस पर आक्रमण किया। किन्तु वहाँ पर वह स्वय हार गया और वन्दी वना लिया गया। साइरस ने उसे जीवित आग मे जलाये जाने का हुक्म दे दिया।

उस समय कारू को सोलन याद आई और वह सोलन, सोलन! सोलन! कहकर चिल्लाने लगा। साइरस को यह सुनकर वडा आश्चर्य हुआ अत उसने कारू से इसका तात्पर्य पूछा।

कारू ने साइरस से अपनी तथा सोलन की मुलाकात और उनके कहे हुए शब्द साइरस को वताये। साइरस पर भी सोलन की वात का इतना प्रभाव पडा कि उसने कारू को छोड दिया।

इस प्रकार कारूँ को सुख के पश्चात् दुख और दुख के पश्चात् सुख के दौर से गुजरना पडा। जब तक उसके सातावेदनीय कर्मों का उदय रहा, तब तक तो वह ससार का सबसे बडा दौलतमद बना रहा और ज्यो ही असाता वेदनीय कर्म उसके उदय मे आए, वह पराजय और जीवित जला दिये जाने के दण्ड का भागी बना।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि सुख सासारिक पदार्थों मे नही है। अगर वह धन से प्राप्त होता तो कारूँ जोकि ससार की सबसे अधिक दौलत का स्वामी था, क्यो दुखी होता ? सुख स्वजनो के अथवा मन के अनुकूल पत्नी को प्राप्त कर लेने मे भी नही है अन्यथा कोई यह क्यो कहता—

> घर की नार बहुत हित जासौं,
> रहत सदा सग लागी।
> जब ही हस तजी यह काया,
> प्रेत प्रेत कह भागी॥

पद्य मे पति के मरने के बाद पत्नी की भावनाओ का परिवर्तन बताया गया है किन्तु प्रत्यक्ष मे हम देखते है कि उसके जीवित रहते हुए भी अनेक स्त्रियाँ बदल जाती है तथा पति को धोखा देती हैं। राजा भर्तृहरि का उदाहरण जगत-प्रसिद्ध है कि वे अपनी असाधारण रूपवती एव मधुरभाषिणी रानी पिंगला के मोह मे पडकर उसके क्रीत दास बन गए।

किन्तु वही पिंगला व्यभिचारिणी साबित हुई और राजा भर्तृहरि अपनी प्राणप्रिय पत्नी के दुराचरण के कारण ससार से विरक्त हो गये तथा अपना समस्त राज-पाट त्यागकर योगी बन गए। उनकी घोर विरक्ति का परिचय उनके सुप्रसिद्ध ग्रथ 'वैराग्य-शतक' मे मिलता है। ससार के ऐसे-ऐसे उदाहरणो को देखकर ही किसी ने सत्य कहा है—

> त्रियाश्चरित्र पुरुषस्य भाग्यं,
> देवो न जानाति कुतो मनुष्य ॥

तो मैं आपको यह बता रहा था कि इस ससार मे धन, आरोग्यता, पत्नी, पुत्र अथवा धनार्जन कराने वाली विद्या आदि से कभी भी सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योकि कि ये सब अस्थिर हैं तथा 'पर' हैं। सच्चा सुख कभी पराश्रित नही होता।

सच्चा सुख कहाँ है, और कैसे प्राप्त होता है ?

बधुओ, अभी हमने यह जाना है कि ससार की किसी वस्तु मे सच्चा

सुख नही है। ये केवल मिट्टी के मोदक हैं जो बाहर से तो मन को मुग्ध कर सकते हैं, किन्तु सार उनमे कुछ भी नही है। बाह्य पदार्थों मे प्राप्त होने वाला सुख, सुख नही वरन सुखाभास है।

ऐसा जान लेने के पश्चात् स्वभावत मन मे प्रश्न उठता है कि फिर सच्चा सुख कहाँ है और वह कैसे प्राप्त हो सकता है ?

इसका उत्तर यही है कि सुख आत्मा का गुण है और गुण सदैव गुणी मे ही विद्यमान रहता है अत सच्चा सुख भी आत्मा के अन्दर ही रहता है। बाह्य पदार्थों मे खोजने से वह प्राप्त नही हो सकता। वह इन्द्रियो के द्वारा भोगा नही जा सकता और वाणी मे इसका वर्णन नही किया जा सकता। उसे केवल गूगे के गुड की उपमा दी जा सकती है यानी वह केवल अनुभव से जाना जा सकता है।

हमारे जैनागमो मे इसकी प्राप्ति का क्रम इस प्रकार बताया गया है —

जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ सजोग सब्भितर बाहिर ॥
जया जोगे निरु भित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्म खवित्ताण, सिद्धि गच्छइ नीरओ ॥
जया कम्म खवित्ताण, सिद्धि गच्छइ नीरओ।
तया लोग मत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥

— दशवैकालिक सूत्र ४,१७-२५

अर्थात्—जीव जब देवता और मनुष्य सबधी समस्त काम भोगो से विरक्त हो जाता है तब बाह्य और आन्तरिक सभी सयोग त्याग देता है। माता-पिता बधु, पुत्र, पत्नी तथा महल, मकान व धन-सपत्ति आदि बाहर के पदार्थों का सयोग बाह्य-सयोग कहलाता है और राग-द्वेष आदि मोह व कषायो का सयोग आभ्यन्तर सयोग कहलाता है।

जब मनुष्य बाह्य और आभ्यतर सयोगो का त्याग कर देता है तो पूर्ण सयमी बन जाता है, सवर धर्म का अनुष्ठान करता है तथा कर्म रज को दूर करता हुआ केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करता है।

तत्पश्चात् मन, वचन और काय के योगो का निरोध करके आत्मा शैलेशी अवस्था यानी सुमेरु के समान अकम्पदशा को पा लेता है और तब सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके सिद्ध गति प्राप्त कर लेता है। और जब वह सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है तो लोक के अग्रभाग पर विराजमान हो जाता है और शाश्वत सिद्ध कहलाता है।

इस प्रकार सच्चा सुख केवल मुक्त अवस्था प्राप्त कर लेने मे है। आत्मा जैसे-जैसे पर पदार्थों पर से अपनी ममता हटाता जाएगा तथा आत्म-स्वरूप मे लीन होता जाएगा, वैसे ही वैसे वह सच्चे सुख की प्राप्ति करता जाएगा।

अभिप्राय यही है कि सुख ससार के भोगोपभोगो के पदार्थों का सचय करने मे नही अपितु उनका त्याग करने मे है। जिनके हृदय मे धन के प्रति अथवा भोगोपभोगो की वस्तुओ के प्रति ममत्व नही होता वे सर्प के द्वारा छोडी हुई केंचुली के समान अपने समस्त वैभव का क्षण-मात्र मे ही त्याग कर देते है।

प्राचीन काल की एक ऐतिहासिक घटना है। कन्नौज देश के एक राजा थे, जिनके दो पुत्र थे। वडे पुत्र का नाम राज्यवर्धन था और छोटे का हर्षवर्धन।

सयोगवश जिस समय कन्नौज के राजा मृत्युशैय्या पर पडे थे, उस समय युवराज राज्यवर्धन अपने राज्य से कही दूर गये हुए थे। अत राजा ने अपने लघु पुत्र हर्षवर्धन को अपने समीप वुलाकर कहा—"पुत्र, मैं अपने सम्पूर्ण राज्य का तुम्हे ही अधिकारी वनाता हूँ। इसकी रक्षा करना और प्रजा का भली-भाँति पालन करना। इतना कहने के पश्चात् राजा के प्राण पखेरू उड गए।

राजा की मृत्यु के पश्चात् राज्य के मत्री तथा सेनापति आदि कर्मचारियो ने हर्षवर्धन से प्रार्थना की—"अव आप राजमुकुट धारण करके विधिवत् अपनी जिम्मेदारी सम्हालिये तथा प्रजा का पालन कीजिये।"

किन्तु हर्षवर्धन ने उत्तर दिया—"यह कैसे हो सकता है? राज्य का अधिकारी सदा वडा पुत्र होता है अत मेरे भाई राज्यवर्धन ही राज्य-कार्य सम्भालेंगे तथा राजा वनेंगे। मुझे तो इसी वात की वडी खुशी है कि मैं छोटा हूँ और राज्य के समान भारी परिग्रह को अपनाने से वच रहा हूँ।" हर्षवर्धन की वात सुनकर सव चुप हो गए।

कुछ दिनो के पश्चात् कार्य सम्पूर्ण हो जाने पर राज्यवर्धन पुन अपने राज्य मे लौटे। उन्होंने आते ही अपने छोटे भाई से अत्यन्त प्रेम तथा आग्रह-पूर्वक कहा—"भाई, राज्यमुकुट धारण करने मे तुमने इतनी देरी क्यो कर दी। अव शीघ्रातिशीघ्र राज्य सम्हालो और धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो।

पर वडे भाई की वात सुनकर हर्षवर्धन ने उत्तर दिया—"यह कैसे हो सकता है? राज्य के अधिकारी आप हैं, अत कृपा करके आप ही मुकुट

धारण कीजिये, मैं तो आपका सेवक हूँ। और आपकी आज्ञा का सदा पालन करूँगा।"

भाइयो! आज जहाँ भाई-भाई छोटी-छोटी वस्तुओ के लिये और चन्द रुपयो के लिये ही बुरी तरह से झगड पडते हैं तथा आवेश आ जाने पर तो मार-पीट से भी वंचित नही रहते, वहा राज्यवर्धन और हर्षवर्धन दोनो भाई उस विस्तृत राज्य को भी एक-दूसरे को देने के लिये कटिबद्ध थे। यह निरासक्त भावनाओ का ही परिणाम था।

अन्त मे राज्यवर्धन के अतीव आग्रह के कारण छोटे भाई हर्षवर्धन को ही राज्य स्वीकार करना पडा और राज्यवर्धन अपने अधिकार का त्याग करके वन मे साधना करने चल दिये।

त्याग की भावना कैसी जबर्दस्त और प्रभावशाली होती है कि जिसके कारण व्यक्ति राजपाट को भी ठोकर मार देता है। तथा अकिंचन बनकर पूर्ण संतोष पूर्वक आत्म-साधना मे जुट जाता है। इतिहास को उठाकर देखने पर हमे अनेकानेक ऐसे उदाहरण मिलते है कि बडे-बडे राजा, महाराजा और चक्रवर्ती भी अपना सर्वस्व त्यागकर साधु बन गये तथा संत-जीवन अपनाकर आत्म-कल्याण मे जुट पडे।

राजा भर्तृहरि ने 'वैराग्य शतक' मे कहा भी है—

रम्य हर्म्यतल न किं वसतये श्राव्य न गेयादिकं,
किंवा प्राणसमासमागम सुख नैवाधिक प्रीतये।
किन्तु भ्रान्तपतत्पतङ्गपवनव्यालोल दीपाङ्कुर—
च्छाया चंचल माकलय्य-सकल सन्तो वनान्त गता॥

अर्थात्—क्या संतो के रहने के लिये उत्तमोत्तम महल नहीं थे? क्या सुनने के लिये उन्हे उत्तमोत्तम गायन नही थे? क्या उन्हे प्रिय और सुन्दरी स्त्रियो के संगम का सुख न था जो वे लोग वनो मे रहने के लिये गये?

उन्हे सब कुछ उपलब्ध था किन्तु उन्होंने इस जगत को, गिरनेवाले पतंग के परो से उत्पन्न हवा से हिलते हुए दीपक की छाया के समान चंचल समझकर त्याग दिया, अथवा उन्होंने मूढ़ पतंगों की भाँति, जो हवा से हिलते हुए दीपक की छाया मे घूम-घूम कर स्वयं को जला कर भस्मीभूत कर देता है, संसार को अपना नाश कराने वाला समझकर संसार छोड दिया।

आशय यही है कि यह संसार दीपक की लौ के समान है और उसमे रहने वाले जीव पतंगो के सदृश। जिस प्रकार अभागे पतंगे दीपक से मोह रखते है और उसी के आस-पास चक्कर काटते हुए, अन्ततः भस्म हो जाते है। उसी

प्रकार मानव भी ससार के असली तत्त्व को न समझने के कारण इसके मोह मे फँसकर नष्ट हो जाते हैं अर्थात्—सासारिक पदार्थों मे आसक्ति और मोह रखने के कारण प्रगाढ कर्मों का वधन कर लेते है तथा अनन्तकाल के लिये पुन ससार-परिभ्रमण करने को वाध्य हो जाते है। जिस तरह पतगे को यह ज्ञान नही होता कि दीपक से मोह करने से कोई लाभ तो होगा नही, उलटे मेरी जान जाएगी। उसी प्रकार अज्ञानी मानव यह नही सोच पाते कि इस ससार के क्षण भगुर पदार्थों मे आसक्ति रखने से सुख तो क्षणिक मिलेगा किन्तु आत्मा कर्मवद्ध होकर अनन्त काल तक नरक तथा तिर्यंचादि योनियो मे जाकर असह्य दु ख भोगती रहेगी।

पर विवेकी और ज्ञानी पुरुप इस यथार्थ को समझ लेने हैं तथा भगवान के कहे हुए इन शव्दो पर पूर्णतया विश्वास करते हैं—

'कामे कमाही कमिय खु दु क्ख।'

कामनाओ को जीत लो दु ख दूर हो जाएगा।

इस एक वाक्य मे ही अनन्त काल से उलझी हुई महाजटिल समस्या का अति सुन्दर समाधान दिया हुआ है कि मानव जव तक राग-द्वेप के फेर मे पडा है तथा कामनाओ का दास वना हुआ है, तव तक ससार के समस्त पदार्थों मे से कोई एक अथवा सव इकट्ठे होकर भी उसे दु खो से नही वचा सकते और सुख की प्राप्ति नही करा सकते।

इसीलिये वह समस्त भौतिक सुखो को ठोकर मार कर आत्म-साधना मे जुट जाता है ऐसे महान् पुरुप के लिये ही किसी कवि ने कहा है—

भोजन कों करि एह्न, दसो दिसि वसन वनाये।
भखै भीख को अन्न, पलग पृथ्वी पर छाये॥
छाडि सदन को सग, अकेले रहत रैन-दिन।
निज आतम सों लीन, पौन सतोप छिनहि छिन॥
मन को विकार इन्द्रीन को डारै तोर मरोर जिन।
वे धन्य-धन्य सन्यास धन कर्म किये निर्मूल तिन॥

कहते है कि वे सच्चे सन्यासी धन्य है जिन्हे किसी प्रकार की कोई चिन्ता नही, भोजन वस्त्र की भी परवाह नही। दसों दिशाएँ ही उनके लिये वस्त्र हैं, भिक्षा मे लाया हुआ रूखा-सूखा अन्न स्वादिष्ट भोजन है, और पृथ्वी ही जिनके लिये पलग और नरम शैय्या है। जो अपने समस्त सगे-सवधियो को

छोडकर अकेले ही रात-दिन रहते हैं तथा प्रतिपल पूर्ण सतुष्ट रहते हुए अपनी आत्मा मे रमण करते हैं । जिन्होंने मन के सम्पूर्ण विकारो और इन्द्रियो के विषयो को तोड-मरोड कर फेंक दिया है अर्थात् त्याग दिया है, और अपने कर्मो का क्षय कर लिया है ऐसे सत पुन पुन धन्य हैं ।

तो बधुओ, आप सच्चे सुख का रहस्य तो समझ गए होगे, किन्तु उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील भी बनेगे तभी अपना जीवन सफल बना सकेगें ।

१

७ भव-पार करानेवाला सदाचार

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

इस ससार मे मानव शरीर तो करोडो व्यक्तियो को मिला हुआ है और सदा मिलता भी रहेगा। किन्तु सच्चा मानव वही कहलाता है और कहलाएगा जिसके जीवन मे सदाचार की सौरभ होगी। सदाचार के अभाव मे मानव जीवन का तनिक भी मूल्य नही रह जाता और मानव के लिए सर्वोत्तम पर्याय पाना भी न पाने के समान ही हो जाता है। सदाचार की सुगध मे समन्वित मनुष्य सर्वत्र सवका प्रिय एव आकर्पण का केन्द्र वन जाता है और इसके विपरीत दुराचारी व्यक्ति पग-पग पर लाछित, अपमानित और दुनियां की निगाहो मे घृणित वनता है। कोई भी व्यक्ति ऐसे मनुष्य से सपर्क रखना पसन्द नही करता।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे वताया भी गया—

> जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो।
> एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ।।

अर्थात्—सडे कानो वाली कुतिया जहा भी जाती है वहा से दुत्कार कर निकाल दी जाती है, उसी प्रकार दु शील, उद्दण्ड एव मुखर यानी वाचाल व्यक्ति भी सर्वत्र धक्के देकर निकाल दिया जाता है।

वास्तव मे ही जिस प्रकार आभूपणो की कीमत उसकी पेटी से नही होती, मूल्य से होती है और तलवार की कीमत उसके म्यान से न होकर स्वय उसके पानी मे होती है, इसी प्रकार मानव जीवन की कीमत उसके मानव शरीर मे नहीं, अपितु उसमे रहे हुए सर्वश्रेष्ठ गुण सदाचार से होती है। अगर उसमें

सदाचार नही है तो उसके शरीर का सौन्दर्य, वल या वैभव सब नही के वरावर हैं।

प्राचीन काल मे हमारा भारतवर्ष अपने उच्चकोटि के सदाचार के कारण ही जगत मे विख्यात था। भारत के निवासियो का सदाचारी जीवन अन्य समस्त देशो के लिए आदर्श वना हुआ था तथा विदेशी मुक्त कठ से भारतवासियो की प्रसशा करते हुए उनका लोहा मानते थे। इतिहास हमे वताता है कि शरण मे आए हुए प्राणी की रक्षा करने मे अवलाओ के सतीत्व को वचाने मे अथवा अन्य किसी भी विपत्ति मे ग्रस्त प्राणी को उससे छुटकारा दिलाने मे भारतवासी अपने प्राणो का वलिदान भी कर देते थे। सदाचार के ऐसे उदाहरण इतनी प्रचुर सख्या मे प्राप्त किए जा सकते हैं कि जिनकी गणना करना भी सभव नही है।

एक उर्दू भाषा के कवि ने भारत के उस अतिशय उज्ज्वल अतीत का चित्रण करते हुए लिखा है—

वह भी कभी था वक्त कि अपनो से प्यार था।
भाई पै भाई वाप पै वेटा निसार था॥

कवि ने उस काल के पारिवारिक जीवन की प्रशसा करते हुए वताया है कि उस समय सयुक्त परिवार की प्रथा तो थी ही, परिवार के सभी सदस्यो मे भी अथाह प्रेम होता था। भाई-भाई के लिए जान देता था तथा भाई के अभाव को वह अपनी दाहिनी वाह का टूट जाना मानता था। राम और लक्ष्मण का अटूट स्नेह जगत के लिए आदर्श है। आज कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो उनके नाम से अपरिचित होगा तथा उन भाइयो का नाम गद्-गद् होकर न लेता होगा। भरत के समान भाई क्या आज के ससार मे उपलब्ध हो सकता है, जिसने सपूर्ण अयोध्या का राज्य अपने अधिकार मे होने पर भी अपने वडे भाई राम की पादुकाओ को सिहासन पर रखकर राज्य-कार्य सभाला। उस काल मे छोटा भाई अपने वडे भाई को पिता के समान और वडा भाई छोटे को पुत्रवत् प्यार करता था। ऐसा सदाचारी जीवन का ही मधुर परिणाम होता था। और इसी के कारण पिता अपने पुत्र का जीवन वनाने के लिए अपनी समस्त खुशियो को उस पर न्योछावर कर देता था तथा स्वय अपने जीवन मे किसी दोष को उत्पन्न नही होने देता था, कि कही पुत्र मे भी वे आ न जाए।

इसी प्रकार पुत्र भी अपने पिता का देवता के समान आदर करता था

तथा उसके वचन का अपने प्राण देकर भी पालन करता था। अपने पिता के वचन की रक्षा करने के लिए ही राम ने चौदह वर्ष वनवास किया था। सदाचारी पुत्र यही मानता था—

नह्यतो धर्मचरण, किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा, तस्य वा वचनक्रिया॥

पिता की सेवा तथा उनकी आज्ञा-पालन जैसा धर्म कोई दूसरा नही है।

इस प्रकार प्राचीन काल मे पिता एव पुत्र दोनो ही एक दूसरे पर अपने आपको न्योछावर कर देने के लिए तैयार रहते थे तथा अपने सदाचरण द्वारा ससार के समक्ष आदर्श-रूप वन जाते थे।

कविता मे आगे कहा गया है—

छोटो को था वडो की वुजुर्गो का एहतराम।
छोटो पर थीं वडो की निगाहें करम मदाम॥

यानी प्रत्येक व्यक्ति अपने से वुजुर्ग व्यक्तियो का अत्यन्त आदर और सम्मान करता था। चाहे वह उसका पिता या दादा हो अथवा पडौसी या गाव का कोई भी और किसी जाति का ही व्यक्ति क्यो न हो।

उस समय एक व्यक्ति की वेटी या वहू सम्पूर्ण गाव की वेटी और वहू मानी जाति की तथा एक व्यक्ति की इज्जत पर खतरा आते ही सम्पूर्ण गाव और गाव के वुजुर्ग उस कठिनाई का मुकावला करने के लिए कमर कस तैयार हो जाते थे।

वेटे की शादी नहीं करूँगा

वहुत पहले की एक घटना है—मध्यप्रदेश के एक गाव मे रामदास नामक एक व्यक्ति रहता था। वह निर्धन था, किन्तु किसी प्रकार उसने एक-एक पैसा जोडकर दो हजार रुपया इकट्ठा किया और अपनी पुत्री का विवाह समीप के किसी गाव मे तय किया। लडकी का ससुर भी धनवान नही था किन्तु वडा लालची था। दो हजार नकद लेने की वात करके उसने लडके का सवध रामदास की पुत्री से कर दिया।

किन्तु दुर्भाग्यवश रामदास की पुत्री की शादी मे दो ही दिन रहे थे कि चोरो ने सेंध लगाकर उसका जो कुछ भी था वह चुरा लिया। साथ ही वे दो हजार रुपये ले गए। रामदास ने विचार किया कि चोरी की वात वताने पर लडकी का ससुर दया करके मान जायेगा तथा रुपयो की माग नही करेगा।

बारात और द्वाराचार हुआ किन्तु भावर पडने से पहले ही दूल्हे के पिता ने रुपयो की माग की। रामदास ने हाथ जोडकर चोरी की बात बतलाई और अपनी टोपी समधी के पैरो पर रखकर उनसे रुपये न दे पाने लिए क्षमा मागी।

किंतु दूल्हे का बाप आग बबूला हो गया और उसने हाथ पकड कर फेरो के लिए तैयार अपने पुत्र को वहा से खीच लिया और बोला—"यह शादी नही होगी, मैं अपने लडके का अन्यत्र विवाह करूगा।" उसने बरातियो को उसी समय लौट चलने का आदेश दिया।

रामदास ने लाख मिन्नते की पर वह नही माना। अन्तत और कोई उपाय न देखकर रामदास अपने गाँव के सबसे बडे बुजुर्ग श्री किशनदास जी के पास दौडा गया और उनसे सब हाल कहा। किशनदास जी उसी क्षण नगे पैर ही रामदास के यहाँ आए और दूल्हे के ससुर को समझाने लगे। किन्तु वह टस से मस नही हुआ और रवाना होने की तैयारी करने लगा।

यह देखकर किशनदास जी ने शान्त और गम्भीर स्वर से कहा—"यह बारात बिना विवाह किये नही लौटेगी। रामदास की बेटी हम सबकी बेटी है और इसकी इज्जत मे हमारी सबकी इज्जत है।" यह कहते हुए उन्होंने स्वय अपने पास से पाच सौ की रकम सर्वप्रथम अपनी जेब से निकाल कर रखी तथा गांव के अन्य निवासियो से भी जितना हो सके उसमे मिलाने की अपील की।

बात की बात मे सभी ने जो बना दिया और वह रकम दो हजार से भी अधिक हो गई। दूल्हे के पिता को निश्चित पैसा दे दिया गया तथा बाकी अन्य कार्यों मे खर्च किया गया। विवाह सानन्द समाप्त हुआ और बरात बहू को लेकर लौटी।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्राचीन काल मे जिस प्रकार छोटे व्यक्ति बडो का आदर सम्मान करते थे, उसी प्रकार बडे भी अपने से छोटो पर स्नेह रखते थे तथा उनकी भलाई के लिये सभी कुछ किया जा सकनेवाला कार्य करते थे। उस समय वे नही सोचते थे कि यह हमारा सगा-सबधी या परिवार का व्यक्ति नही है।

आज तो बम्बई, कलकत्ता तथा दिल्ली आदि बडे-बडे शहरो मे तो पडोसी अपने पडोसी का नाम तक जानना नही चाहता। हाँ, भारत के छोटे छोटे गाँवो मे अवश्य ही अपनत्व एव आपसी स्नेह की भावना पाई जाती है।

तथा वहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को उम्र के अनुसार दादा, चाचा, भाई आदि सबोधन से बुलाता है तथा उसी के अनुसार व्यवहार रखता है।

आगे कहा गया है—

हक छीनना किसी का, समझते थे पाप वह।
करते थे अपनी गलतियो पर पश्चाताप वह ॥

प्राचीन समय के सदाचारी व्यक्ति धर्म-भीरू और पाप से डरने वाले होते थे। वे किसी का भी हक छीनना बडा भारी पाप समझते थे चाहे वह भाई, पडौसी या व्यापार का साझीदार, कोई भी क्यो न हो। और कदाचित् परिस्थिति वशात् कभी ऐसा हो जाता तो उसके लिये वे घोर पश्चाताप करके प्रायश्चित्त करते थे।

आज लोगो का खयाल है कि जो कार्य हो चुका है, उसके लिये पश्चाताप करने से कोई लाभ नही। किन्तु ऐसा विचार करने वाले बडी भूल करते है और इससे साबित होता है कि उनके सामने न कोई ऊँचा लक्ष्य है और न ही उन्हे आत्म-शुद्धि की महत्ता का ज्ञान ही है।

पश्चात्ताप करने से आत्मा को बडा लाभ होता है। पाश्चात्ताप की अग्नि मे किये हुए समस्त पाप भस्म हो जाते हैं तथा आत्मा नवीन पाप करने से भयभीत हो जाती है।

एक उर्दू के कवि ने तो पश्चात्ताप का महत्त्व बताते हुए कहा है कि जो व्यक्ति अपने दुष्कृत्यो के लिये पश्चात्ताप नही करेगा उसे अन्त मे भयकर रूप से पछताना पडेगा और मजबूर होकर कहना पडेगा—

मै अपने बद अमलो से हूँ, इस कदर नादम।
कि शरम आती है खुद अपनी शरमसारी पर ॥

—सहर

अर्थात्—मैं अपने कदाचार मे इतना लज्जित हूँ कि मुझे अपनी लज्जा पर भी लज्जा आती है।

आशय यही है कि अगर मनुष्य को अपना जीवन शुद्ध बनाना है तो उसे अपने प्रत्येक पाप की आलोचना और उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये। पश्चात्ताप होने पर मन मे प्रायश्चित की भावना आती है और प्रायश्चित्त करने पर आत्मा शुद्ध बनती है। अगर हम इतिहास उठाकर देखें तो मालूम पड सकता है कि अपने पापो के लिये पश्चात्ताप और प्रायश्चित करते हुए

अनेकानेक पापी भी शुद्ध और साधनामय जीवन को अपनाकर इस ससार से तर गए है ।

स्वय गौतम स्वामी जो पूर्व मे इन्द्रभूति ब्राह्मण थे अनेक यज्ञो का आयोजन करके उनमे निरपराध प्राणियो की बलि का विधान करते थे, डाकू अगुलिमाल, हत्यारा अर्जुन माली आदि अनेको व्यक्तियो के उदाहरण हमारे समक्ष आते है जो महापापी थे, किन्तु अपने पापो पर पश्चात्ताप होने के कारण वे मुक्ति के सही मार्ग को पा सके । और तो और चण्डकौशिक सर्प, जिसके प्रश्वास मात्र से मीलो तक के जीव-जन्तु अपनी इहलीला समाप्त कर जाते थे और जिसके डसने मे लाखो प्राणियो का प्राणनाश हुआ था, वही भयकर भुजग अपने समस्त पापो का घोर पश्चात्ताप करके अपनी आत्मा का कल्याण करने मे समर्थ बन गया ।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि प्राचीन काल के भारतवासी धर्म को सच्चे मायने मे अगीकार करते थे और उसके कारण किसी का भी हक छीन कर उसका दिल दुखाने को घोर पाप समझते थे । तथा सयोगवश कभी ऐसा हो जाता तो उसका सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करते थे । पश्चात्ताप के द्वारा वे अपनी आत्मा को निर्मल बनाकर चारित्र का सही रूप मे पालन करते थे और आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते थे ।

कविता मे आगे कहा गया है—

> पत्नी पति के रजो-अमन मे शरीक थी ।
> अरधगी बनी थी असल मे पत्नी ही ठीक थी ॥

इन लाइनो मे बताया गया है कि उस काल मे पत्नी, नाम मात्र की पत्नी नही होती थी, अपितु वह सच्ची धर्म-पत्नी होती थी जो अपने पति को सुमार्ग पर चलाती थी । अगर कभी पति के कदम धर्म मार्ग के विपरीत उठ जाते अथवा लडखडा जाते तो वह अपनी उचित सलाह, प्रेरणा और प्रयत्न से उसे पुन सत्पथ पर ले आती थी ।

उस काल नारियो मे आत्म-विश्वास से परिपूर्ण दृढ मनोबल होता था इसीलिए सामाजिक, धार्मिक एव राजनीतिक सभी क्षेत्रो मे उन्हे पुरुषो के समान अधिकार प्राप्त था । वे समाज मे हीन नही मानी जाती थी वरन् उन्हे सच्चे रूप मे पुरुष की अर्धांगिनी माना जाता था ।

महाकवि कालिदास की पत्नी ने उन्ही कालिदास को जो निरक्षर भट्टाचार्य थे तथा पेड की जिस डाली पर बैठे थे उसी को काटने का प्रयास कर

रहे थे ऐसे बुद्धिहीन को भी ससार प्रसिद्ध कवि वना दिया। तुलसीदास जी की पत्नी रत्नावली ने भी मोह और वासनाग्रस्त तुलसीदास को धर्म-धुरधर और भगवान का सच्चा भक्त सत तुलसीदास वनाया। सती सावित्री अपने पति सत्यवान को यमराज से छुडाकर ले आई। हमारे जैन इतिहास मे उदाहरण भरे पडे हैं। महारानी चेलना, सती सुभद्रा, सती अजना, महासती चदनवाला आदि ऐसी-ऐसी नारिया हुई हैं जिनकी दृढ आत्म-शक्ति और तेज प्रताप से लोहे की हथकडिया भी साधारण सूत के समान टूट गई, कच्चे सूत के धागे मे वधी चलनी कुए से जल भर कर ले आई, आदि-आदि उदाहरण स्वर्णाक्षरो से अकित हैं।

ऐसी नारियो के त्याग, प्रेम, उदारता, वीरता, सहिष्णुता, धर्मपरायणता आदि अनेक उज्ज्वल गुणो ने मानव को अभिभूत किया है तथा उसे कुमार्ग पर जाने से वचाया है। इसीलिए ससार उसे श्रद्धापूर्ण दृष्टि से देखता रहा है और सम्मानपूर्वक कहता है—"**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।**" यानी जहा नारी की प्रतिष्ठा होती है वह स्थान स्वर्ग तुल्य वन जाता है।

मनुस्मृति मे भी कहा गया है—

शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता, वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥

अर्थात्—जिस कुल मे नारिया दु ख के कारण शोक करती हैं, उस कुल का शीघ्र नाश हो जाता है। और जिस कुल मे नारिया सदा प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सदा उन्नत रहता है।

वस्तुत नर और नारी का महत्त्व समान है और वे रथ के पहियो के समान जीवन रूपी गाडी मे समान रूप से सहायक हैं। आदि काल मे स्त्रियो का स्थान पुरुषो से लेश मात्र भी हीन नही समझा जाता था। यह यथार्थ भी है। प्राचीन सभ्यता इस वात की पुष्टि करती है कि इस आर्यावर्त मे स्त्री और पुरुष के अधिकार समान थे, उनकी प्रतिष्ठा और दर्जा भी समान था। महाभारत मे कहा गया है—

देववत् सतत साध्वी, भर्त्तारमनुपश्यति।
दम्पत्योरेष वै धर्म, सहधर्मकृत शुभ॥

अर्थात्—पत्नी यदि पति को देवता के समान समझती है तो पति भी उसे उसी दृष्टि से देखता है। दम्पति का धर्म एक ही है, यानी सहचारिता दोनो के लिए आवश्यक है।

पर खेद की बात है कि मध्यकाल मे नारी की प्रतिष्ठा का ह्रास होता गया और ज्यो-ज्यो उसकी अवहेलना होती गई, त्यो-त्यो पुरुष वर्ग भी अवनति के गहरे गर्त मे गिरता चला गया। सत्य भी है कि नारी को अबला बना देने के बाद वे स्वय कैसे सबल रह सकते थे ! अबला सबल पुरुष को जन्म ही कैसे दे सकती है ? परिणाम आज हम देखते है कि पुरुष जाति निर्बल, निस्तेज और कदाचारी होती चली जा रही है।

अब कवि की अन्तिम बात सुनिये—

दुश्मन की दुश्मनी मे भी था जजबाए प्यार।
इज्जत थी इन्कसार था और आपसका एतबार॥

कितनी महत्त्वपूर्ण और गौरवपूर्ण बात है यह ? वास्तव मे यह पूर्ण यथार्थ है। उस बीते युग मे क्योकि प्रत्येक व्यक्ति दृढ चारित्र का धारक होता था सद्गुणो से परिपूर्ण भी। अत आपस मे दुश्मन होते हुए भी वे एक दूसरे का विश्वास करते थे, आज के समान धोखे और चोरी मे एक दूसरे पर आक्रमण नही करते थे। उस समय दिनभर एक दूसरे से घोर युद्ध करने वाले भी रात्रि को युद्ध समाप्त करके एक-दूसरे के खेमे मे जाते थे और बुजुर्ग योद्धाओ मे युद्ध के दाव-पेंच भी सीख आते थे। महाभारत के युद्ध के ऐसे अनेक प्रसग हैं जिसमे भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य एव युधिष्ठिर आदि ने अपने विरोधियो की भी निस्सकोच सहायता की है। कहते है कि रावण जब मृत्यु शैय्या पर पडा था, उस समय राम ने लक्ष्मण को रावण के पास नीति की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा था।

अभिप्राय यही है कि उस जमाने मे दुश्मन भी अपने दुश्मन का सम्मान करता था। सिकन्दर और पोरस की लडाई इतिहास प्रसिद्ध है। सिकन्दर ने पोरस को पराजित करके बदी बना लिया था और जब वह सिकन्दर के समीप लाया गया तो सिकन्दर ने पूछा—

"पोरस ! अब बताओ तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव किया जाय ?"

"जैसा बादशाह को बादशाह के साथ करना चाहिए।" पोरस ने उत्तर दिया।

यह पोरस का उत्तर था जो उसने निडर और निस्सकोच होकर दिया था। सिकन्दर अपने दुश्मन पोरस का उत्तर सुनकर प्रभावित हुआ और उसने उसी समय अपने विरोधी वीर को सम्मान सहित मुक्त कर दिया। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो ऐसा भी होता था कि व्यक्ति अपने घोर शत्रु के सरक्षण मे ही अपनी पत्नी, पुत्री अथवा भाई या पुत्र को छोड देता था और उसका शत्रु उस दुश्मन से दुश्मनी रखता हुआ भी उसकी पत्नी या पुत्री को [illegible],

जिम्मेदारी और इज्जत के साथ रक्षा करता था, जितनी कि वह स्वय अपनी पुत्री या पत्नी की करता।

कितना उच्च और महान् जीवन होता था उन प्राचीन लोगो का? कैसी दुश्मनी होती थी उनकी? अपनी शरण मे आये हुए दुश्मन की रक्षा व्यक्ति अपने प्राण देकर भी करता था। यह किस वजह से? अपने उत्तम सस्कार और सदाचार की वजह से ही तो। सदाचार ही उनके जीवन को न्यायप्रिय, निर्मल, निरहकारी तथा गुण दृष्टि से सम्पन्न बनाता था। अपनी गुण दृष्टि के कारण ही वे दुश्मन के गुणो की कद्र करते थे।

आज पुन भारतवासियो को सदाचार सबधी महत्ता प्राप्त करने की आवश्यकता है जो किसी काल मे उन्हे प्राप्त थी। व्यक्ति को यह कभी नही भूलना चाहिए कि केवल प्रकृति के वशीभूत होकर चलने से तथा ससार के मोह मे फसकर नैतिकता और धार्मिकता को न अपनाने से आत्मा की स्वाभाविक पवित्रता धीरे-धीरे पापो से आच्छन्न हो जाती है। आत्मा भय, ग्लानि, हीनता एव अन्य इसी प्रकार की भावनाओ से परिपूर्ण रहती हुई सदैव शकित रहती है.

किन्तु सदाचारी पुरुष की आत्मा मे अतुल बल होता है। अपने सदाचरण के कारण वह पापाचरण की ओर नही झुकता। परिणामस्वरूप उसके मन मे पापो का भय नही होता उनसे परित्राण पाने का भी उसे प्रयत्न अधिक नही करना पडता। वह अपनी आत्मा को इतनी दृढ बना लेता है कि कुबुद्धि उस पर हावी नही होती और वह सहज ही कपायो के प्रकोप से बच जाता है।

कुछ व्यक्ति, जिनकी आत्मा कमजोर होती है और वे इन्द्रिय-जन्य सुखो के आकर्पण से अपने आपको नही बचा पाते, वे कलियुग का हवाला देते हुए कहते है—"क्या करे यह कलियुग है अत इसका प्रभाव पडे बिना नही रहता। कोशिश तो बहुत करते हैं किन्तु समय ही ऐसा है, फिर क्या करे?"

ऐसा कहने वाले बडी भूल करते हैं। वे अपने साथ दुनिया को भी धोखा देना चाहते हैं। सत्य तो यह है कि सदाचारी पुरुप पर कलियुग का कोई प्रभाव नही पड सकता। *सतयुग और कलियुग दोनो ही कही बाहर नही हैं।* अगर व्यक्ति सद्गुणो का सचय करते हुए अपनी आत्मा को निर्लेप रखे एव जीवन को सदाचार युक्त बनाए तो उनके अन्दर सतयुग का भाव बना रह सकता है और अगर वह कुसगति मे रहकर कपायादि विकारो मे बह जाता है तो उसके अन्दर ही कलियुग जन्म ले लेता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन है—

सत्य वचन मानस विमल,
कपट रहित कर लूति।
तुलसी रघुवर सेवकहिं,
सकहि न कलियुग जीति ॥

अगर तुम्हारी वाणी मे सत्य है, मन मे निर्मलता है, तुम्हारी क्रियाएँ कपट रहित हैं और तुम भगवान की भक्ति करने मे तत्पर रहते हो तो कलियुग तुम्हे कभी भी जीत नही सकता। यानी उसे स्वय भी तुम्हारे समक्ष पराजित होना पडेगा।

अतएव वधुओ, प्रत्येक विचारशील प्राणी को सदाचार की शरण ग्रहण करना चाहिए। यह कभी नही भूलना चाहिए कि दुराचारी व्यक्ति यहा से जितना अधिक पाप का भार लेकर प्रयाण करते हैं, उसी परिमाण मे परलोक मे भयानक कष्ट सहन करने के लिये वाध्य होते हैं। किन्तु इसके विपरीत सदाचारी पुरुप अपने शुद्ध एव सरल हृदय की प्रेरणा से शुभ मार्ग पर चलता है तथा निर्भय एव हलका रहकर परलोक की ओर प्रयाण करता है। वह कभी पाप के गड्ढे मे नही गिरता, स्वय ऊचा उठता है तथा अपने ससर्ग से औरो को भी ऊचा उठाता है। वह अपनी जाति और देश को सदाचार की सौरभ से महका देता है अर्थात् उन्हें प्रतिष्ठित और गौरवान्वित वनाता है। सदाचार को अपनाने और उसे दृढ वनाने का भगवान महावीर ने वहुत ही सुन्दर तरीका वताया है। कहा है—

कि मे परो पासइ कि च अप्पा,
कि वाहं खलियं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागय नो पडिबंध कुज्जा ॥

प्रत्येक विवेकी और मुमुक्षु व्यक्ति को यह विचार करना चाहिए कि दूसरे लोग मुझ मे क्या-क्या दोप देख रहे है? मुझे स्वय मे क्या दोप दिखाई देते हैं? क्या मैं इन दोपो का परित्याग नही कर रहा हू? इस प्रकार सम्यक् रूप से अपने दोपो को देखनेवाला साधक भविष्य मे कोई ऐसा कर्म नही करता, जिससे उसके शील और सयम मे वाधा पहुचे तथा कर्मों का वधन हो।

आज हम क्रिया तो वहुत करते हैं किन्तु उसका असर नहीं होता। इसका क्या कारण है? यही कि हम अपने कर्मों मे सत्य, अहिंसा, दया, अक्रोध, सतोप

तथा क्षमा आदि गुणो को नही उतारते। परिणामस्वरूप विटामिन रहित खुराक खाने से जिस प्रकार जीवन चलता तो है किन्तु शरीर पुष्ट नही होता, उसी प्रकार सद्आचरण के अभाव मे जीवन के कार्य होते जाते हैं किन्तु उनसे आत्मा शुद्ध एव पुष्ट नही होती।

आज व्यक्ति जितना जानता है उसका सौवा हिस्सा ही वह अपने आचरण मे नही उतारता। उदाहरणस्वरूप सभी जानते है कि चोरी नही करना चाहिए, झूठ नही बोलना चाहिए, निर्धनो को सताना नही चाहिए तथा हिंसा व दुराचार नही करना चाहिए, किन्तु ये सब बाते जानते हुए भी इन्हे आचरण मे लोग कहा उतारते हैं। "**क्षमा परमो धर्म.**" का नारा सब लगाते हैं तथा सम्वत्सरि पर्व पर सब जबान से क्षमत-क्षमापना भी कहते हैं किन्तु क्षमा करने का जब सही अवसर आता है तब कौन उस पर अमल करता है? बहुत कम, विरले ही कोई ऐसा कर पाते है।

अभय दान देना!

मध्य भारत नीमच मे सेठ गगाराम जी की धर्मपत्नी केसरबाई ने चार पुत्रो को जन्म दिया था। उन चारो मे से एक पुत्र को जुआ खेलने की लत पड गई थी।

एक बार जुए मे हार जाने के कारण वह जुआरी पुत्र अपनी माता केसरबाई के गहने चुराकर ले गया और अपने अन्य तीन साथियो के साथ किसी अन्य शहर को रवाना हो गया। किन्तु उसके साथियो की नीयत बिगड गई और उन तीनो ने 'रेवाडी' नामक स्टेशन के समीप उसे मार डाला तथा आपस मे गहनो का बटवारा करके घर लौट आए।

किन्तु एक कहावत है कि—'पाप सिर पर चढकर बोलता है।' वही हुआ। तीनो जुआरियो मे से एक का अपनी पत्नी से गहनो के कारण झगडा हो गया और स्त्री ने ऊँचे स्वर से कहा—"यह गहना तुम्हारा गगाराम का है जिसके पुत्र को तुम लोगो ने धोखे से मार [illegible] है

स्त्री की बात किसी पडोसी ने सुनली और [illegible] फलस्वरूप तीनो हत्यारे पकडे गए और उनसे समस्त जमा कर लिये गये।

पत्पश्चात् गगारामजी को कोर्ट मे बुलवाया गया तो पत्नी केसरबाई से बयान देने के विषय मे सलाह ली धर्म-परायणा केसरबाई ने सोच विचार कर पति से कह

कि आप केवल गहनो की पहचान बताएँ किन्तु ऐसी कोई बात न कहे जिससे उन हत्यारो के अपराध की पुष्टि हो जाय। यद्यपि हम जानते है कि उन तीनो ने अपने पुत्र का खून किया है किन्तु कानून के अनुसार अगर उन्हे मृत्यु दड दे दिया गया तो उनकी माताओ को भी ऐसा ही घोर दुख होगा जैसा मुझे अपने पुत्र की हत्या के कारण हो रहा है। अत आप उन्हे क्षमा करके अभयदान दीजियेगा।

सेठ गगाराम जी ने यही किया। फलस्वरूप उन्हें गहने मिल गए और वे तीनो हत्यारे भी रिहा हो गये तथा उन्होने कुमार्ग छोडकर सन्मार्ग पर चलने का निश्चय किया ?

क्षमा का कितना जबरदस्त उदाहरण है ? पुत्र के हत्यारो को भी क्षमा कर देने वाले माता-पिता क्या सहज ही मिल सकते है ? नही, ऐसी महान् आत्माएँ क्वचित ही प्राप्त होती हैं और उनमे इतनी जबरदस्त शक्ति उनके सदाचार से जागृत होती है।

आप सभवत नही जानते होगे कि सेठ गगाराम और उनकी सच्ची अर्धांगिनि केसरबाई ही जैन दिवाकर मुनि श्री चौथमल जी म० के माता-पिता थे।

ऐसे सदाचारी और धर्मपरायण व्यक्ति ही स्वय अपना आत्मोत्थान करते हैं तथा औरो को भी उसीमार्ग पर लेकर चलते हैं। हमारे शास्त्र कहते हैं—

भावणा जोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई॥

—सूत्रकृताग, १५-५

अर्थात्—जो आत्मा पवित्र भावनाओ से शुद्ध है, वह जल पर रही हुई नाव के समान है। वह आत्मा नौका की तरह ससार रूप समुद्र के तट पर पहुँच कर सम्पूर्ण दुखो से मुक्त हो जाती है।

ध्यान मे रखने की बात है कि नौका स्वय तो पार होती ही है, वह उन्हे भी पार पहुँचा देती है जो उसका आश्रय लेते हैं। इसी प्रकार सदाचारी पुरुष स्वय भी दुखो से मुक्त होते हैं और अपना सहारा लेने वाले अन्य प्राणियो को भी ससार के दुखो से मुक्त करा देते हैं।

हम देखते हैं कि वही नौका इस किनारे से उस किनारे तक यात्रियो को पहुँचा सकती है जो छिद्र युक्त न हो। छिद्रो वाली नौका न तो स्वय ही पार लग सकती है, न दूसरो को ही पार उतार सकती है। वह निश्चित ही

अतल जल मे डूब जाती है। दूसरे प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन मे दोपो या अवगुणो के छिद्र होंगे वे न तो स्वय ही ससार-सागर से पार उतर पाएगे और न ही ओरो को पार कर सकेंगे। स्वय डूबेंगे तथा दूसरो को भी डुवोयेंगे।

प्रश्न उठता है कि जीवन के वे अवगुण कौन-कौन-से है जो कदाचार वन कर जीवन को दोप युक्त वनाते है? उत्तर है—काम, क्रोध, लोभ, अहकार, असत्य, दम्भ, द्वेप, द्रोह, हिंसा, मोह, विलासिता आदि अनेक दोप है जो जीवन-रूपी नौका के छिद्र हैं। इन छिद्रो के रहते इस नाव का ससार-सागर से पार हो जाना कठिन ही नही, असभव है।

इसलिये जो इम मागर से पार उतरने की आकाक्षा रखता है उसे इन समस्त दोपो से अपने आपको परे रखना चाहिये। तथा स्मरण रखना चाहिये कि व्रत उपवासादि करने की अपेक्षा तथा घोर तप कर्के शरीर को सुखाने की अपेक्षा भी जीवन मे दया, करुणा, स्नेह, सद्भावना, सतोप तथा क्षमा आदि सद्गुणो को उतारना अधिक लाभप्रद है। सामायिक, प्रतिक्रमण, पोपध आदि करने से और भूखे रहने मात्र से ही धर्म का अनुष्ठान नही हो जाता है। व्यक्ति सच्चे मायने मे तभी धर्मात्मा कहला सकता है, जबकि वह सदाचारी वने। उत्तम आचार ही जीवन का सवसे वडा धर्म है।

यजुर्वेद मे भी कहा गया है--

"आचार प्रथमो धर्मो नृणा श्रेयस्करो महान्।"

सात्विक आचार ही पहला धर्म है, और यही मनुष्यो का महान् कल्याण करने वाला है।

तो वन्धुओ, जो विचारशील पुरुप सद्गुणो का सचय करेंगे, उनकी रक्षा करने के लिये सजग और सावधान रहेगे तथा उन्हे अपने जीवन मे उतार कर स्वय सन्मार्ग पर चलते हुए औरो को भी उस पर चलने की प्रेरणा देंगे वे निश्चय ही भव-पारावार के पार पहुँचेंगे तथा अक्षय सुख के अधिकारी वनेंगे।

८ | इन्सान ही ईश्वर बन सकता है !

धर्म प्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

इस विराट विश्व मे मानव जीवन अन्य समस्त प्राणियो की अपेक्षा श्रेष्ठ जीवन है जो अनन्त पुण्यो के फलस्वरुप प्राप्त होता है। एक कवि ने कहा भी है —

नहीं आसान है इन्सान के घर मे जनम पाना।
जन्म लेने से भी मुश्किल है फिर इन्सान कहलाना॥
पशुतर नीच योनी मे भटकते हम रहे अब तक।
खुली किस्मत तो हासिल हो गया इन्सान का वाना॥

कवि का भी यही कथन है कि इन्सान के घर मे जन्म प्राप्त करना अर्थात् मानव पर्याय पा लेना आसान नही है। पशुयोनि और उससे भी निकृष्ट नरक निगोदादि मे अनन्त काल तक भटकने के पश्चात् सौभाग्य से हमे इन्सान का वाना प्राप्त हुआ है।

कवि ने और एक वात अत्यन्त महत्वपूर्ण कह दी है, वह यह कि इन्सान के रूप मे जन्म लेने पर भी इन्सान कहलाना अत्यन्त कठिन है।

आप विचार करते होगे कि जव मानव-शिशु वनकर जन्म लिया है तो फिर मानव तो कहलाएँगे ही, इसमे कौन सी वाधा आती है ? पर इसी वात का उत्तर हमे वडी गहराई मे लेना और समझना होगा।

सच्चा मानव या इन्सान वही कहलाएगा जिसमे मानवता अथवा इन्सानियत होगी। इसके अभाव मे वह केवल आकृति से ही मानव कहलाएगा मानवोचित गुणो से परिपूर्ण मानव नहीं। शरीर से मानव वन जाने पर भी अगर उसमे मानवोचित गुण नही है तो वह पशु के समान अपना पेट भर लेने

अतल जल मे डूब जाती है। दूसरे प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन मे दोपो या अवगुणो के छिद्र होंगे वे न तो स्वय ही ससार-सागर से पार उतर पाएगे और न ही औरो को पार कर सकेंगे। स्वय डूबेंगे तथा दूसरो को भी डुबोयेंगे।

प्रश्न उठता है कि जीवन के वे अवगुण कौन-कौन-से है जो कदाचार बन कर जीवन को दोप युक्त बनाते हैं? उत्तर है—काम, क्रोध, लाभ, अहकार, असत्य, दम्भ, द्वेप, द्रोह, हिंसा, मोह, विलासिता आदि अनेक दोप है जो जीवन-रूपी नौका के छिद्र हैं। इन छिद्रो के रहते इस नाव का ससार-सागर से पार हो जाना कठिन ही नही, असभव है।

इसलिये जो इस सागर से पार उतरने की आकाक्षा रखता है उसे इन समस्त दोपो से अपने आपको परे रखना चाहिये। तथा स्मरण रखना चाहिये कि व्रत उपवासादि करने की अपेक्षा तथा घोर तप करके शरीर को सुखाने की अपेक्षा भी जीवन मे दया, करुणा, स्नेह, मद्भावना, सतोप तथा क्षमा आदि सद्गुणो को उतारना अधिक लाभप्रद है। सामायिक, प्रतिक्रमण, पोपध आदि करने से और भूखे रहने मात्र मे ही धर्म का अनुष्ठान नही हो जाता है। व्यक्ति सच्चे मायने मे तभी धर्मात्मा कहला सकता है, जबकि वह सदाचारी बने। उत्तम आचार ही जीवन का सबसे बडा धर्म है।

यजुर्वेद मे भी कहा गया है--

"आचार प्रथमो धर्मो नृणा श्रेयस्करो महान्।"

सात्विक आचार ही पहला धर्म है, और यही मनुष्यो का महान् कल्याण करने वाला है।

तो बधुओ, जो विचारशील पुरुप सद्गुणो का सचय करेंगे, उनकी रक्षा करने के लिये सजग और सावधान रहेगे तथा उन्हे अपने जीवन मे उतार कर स्वय सन्मार्ग पर चलते हुए औरो को भी उस पर चलने की प्रेरणा देंगे वे निश्चय ही भव-पारावार के पार पहुँचेंगे तथा अक्षय सुख के अधिकारी बनेंगे।

८ | इन्सान ही ईश्वर बन सकता है !

धर्म प्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

इस विराट विश्व मे मानव जीवन अन्य समस्त प्राणियो की अपेक्षा श्रेष्ठ जीवन है जो अनन्त पुण्यो के फलस्वरूप प्राप्त होता है। एक कवि ने कहा भी है —

नहीं आसान है इन्सान के घर मे जनम पाना।
जन्म लेने से भी मुश्किल है फिर इन्सान कहलाना॥
पशुतर नीच योनी मे भटकते हम रहे अब तक।
खुली किस्मत तो हासिल हो गया इन्सान का बाना॥

कवि का भी यही कथन है कि इन्सान के घर मे जन्म प्राप्त करना अर्थात् मानव पर्याय पा लेना आसान नही है। पशुयोनि और उससे भी निकृष्ट नरक निगोदादि मे अनन्त काल तक भटकने के पश्चात् सौभाग्य से हमे इन्सान का बाना प्राप्त हुआ है।

कवि ने और एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण कह दी है, वह यह कि इन्सान के रूप मे जन्म लेने पर भी इन्सान कहलाना अत्यन्त कठिन है।

आप विचार करते होगे कि जब मानव-शिशु बनकर जन्म लिया है तो फिर मानव तो कहलाएँगे ही, इसमे कौन सी बाधा आती है ? पर इसी बात का उत्तर हमे बडी गहराई से लेना और समझना होगा।

सच्चा मानव या इन्सान वही कहलाएगा जिसमे मानवता अथवा इन्सानियत होगी। इसके अभाव मे वह केवल आकृति से ही मानव कहलाएगा मानवोचित गुणो से परिपूर्ण मानव नही। शरीर से मानव बन जाने पर भी अगर उसमे मानवोचित गुण नही है तो वह पशु के समान अपना पेट भर लेने

के कारण पशु से अधिक श्रेष्ठ नही माना जा सकता क्योकि खाना और सोना तो पशु भी जानते है फिर पशु और उन आकृतिधारी मनुष्यो मे अन्तर ही क्या रहा ?

आज भारत मे आकृति से मनुष्य कहलानवालो की कमी नही है। जन सख्या बढती जा रही है और इसीलिये परिवार-नियोजन का प्रयत्न चालू है। तो मनुष्यो की कमी यहाँ नही है, कमी है मानवता प्राप्त कर लेने वाले सच्चे मानवो की। मानव तो हमे प्रत्येक कदम पर मिलते हैं किन्तु मानवता कितनो मे मिलती है यह जानना बडा कठिन है। आज की बढती हुई बेकारी के युग मे आप नौकरी देने के लिये एक उम्मीदवार का विज्ञापन दिलवा दीजिये, और कल ही आपको एक सौ मनुष्य मिल जाएँगे। पर वे केवल पेट-पूर्ति के लिये ही काम करने वाले होगे। उनमे सच्चे मानव नही मिलेंगे।

हम देखते है कि आज किसी को हम गधा कह दे तो उसके क्रोध का पारा अपनी सर्वोच्च सीमा पार कर जाता है। अपने आपको पशु कहलवाना कोई भी पसद नही करता। किन्तु अगर दीर्घ दृष्टि से देखा जाय तो हमे ऐसे मनुष्य ही अधिक मिलेंगे जिन्हे पशु कहना पशुओ का भी अनादर करना है। बेचारे पशु अपनी भूख-प्यास मिटाते हैं और अपने आप मे मगन रहते हैं। वे अन्य किसी का बुरा नही सोचते, किसी से ईर्ष्या नही करते और अकारण किसी को कष्ट नही पहुँचाते। किन्तु मानव तो हमे ऐसे ही अधिक मिलेंगे जो औरो की बढती को देखकर जल-भुन जाएँगे और उन्हें नीचा दिखाने के प्रयत्न मे ही सदा बने रहेंगे। अपने भोग-विलास के साधनो की पूर्ति करने के लिये वे न जाने कितने निर्धनो के पेट पर लात मारते हुए देखे जाएँगे और अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये जघन्य काय करने मे भी नही चूकेंगे।

इसीलिये मैंने अपने पिछले एक प्रवचन मे भर्तृहरि के श्लोक के आधार पर प्रश्नोत्तर के रूप मे बताया था कि जिन मनुष्यो मे विद्या, तप, ज्ञान, शील, गुण तथा धर्म आदि चीजें नही है वह पृथ्वी पर भारभूत है तथा पशु से भी गया बीता है, और ऐसे व्यक्ति से पशु भी अपनी तुलना किया जाना पसद नही करते।

आपके हृदय मे एक छोटा सा प्रश्न सम्भवत खडा होगा कि मानव और मानवता मे क्या अन्तर है ? सक्षिप्त रूप से इसका यही उत्तर दिया जा सकता है कि मानव और मानवता मे उतना ही अन्तर है जितना मिट्टी और घडे मे। कच्ची मिट्टी न जल भरने के काम मे आती है और न ही किसी अन्य पदार्थ को उसमे रखा जा सकता है। कुम्हार मिट्टी मे पानी डालकर

उसे पैरो से खूब गूँधता है, ठोक-पीट कर उसका पिंड वनाता है, चाक पर चढाकर सही आकृति प्रदान करता है और उसके पश्चात् ही अग्नि मे झोककर उसे पकाता है। तव कही जाकर वह मगल कलश के रूप मे दुनिया मे आता है तथा सन्नारियो के मस्तक की शोभा बढाता है।

कहिये ! कितनी कठिनाइयो मे से घडा गुजरा ? तव कही लोग उसे शुभ और उपयोगी समझने लगे। इसी प्रकार जव तक मानव आकृति से ही मानव रहता है, वह मिट्टी के समान किसी के लिये भी उपयोगी नही होता उलटे, अपने स्वार्थ के कारण औरो के लिये सिर दर्द वन जाता है, जवकि वेचारी मिट्टी तो मिट्टी के रूप मे रहकर किसी का अहित नही करती।

तो मैं बता यह रहा था कि मात्र आकृति से रहा हुआ मानव सच्चा मानव नही कहला सकता। वह तभी मानव कहलाने का अधिकारी वनेगा जव उसमे मानवोचित गुण आएँगे। अर्थात् जव दीन-दुखी व्यक्तियो को देख कर उसके हृदय मे करुणा का उद्रेक होगा और वह अपनी शक्ति के अनुसार उनके कष्टो को मिटाने का प्रयत्न करेगा, नारियो के प्रति माता और वहन भाव रखते हुए वक्त आ पडने पर उनकी इज्जत की रक्षा के लिये अपने प्राणो की वाजी लगाने के लिये भी तैयार रहेगा, रोग-पीडित प्राणी की सेवा-सुश्रुषा के लिये कटिवद्ध रहेगा, तथा धर्म का आचरण स्वय करते हुए औरो को भी सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देगा तभी वह सच्चा मानव या सच्चा इन्सान कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकेगा।

कवि ने आगे कहा है—

गति इन्सान की सबसे है उत्तम इसलिये मानी।
कि शक्ति है फकत इन्सान की मुक्ति को पा जाना ॥
यह वो इन्सान है, जिसको झुकाया सर है देवों ने।
यही इन्सान सीखा है, जो इश्वर बन के दिखलाना ॥

इस ससार मे जीव चार गतियो मे जन्म लेता है। वे हैं—नरकगति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति। अनन्तानन्त काल तक नरक निगोदादि निकृष्ट योनियो मे पुन पुन जन्ममरण करने के पश्चात् जीव मनुष्य और देव योनि प्राप्त करता है। मनुष्य गति और देव गति दोनो उत्तम है किन्तु इन दोनो मे भी श्रेष्ठ है मनुष्य गति। आप सोचेंगे, मनुष्य तो स्वर्ग मे देव वन जाने की अभिलाषा रखते हैं तथा इसीलिये प्रयत्न करते हैं कि हमे स्वर्ग मिले।

आपका विचार सही है स्वर्ग मे देव वनने पर जीव अतुल ऋद्धि का

स्वामी बनता है और मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुखो का उपभोग करता है। किन्तु उससे स्थायी लाभ क्या है? वहाँ का समय पूरा करने के पश्चात् फिर उसका ससार-भ्रमण चालू हो जाता है। क्योकि वह कर्मों को काटकर ससार मे मुक्त होने की करणी तो स्वर्ग मे कर ही नही सकता। ऐसी शक्ति, करणी सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके मोक्ष गति प्राप्त करने की ताकत केवल मनुष्य मे ही है। वही अपनी उत्तमोत्तम करनी के द्वारा ससार से मुक्त होकर ईश्वरत्व को भी प्राप्त कर लेता है।

एक पाश्चात्य विद्वान् डिजरायली का कथन भी है—

"Man that is made in the image of the crertor is made for godlike deeds,"

मनुष्य ही सृष्टिकर्ता के प्रतिविम्ब मे ईश्वरतुल्य कार्य के लिये बनाया गया है।

अभिप्राय यही है कि इन्सान चाहे तो देवता तो क्या ईश्वर भी बन सकता है। पर देव ऐसा नही कर सकते अर्थात् वे कदापि कर्म नाश करके ईश्वरत्व को प्राप्त नही कर सकते और इसीलिये उन्हे मनुष्य के समक्ष अपना मस्तक झुकाना पडता है।

कविता के आगे की लाइने हैं —

> तपस्या से इसी ने जाल, कर्मों का जला डाला।
> धर्म पर वीर बनकर जल गया यह् मिसले परवाना॥
> इसी ने राम बनकर बन मे चौदह साल काटे थे।
> यही इन्सान था गाँधी, है भारत जिस पै दीवाना॥

इन पक्तियो मे भी मनुष्य का महत्त्व बताते हुए कहा गया है—वह इन्सान ही था, जिसने घोर तप करके अपने कर्मों का सम्पूर्णतया नाशकर लिया, वह इन्सान ही था जो धर्म के लिये इस प्रकार बलिदान हो गया, जिस प्रकार दीपक के ऊपर पतिगा मर मिटता है।

आगे कहा है—वह राम इन्सान ही था, जिसने अपने पिता के वचन की रक्षा करने के लिये चौदह वर्ष घोर जगल मे बिताए तथा समस्त मानवोचित गुणो को अपने मे धारण करके मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप मे ससार के समक्ष आदर्श बन गया। इतना ही नही, वह गाँधी भी इन्सान था जिसने ससार के भोगोपभोगो का त्याग करके लगोटी धारण की तथा भारत के करोडो व्यक्तियो को अहिंसा के मार्ग पर चलाकर भी सैकडो वर्षों के गुलाम भारत को परतत्रता की बेडियो से छुडाकर आजाद किया। मुट्ठीभर हड्डियो

के उस व्यक्ति मे कितनी ताकत थी कि उसने ससार के सम्पूर्ण देशो को अपने सत्य और अहिसा के सिद्धातो के समक्ष झुकाया तथा भारत का लोहा मानने को मजबूर कर दिया। युग-युग तक जिस राम और गांधी को ससार स्मरण करेगा वे इन्सान ही तो थे।

आगे कहा गया है —

इसी ने वीर भामा बनके, वोह राणा की सेवा की।
है गाता गीत जिसके, आज तक सब राजपूताना ।।
रत्न पाकर भी बदकिस्मत, जो मिट्टी मे मिला बैठे।
न उसको गर कहे मूरख कहे क्या आप फरमाना ।।

कवि का कथन है—इसी इन्सान ने वीर भामाशाह के रूप मे अपनी उदारता का सिक्का चारो ओर जमाया। अपनी अथाह दौलत को अपने देश की रक्षा के निमित्त अर्पण करके महाराणा प्रताप की उसने जो सहायता की थी वह इतिहास मे स्वर्णाक्षरो से सदा के लिये अकित हो गई। राजपूताने के उस महान् व्यक्ति की गुणगाथा आप लोग भी गद्गद् होकर गाते हैं।

किन्तु अन्त मे कवि यही कहता है कि ऐसे महान् और असभव कार्यों को भी सभव बना सकने की क्षमता रखने वाले मानव जन्म रूपी अनमोल चिन्तामणि रत्न को पाकर भी जो व्यक्ति उससे लाभ नही उठाता, अपने दुर्भाग्य और दुष्कर्मों के कारण उसे मिट्टी मे मिला देता है उसे हम मूर्ख न कहे तो आप ही बताइये क्या कहे ?

बघुओ, क्या कवि का कथन यथार्थ नही है ? जिस मानव शरीर के द्वारा वह ईश्वर बन सकता है, उसी के द्वारा अपनी आत्मा को नरक, निगोद, तिर्यंच आदि योनियो मे लेजाकर असह्य दुख प्रदान कराना क्या मूर्खता नही है ? निश्चय ही इससे बढकर भयकर भूल और मूर्खता अन्य कोई नही हो सकती। इसीलिये सत, महापुरुष एव हमारे शास्त्र सदा प्राणी को उद्बोधन देते हैं तथा उसे जाग्रत होने की प्रेरणा देते हैं। उपनिषद् मे एक वाक्य कहा गया है —

"उत्तिष्ठत जाग्रत ! प्राप्य वरान् निबोधत।"

इसका अर्थ है—उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषो का आशीर्वाद लो तथा औरो को बोध दो।

आप सोचेंगे हम तो जाग रहे हैं और बैठे हुए हैं फिर उठना और जागना कैसा ?

पर यहा जागने से अभिप्राय आपकी इस द्रव्य-निद्रा से नही है अपितु प्रमाद की नीद से है। जो प्रमाद निद्रा हमे शुभ कार्यों के करने मे बाधा डालती है उस निद्रा से जगाने की प्रेरणा उपनिपद् दे रहे हैं। प्रमाद-निद्रा में सोते-सोते तो जीव को अनन्त काल व्यतीत हो गया है और महा मुश्किल से अब वह मानव शरीर प्राप्त कर सका है, जिसमे शुभ कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। पर इसे भी अगर इसी प्रकार सोते हुए खो दिया तो फिर न जाने चौरासी लाख योनियो मे से कौन-कौन-सी निकृष्ट योनि मे आत्मा कैद होगी जहा फिर कुछ भी नही किया जा सकेगा। यह जीवन दान देने, परोपकार करने, तप करने, सयम का पालन करने के लिये और सक्षेप मे धर्माराधन करके आत्मा को ससार मुक्त करने के लिये है। यही उपदेश सत देते हैं तथा शास्त्र भी यही कहते हैं।

किन्तु वही उपदेश भव्य प्राणी पूर्णतया ग्रहण कर लेते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जो थोडा बहुत अपनाते हैं किन्तु कुछ अभव्य ऐसे भी होते हैं जिन्हे रच मात्र भी वह नही लगते। ऐसे व्यक्ति अनन्त काल से जन्म-मरण करते आए हैं और अनन्त काल तक करते ही रहेगे।

किन्तु बधुओ, हमे ऐसा नही करना है तथा शास्त्रो के इन उपदेशो को पूर्णत अपनाना है जो पुकार कर कहते हैं —

जागरह ! णरा णिच्च, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
जो सुवति न सो सुहितो, जो जग्गति सो सया सुहितो॥
सुवति सुवंतस्ससुयं, सकिय खलियभवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्स सुय, थिर - परिचितमप्पमत्तस्स॥

—निशीथभाष्य

कहा है—'मनुष्यो सदा जागते रहो, जागने वाले की बुद्धि सदा वर्धमान रहती है। जो सोता है वह सुखी नही होता, जागृत रहने वाला ही सुखी रहता है।

सोते हुए का श्रुत-ज्ञान सुप्त रहता है, प्रमत्त रहने वाले का ज्ञान शकित एव स्खलित हो जाता है। जो अप्रमत्तभाव से जागृत रहता है उसका ज्ञान सदा स्थिर एव परिचित रहता है। यानी अप्रमत्त की प्रज्ञा सदा जाग्रत रहती है।

इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को सदैव भाव निद्रा से जागृत रहना चाहिए तथा स्वय तो सद्गुरुओ से बोध प्राप्त करना ही चाहिए साथ ही अपने सम्पर्क मे

आने वाले अन्य प्राणियों को भी उद्बोधन देते हुए उन्हे सत्पथ पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। शास्त्रो के इन उपदेशो पर जिन्होने पूर्व मे अमल किया है, उनका उद्धार हुआ है और जो भविष्य मे अमल करेंगे उनका भी निश्चय ही उद्धार होगा।

एक गुजराती कवि ने भी अपने काव्य मे कहा है—

समय सरखा नथी सहुना, सदा तडका अने छाया।
वखत आये जरुर व्हाला, भला थइने भलु करजो ॥

क्या कह रहे हैं ? यही कि ससार मे सभी के लिए समय एक सा नही रहता। कोई यहा अमीर है और कोई गरीब है। कोई विद्वान् है और कोई अनपढ। कोई बुद्धिमान है, कोई मूर्ख। कोई रोगी है और कोई निरोग। इस प्रकार किसी पर सुख की शीतल छाया है तो किसी पर दुःख की कडी धूप भी है। अत व्हाला भाई ! यानी प्रिय भाई, तुम स्वय तो भले बनना ही साथ ही औरो का भी भला करना।

'व्हाला' शब्द कितना प्रिय लगता है ? प्रिय शब्द प्रभावशाली होते हैं तथा जो कार्य व्यक्ति डाट-फटकार से नही करा सकता वे ही कार्य अन्य व्यक्ति से मधुर बोलकर कराये जा सकते हैं। उपदेश भी अगर प्रिय शब्दो मे दिया जाय तो अधिक उपयोगी बनता है।

जिस प्रकार सुनार सुवर्ण के आभूषण ठोक-पीटकर बनाता है किन्तु विवेक और सावधानी से पहले एक तरफ और फिर दूसरी तरफ बडे धीरे-धीरे ठोककर उन्हे गढता है तो आभूषण उसकी इच्छानुसार सुन्दर बन जाते हैं। इसी प्रकार शिक्षा भी प्रिय शब्दो मे दी जाय तो उसका सुनने वाले पर अच्छा असर पडता है।

सत भी अगर प्रिय भाषा मे बोलें तो आप लोग प्रसन्न होते हैं और तनिक भी अप्रिय कह दिया तो कह देते हैं—'महाराज बोलते तो अच्छा है लेकिन ।' बस ! यह लेकिन जहाँ आया सारा मामला बिगड जाता है।

मराठी भाषा मे भी कहा जाता है —

लोक—म्हणतात्' अहो हे महाराज, बोल तात तर फार चागले, पण ' तर हे 'पण' जेथे आले तेथें सर्वगेले।

आशय यही है कि मनुष्य पहले स्वय भला अर्थात् अच्छा बने और फिर दूसरो की भलाई करे। भला बनना भी सरल नही है। बडा जोर पडता है

इसमें । अच्छा वनने की सवसे पहली शर्त तो यही है कि मानव अपने मे सहन शक्ति पैदा करे । वह कभी यह न भूले कि —

जैसी परे सो सहि रहे, कहि रहीम यह देह ।
धरती ही पर परत सव, शीत घाम अरु मेह ।।

कविवर रहीम का कथन है कि पृथ्वी पर सर्दी, गर्मी और वर्पा सभी गिरते है किन्तु वह सव जिस प्रकार सहन कर लेती है, उसी प्रकार मनुष्य को भी चाहे जैसी विपत्ति या शारीरिक कष्ट आए उसे पृथ्वी के समान ही सहन करना चाहिये । यह ससार व्यक्ति को अच्छा भी नही वनने देता । अगर हम महापुरुपो की जीवनियाँ पढे तो ज्ञात होता है कि साधारण व्यक्तियो की अपेक्षा उन्हे अधिक कष्ट और उपसर्ग सहन करने पडते हैं ।

हम लोग अपने पात्र झोली मे लेकर चलते है तो भी नाना प्रकार के व्यग वरसाते हैं । कोई कहता है—'इसमे क्या लाए हो ? क्या वेचते हो ?

हम कहते हैं—'भाई ! हम वेचते कुछ नही, खाली पात्र है हमारे पास ।' तो वे पुन कहते हैं—'ससार चलाना नही आया इसलिये साधु वन गए ?' इसका क्या जवाव दे, मन मे कहते हैं—'भाई, तुम होशियार हो अत ससार चला सकते हो हमे चलाना नही आया इसीलिये तो साधु वने है ।' कोई कहता है—'मुफ्त मे खाने को मिलता है इसलिये साधु वन गये ।' यद्यपि उस व्यक्ति के यहाँ हम भिक्षा के लिये नही गए और उससे कभी कुछ लिया नही, फिर भी वह कहने से नही चूकता और हम सुनते हैं । यद्यपि हम जानते हैं *कि वह व्यक्ति अगर हमे भिक्षा देता भी तो उससे हमारी एक वक्त की ही* पेट-पूर्ति होती किन्तु अगर वह हमारी दी हुई भिक्षा ले ले तो उसकी जन्म-जन्म की भूख मिट सकती है ।

पर वह अज्ञान जीव इस वात को कैसे समझता, उस समय तो हमे ही मौन रहना पडता है । और तो और समाज मे भी ऐसे व्यक्तियो की कमी नही है । जो व्यक्ति देश के लिये या समाज के लिये कार्य करता है, उसके कार्य मे भी लोग नुक्स ही निकालते हैं । की हुई अच्छाई को नही देखते । साधु-साध्वी, श्रावक एव श्राविका सभी ने मिलकर मुझे यह आचार्य पद प्रदान कर दिया किन्तु कार्य करने पर भी मुझे न जाने कितना और क्या-क्या सुनना पडता है । किन्तु इसमे क्या, सेवा करनी है तो सुननी ही पडेगी ।

आगे कहा गया है —

अमी ने नयन मा राखी, हृदय मा रहम ने राखी ।
कहेला कुवचन राखी, भला थइने भलू कर जो ।।

कितनी सुन्दर शिक्षा है कि—आँखो मे स्नेह का अमृत रखो, हृदय मे दया रखो और किसी के द्वारा कहे हुए कुवचनो को कान तक ही रहने दो। तुम तो केवल भले बनो और दूसरो का भला करो।

मनुष्य की आँखें उसके हृदय की तालिका और आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। आँखें ही मनुष्य के चरित्र, व्यक्तित्व और उसकी अन्त प्रवृत्ति का एक मात्र दर्पण है। मन के प्रत्येक भाव को आँखो से भलीभाँति जाना जा सकता है। जिस प्रकार आँखो से क्रोध स्पष्ट झलकता है, उसी प्रकार स्नेह भी।

भगवान महावीर की आँखो ने ही उनके अँगूठे मे दश देते हुए चड-कौशिक सर्प को अपने स्नेह के द्वारा मुग्ध कर लिया था तथा उसे अपने कृत कर्म का पश्चात्ताप करने को बाध्य किया था। आँखो की भाषा तो पशु-पक्षी भी सहज ही पढ लेते है। अधिक क्या कहे, छोटे-छोटे शिशु भी जान जाते हैं कि उनकी ओर देखनेवाले की दृष्टि मे स्नेह है या नही। इसीलिये जन-हितैषी पुरुष को अपने नेत्र सदा ही प्रेमामृत से छलकते हुए रखने चाहिये ताकि उसके कार्य का, उसकी बात का तथा उसके आचरण का प्रभाव लोगो पर शीघ्र और स्थायी रहने वाला पडे।

दूसरी बात है हृदय मे रहम रखने की। रहम के विषय मे आप भली-भाँति जानते है। जिसके हृदय मे रहम या दया होगी वह कभी किसी पर अन्याय और अत्याचार तो करेगा ही नही, किसी का बुरा करने की भावना को भी वह अपने अन्दर नही पनपने देगा। दयालु व्यक्ति प्रत्येक प्राणी की आत्मा को परमात्मा का ही अश मानता है। महात्मा कबीर ने भी कहा है—

दया कौन पर कीजिये, का पर निर्दय होय।
साई के सब जीव हैं, कीरी कुजर दोय॥

अर्थात्—इस ससार मे चीटी से लेकर हाथी तक, सभी प्राणी तो उस एक ही परम पिता परमात्मा के अश हैं। फिर किस पर दया की जाय और किस पर निर्दयी बना जाय?

आशय यही है कि व्यक्ति के समक्ष महापापी हो या पुण्यात्मा उसे सभी पर समान भाव से दया रखनी चाहिये। आचार्य हरिभद्र सूरि ने बडी मर्म-स्पर्शी बात बताई है—

सेयवरो या आसवरो वा बुद्धो वा, तहेव अन्नो वा।
समभाव-भाविअप्पा लहइ मोक्ख न सदेहो॥

कहा है—व्यक्ति चाहे श्वेताम्बर हो, दिगबर हो, बौद्ध हो या अन्य कोई भी हो, समता से भावित आत्मा ही मोक्ष पा सकती है इसमे तनिक भी सदेह नही है।

इस ससार मे अनेक धर्म हैं, अनेक पथ और सम्प्रदाय हैं। सभी मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं और इसके लिये प्रयत्न करते हैं। किन्तु किसी का भी यह कहना कि हमारे धर्म का अवलबन लेने वाला ही मोक्ष मे जा सकता है, वह गलत और भ्रमपूर्ण है। अपने पथ या सप्रदाय को ही धर्म मान लेने से बढकर भूल और कोई नही है।

व्यक्ति को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि धर्म केवल आत्मा से सबध रखता है, दूसरे शब्दो मे धर्म आत्मा ही है ओर पथ तथा सम्प्रदाय उसके भिन्न-भिन्न कलेवर यानी खोल हैं। खोल कोई भी हो, उससे फर्क नही पडता, अगर धर्म आत्मा मे है या आत्मा धर्ममय है।

आत्मा का धर्म है ऊँचा उठना। और वह अहिंसा, सत्य, सयम तथा तप आदि के द्वारा ही विशुद्ध और पाप-कर्मो के भार से हलकी होकर ऊँची उठ सकती है।

आशय यही है कि धर्म का स्थान केवल आत्मा मे है। वह किसी पथ या सम्प्रदाय रूपी खोल मे नही रहता या मदिर, मसजिद, गिरजाघर, गुरु द्वारा या स्थानक मे निवास नही करता। उसे प्राप्त करने के लिये किसी सम्प्रदाय का खोल चढाने की जरूरत नही है और किसी विशेष स्थान पर जाकर मस्तक झुकाने को भी आवश्यकता नही है।

बधुओ, यहाँ मैं आपको विशेष ध्यान से यह जानने को कहता हूँ कि विभिन्न सम्प्रदायो या धर्मस्थानो से मेरा विरोध नही है। वे सब साधन हैं और उनका उपयोग करना बुरा नही है, बुरा है एक दूसरे की निंदा करना। यह दावा या कदाग्रह करना कि मेरा धर्म ही मुक्ति प्रदान करने वाला है, यह गलत है। क्योकि धर्म केवल आत्मा है आत्मा मे ही रहता है। उसका कोई खोल नही है, कोई स्थान नही है। आत्मा के अलावा उसे अन्य किसी स्थान पर खोजना मानव की सबसे बडी भूल है।

किसी कवि ने अपनी एक कुडलिया मे भी बडे सुन्दर ढग से यह बात समझाई है—

फाँदी तें आकाश को, पठवौ तें पाताल।
दसौ दिशा मे तू फिर्‌यौ, ऐसी चचल चाल॥

ऐसी चचल चाल, इतै कवहूँ नहिं आयो।
वुद्धि सदन को पाय, छिनहूँ नहिं ताहि छुवायो ॥
देख्यो नहिं निज रूप कूप अमृत को छाद्यो।
ऐ रे मन मतिमूढ़ ! क्यो न भव-वारिधि फाँद्यो ॥

कोई भव्य प्राणी वहुत काल तक वाह्य स्थानो मे धर्म, शाति अथवा ईश्वर की खोज मे भटकने के पश्चात् जव धर्म के मर्म को समझ लेता है तो अपने मन को ताडना देते हुए कहता है–"अरे मूढ मन ! तू सच्चे सुख की खोज मे आकाश को उलाँघ गया, पाताल मे प्रवेश कर गया और अपनी चचल चाल से दसो दिशाओ मे निरर्थक घूमता रहा, किन्तु कभी इधर आत्मा के अन्दर नही आया। अपने पास वुद्धि का खजाना होते हुए भी तूने उसका उपयोग करके आत्मा मे नही झाका। कभी तूने नही देखा कि सुख रूपी अमृत का कुआ तो तेरे अन्दर ही हिलोरें ले रहा है। अरे मूर्ख मन ! तूने अव तक इस आत्म-रूप नाव मे चढकर भव-सागर को क्यो नही पार कर लिया ?

साराश कवि के कहने का यही है कि अज्ञानी लोग 'वगल मे छोरा और शहर मे ढिंढोरा।' यह कहावत चरितार्थ करते हैं। यानी ईश्वर को, जो कि आत्मा के अन्दर ही है, वहा न खोजकर उसे पाने के लिए नाना तीर्थों मे भटकते हैं किन्तु वहा वह मिलता भी नही और वृथा परेशानी होती है। कवि की वात ठीक ही है, क्योकि जो अन्दर है वह वाहर कैसे प्राप्त हो सकता है ?

तो हमारा विपय गुजराती कविता के आधार पर यह चल रहा था कि नयनो मे प्रेम का अमृत, हृदय मे रहम और किसी के कहे गए कुवचनो को कानो तक ही सीमित रखकर मनुष्य भला वने और ओरो का भला करने का प्रयत्न करे। जो व्यक्ति ओरो की भलाई अथवा परोपकार करने की भावना नही रखता वह मनुष्य होकर भी मनुष्य कहलाने का अधिकारी नही है। परोपकार ही मनुष्य को सदाचारी वनाता है तथा उसे ऊचा उठाता है।

फारसी भापा के कवि शेखसादी ने कहा है—

चू इन्सारा न वाशद फजलो ऐहसा।
जे फर्कज आदमी ता नक्श दीवार ॥

यदि मनुष्य मे भलाई करने की भावना नही है तो उसमे और दीवार पर अकित किए गए चित्र मे क्या अन्तर है ?

परोपकार के लिए महापुरुपो ने क्या क्या नही किया ? दधीचि ने अपनी हड्डिया दान कर दी थी, सोलहवे तीर्थंकर श्री शातिनाथ जी भगवान के पूर्व

भव मे मेघरथ राजा ने तथा राजा शिवि ने एक कबूतर के लिए अपने शरीर का मास काट-काट कर तराजू पर रख दिया। हमारा धर्म तो कहता है— अपने दुश्मन का भी तुम उपकार करो, कभी उसका बुरा मत सोचो। अल्प वयस के मुनिगजसुकुमाल के मस्तक पर उनके ससुर सोमिल ब्राह्मण ने धध-कते हुए अगारे रख दिए थे। किन्तु उनके मन मे समय मात्र के लिए भी उसके इस कुकृत्य के प्रति दुर्भावना नही आई। इसी का परिणाम था कि अल्पक्षणो मे ही वे भावो की उत्कृष्टता के कारण सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके ससार से मुक्त हो गए।

तात्पर्य यही है कि वही महापुरुष अपना कल्याण कर सकता है, जिसके हृदय मे प्राणीमात्र के प्रति प्रेम की भावना हो और जो अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिपल औरो का भला करने का प्रयत्न करे। जो भव्य प्राणी परोप-कार की भावना रखते थे, उनका ही इस ससार से उद्धार हुआ है और जो इस भावना को नही रख सके वे अब तक यहा भटकते रहते हैं। परोपकार करने की वृत्ति न रहे तो पुण्योपार्जन का कोई साधन मनुष्य के पास नही रह जाता।

सस्कृत मे कहा गया है—

परोपकारशून्यस्य, धिक् मनुष्यस्य जीवितम्।
धन्यामास्ते पशवो येषाम्, चर्माप्प करोति हि।
आत्मार्थं जीवकेऽस्मिन् को न जीवति मानव ?
वर परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति॥

सस्कृत साहित्य मे बताया है कि—जो व्यक्ति परोपकार-शून्य हैं, उनके जीवन के धिक्कार है। उनसे पशु ही अच्छे जिनकी चमडी भी पराये काम आती है।

अपने लिए इस जीव लोक मे कौन मनुष्य नही जीता ? किन्तु सच्चे मायने मे वही जीता है, जो परोपकार के लिए जीता है। अन्यथा तो व्यक्ति जीवित भी मरे के समान ही है।

वस्तुत जो व्यक्ति स्वार्थी है और केवल अपना ही भला चाहते हैं ऐसे व्यक्तियो के जीवन से क्या लाभ है ? उनसे तो पशु ही अच्छे होते हैं। जो जब तक जीवित रहते हैं सबका उपकार करते हैं। हम देखते ही है, गाय दूध देती है जिससे नाना प्रकार की पौष्टिक वस्तुए बनती हैं और वे मनुष्य के शरीर को पुष्ट बनाती हुई उसे अधिक समय तक विद्यमान रखती है। बैल भी जीवन भर मनो भार ढोकर मनुष्य की कठिनाईया हल करते हैं और

मरने के बाद भी उनके नाखून, सीग, चमडी और हड्डिया सभी काम आते हैं। मासाहारी व्यक्ति उनके मास को भी अपने उदरस्थ कर लेते हैं।

इसीलिए इन पशुओ को धन्य कहा है जो कि जीवित रह कर भी परोपकार करते है और मरने ने पश्चात् भी उपकार करते हैं। किन्तु मनुष्य जो कि जीवित रहते हुए भी अपना ही भला देखता है और मरने पर भी उसका शरीर किसी काम नही आता। ऐसे जीवन से क्या लाभ है ? जीना उसी का सार्थक है जो औरो के लिए जीता है।

गुजराती कविता मे आगे बताया गया है—

खिल्या पुष्पो खरीजाशे, जे जन्म्या छे मरी जाशे।
उदय नु अस्त ये न्याये, भला थइने भलू कर जो॥

इस ससार मे सब कुछ नाशमान है। बगीचो मे खिले हुए पुष्प सभी गिर कर सूख जायेंगे, जो जीव जन्मे हैं, वे मृत्यु को प्राप्त होंगे,। भाव यही है कि उदय होने पर उसका अस्त निश्चय ही होगा। यही ससार का नियम है।

अत ससार का मोह त्याग देने मे ही सार है। जब तक हमारे शरीर मे श्वास आती जाती है, तभी तक सारे सगे-सम्बन्धी हमे दिखाई देते हैं पर सास का नाश होते ही ये सब ओझल हो जायेंगे, नजर ही नही आएँगे। जिस प्रकार किसी वृक्ष पर रात को विभिन्न स्थानो से आकर हजारो पक्षी वसेरा लेते हैं और प्रात काल होते ही उड जाते हैं। इसी प्रकार यह जगत भी है जहा थोडे समय के लिए अनेक जीव आकर सगे-सबधी बन जाते हैं। और मौत का नगारा बजते ही अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियो मे चले जाते हैं। तो जिस प्रकार वृक्ष पर रात को बसेरा लेने वाले पक्षियो का आपस मे नाता जोडना निरर्थक है उसी प्रकार मनुष्य को भी थोडे समय के जीवन मे एक दूसरे से मम-व मे बधना भी निरर्थक है।

कवि सुन्दरदास जी का कथन है—

बालू के मन्दिर माहि, बैठि रह्यो थिर होइ।
राखत है जीवन की आस केउ दिन की॥
पल-पल छीजत घटत जात घरी घरी।
बिनसत बेर कहा खबर न छिन की॥
करत उपाय, झूठे लेन-देन खान-पान।
मूमा इत-उत फिरे ताकि रहो मिनकी॥

सुन्दर कहत मेरी-मेरी करि भूले सठ,
चचल चपल माया भई किन-किन की ॥

पद्य मे कवि ने जीवन और धन, दोनो की अस्थिरता के विषय मे बताया है और मनुष्य को चेतावनी दी है—अरे अज्ञानी मनुष्य ! तेरा यह शरीर तो बालू के बने हुए मकान के सदृश है, जो कि हर क्षण छीजता और हर मिनट घटता जाता है। जब से तू इसमे आया है तभी से इसकी नीव तो हिलने लग गई है एक पल या मिनट का भी भरोसा नही है कि यह कब गिरकर नष्ट हो जाएगा।'

'किन्तु मुझे तो तेरी बुद्धि पर तरस आता है कि ऐसे अस्थायी मकान मे भी तू नि शक और मस्त होकर बैठा है। इतना ही नही, तेरी करतूतो को देखकर भी मुझे तो बडा आश्चर्य होता है कि तू यहा भविष्य की तनिक भी फिक्र न करके तरह-तरह के झूठे-सच्चे लेन-देन और खान-पान करता है। क्या तुझे यह पता नही है कि यह सब कुकर्म तेरे क्या काम आएँगे ? क्योकि भले ही तू चूहे के समान लाख इधर-उधर दुबकता फिर किन्तु मौत तो बिल्ली के समान तेरे जन्म लेने के पश्चात् से ही तेरी ताक मे बैठी है और मौका देखते ही झपट्टा मारकर दबोच भी लेगी।'

'वह क्षण आते ही तुझे इस घर को, इन बनाए हुए सम्बन्धियो के मोह तथा मेरी-मेरी करके यह जो लक्ष्मी तूने जोडी है इसको भी छोडने मे भी तुझे अपार दु ख होगा। हजार रोने-कलपने पर भी न यह चचल लक्ष्मी तेरी बनी रह सकेगी और न इस बालू के घर मे भी क्षण भर के लिये भी तू रह सकेगा।'

इसलिए भोले प्राणी ! तू इस चचल लक्ष्मी से मोह छोड तथा विषय-भोगो का त्याग कर। ये विषय-भोग तेरे लिये विष के समान हैं। इन्हे भोगते हुए भी तू तृष्णा के कारण दु खी रहेगा और इनसे वियोग हो जाने पर इनके कारण बधे हुए कर्मो से दु खी होगा। तेरे लिए तो यही हितकर है कि इस नश्वर घर मे जितने समय भी तू टिक पाए, इसका अधिक से अधिक लाभ उठाले। अर्थात् जितने दिन का जीवन है इसमे धर्माचरण करके अपने कर्म-बधन काट ले तथा जन्म-मरण के दु खो से मुक्त होने का प्रयत्न करले ताकि बालू के घर रूपी इस शरीर को छोडने का तुझे पश्चात्ताप न हो।

यही बात गुजराती कविता मे आगे कही गई है—यानी आने से पहले ही पाल बाधो।'

बात कहु छू हजी व्हेलो, बाध जो पालने पैली।
कह्यु हु सत ना शिष्ये- भला थइने भलू करजो ॥

यह कविता हमारे कविवर्य नानचद जी महाराज ने लिखी है जो कि सत शिष्य के नाम से लिखा करते थे। वे कहते हैं—"भाइयो ! मैं बहुत पहले ही आपको यह बताए दे रहा हू कि बरसात आने से पहले ही पाल बाध लो। यानी मौत आने से पहले ही मौत से सदा के लिए बचने का प्रयत्न कर लो। अन्यथा जिस समय मृत्यु समक्ष होगी, उस समय फिर कुछ भी सभव नही होगा। जीवन प्रतिक्षण ह्रास को प्राप्त होता जा रहा है अत दान, पुण्य, परोपकार, सेवा, त्याग, तपस्या आदि धर्म की जितनी भी आराधना हो सके शीघ्र करलो ताकि अत मे पश्चात्ताप न करना पडे।

●

९ | पाप-नाशक तप

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

आज हमे तपस्या का महत्त्व समझना है। आप सभवत यह समझते होंगे कि तप को जैनधर्म मे ही महत्त्वपूर्ण माना गया है तथा जैन धर्मावलवी ही एक दिन, दो दिन, दस दिन, पन्द्रह दिन और इससे भी अधिक महीने भर या दो-दो महीने की लम्बी तपस्या करते हैं। पर यह वात नही है। जैन धर्म के अलावा वैष्णव तथा मुस्लिम धर्म आदि मे भी तप का विधान दिया है और सभी धर्मों को माननेवाले अपने-अपने ढग से तप करते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि जैनधर्म को माननेवाले निराहार और निर्जल तप उपवास करते हैं, वैष्णव धर्म को मानने वाले फलाहार ग्रहण करते है और मुसलमान लोग रोजो के दिनो रात्रि को चन्द्रमा देखकर आहार ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार सभी अपने-अपने तरीके से तप अवश्य करते हैं।

वैष्णव सत तुकाराम जी कहते हैं—

"पधरावे दिवशी, एक एकादशी,
का रे न करीशी व्रतसार ?
काय तुझा जीव, जातो एक दिवसे,
फरालाचे पिशे घेशी घड़ी।"

अर्थात् —'पन्द्रह दिन मे एक एकादशी आती है तो तू यह एकादशी क्यो नही करता है ? क्या एक दिन मे तेरा जीव चला जाएगा जो तू एक घडी भर फराल यानी फलाहार का सामान लेता है, एकादशी सव व्रतो का सार है अत इसे अवश्य कर।'

वैष्णव धर्म मे एकादशी को वडा महत्त्वपूर्ण माना गया है अत इस दिन व्रत किया जाता है। एकादशी एक वर्ष मे चौवीस वार और एक माह मे दो वार यानी हर पन्द्रहवें दिन आती है। सभवत पहले यह निराहार की जाती थी किन्तु कहा जाता है कि एक वार किसी भक्त ने अपने गुरु से कहा—

भगवन! मुझे पित्त की शिकायत रहती है अत मैं किस प्रकार एकादशी करूँ?

सत ने उससे कहा—'वत्स! अगर ऐसी वात है तो तू लवग के ऊपर जो फूल होता है उसे खा लेना, जिससे पित्त का प्रकोप शात रहेगा।'

वस इसी घटना को लेकर धीरे-धीरे लोग एकादशी के दिन भी भर पेट खाने लगे। अव तो वे यह भी कहते हैं कि प्रतिदिन जो खाते हैं उसको वदल कर खाने से एकादशी हो जाती है। अब तो एक वडी मनोरजक कहावत भी वन गई है—

"दिवस भर चरा पण एकादशी करा।"

कोई कोई यह भी कहते हैं—

"गाढवा सारखे चरा, पण एकादशी करा।"

दोनो का सार यही है कि भले ही गधे के जैसे दिन भर चरो यानी दिन भर खाओ किन्तु एकादशी जरूर करो।

यह वात कुछ व्यक्ति अपने स्वार्थ के कारण कहते हैं, जिनसे भूखा भी नही रहा जाता और अपने आपको वे व्रत करने वाला भी सावित करना चाहते है।

वास्तव मे तो दशमी के दिन एक भुक्त और एकादशी के दिन ग्यारह वातो का आचरण करना और द्वादशी के दिन एकवार खाना चाहिए ऐसा विधान है। एकादशी को उपवास तथा द्वादशी के दिन एकासन करने पर ही एकादशी व्रत पूर्ण माना जाता है। तथा अभी मैंने जो कहावत आपके समक्ष रखी—"दिवस भर चरा, पण एकादशी करा।" इसका भी वास्तविक अर्थ तो यही है कि चौदह दिन खाओ किन्तु पन्द्रहवे दिन एकादशी अवश्य करो। लेकिन लोगो ने एक एकादशी के दिन भी भूखा न रहना पडे इसलिए कहावत का अर्थ यह निकाल लिया कि एकादशी के दिन ही चाहे जितना और दिन खालो पर एकादशी का नाम अवश्य करो।

अपने स्वार्थ के लिए लोग शब्दो का अपनी इच्छानुसार अर्थ लगाने तथा औरो को भी चक्कर मे डालने से नहीं चूकते।

महाभारत के युद्ध मे जब पाडव पक्ष के लोगो ने देखा कि द्रोणाचार्य को किसी प्रकार पराजित नही किया जा रहा है तो अश्वत्थामा नामक हाथी को मारकर युधिष्ठिर के द्वारा कहलवा दिया—"**अश्वत्थामा हत'।**" अर्थात् अश्वत्थामा मारा गया।

वीर द्रोणाचार्य ने जब धर्मपरायण युधिष्ठिर के मुह से यह सुना कि अश्वत्थामा मर गया, तो उन्होने विश्वास कर लिया कि मेरा पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। यही पाडव पक्ष के व्यक्ति चाहते थे कि वे अश्वत्थामा नाम से अपने पुत्र का मर जाना ही समझें। परिणाम यह हुआ कि पुत्र-शोक के कारण उनके युद्ध-कौशल मे कुछ शिथिलता आ गई और शत्रु पक्ष ने इसका लाभ उठा लिया।

कहने का आशय यही है कि लोग अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर शब्द वही होते हैं, पर उनके अर्थ को अपनी इच्छानुसार मोड लेते हैं। यही हाल एकादशी के लिए कही हुई कहावत का भी हुआ है। पर यह हाल आज के युग का है, अन्यथा वैदिक सम्प्रदाय के पुराणो मे तो वर्णन है कि ऋषि महर्षियो ने साठ-साठ हजार वर्ष की भी तपस्या की है।

मुसलमान एकादशी या अष्टमी-चतुर्दशी नही मानते किन्तु उन्होने रमजान का एक महीना ही निकाल लिया है, जिसमे वे रोजे रखते हैं। रोजे के दिन वे थूक निगलना भी धर्म के विरुद्ध मानते हैं और केवल रात्रि को चाद देखकर खाते हैं। अपने धर्म के अनुसार रात्रि को नही खाना चाहिए। किन्तु वे दिनभर न खाकर भी तप करते हैं। वास्तव मे, भले ही वह अज्ञान तप है लेकिन तप तो है ही। आखिर दिन भर तो वे निराहार रहते ही हैं।

मेरे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि जैन धर्म के अलावा अन्य धर्मो मे भी तप का विधान है और तप का उनमे भी बडा भारी महत्त्व माना गया है।

वाल्मीकि रामायण मे कहा गया है—

अध्रुवे हि शरीरे यो, न करोति तपोऽर्जनम्।
सपश्चात्तप्यते मूढो मृतो गत्वात्मनो गतिम्॥

यह शरीर अध्रुव यानी अशाश्वत है, इसमे रहते हुए भी जो तप नही करता वह मूर्ख मरने के बाद जब उसे अपने दुष्कर्मों का फल मिलता है, तब बहुत पश्चाताप करता है।

तो बधुओ, तप की महिमा महान् है। तप के द्वारा ही मनुष्य अपने इच्छित पद को प्राप्त कर सकता है तथा पापो का नाश करके अपनी आत्मा

को शुद्ध व उचित बना सकता है। जो विवेकी पुरुष तपाचरण करते हैं वे निर्भय होकर परलोक गमन कर सकते हैं, उन्हे अपने भविष्य के लिए तनिक भी चिंतित होने की आवश्यकता नही रहती।

हमारा जैनधर्म भी एक माह मे बारह व्रत यानी उपवास करने को कहता है। वे दिन है—दूज, पचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी और पक्खी शारीरिक शक्ति हो तो व्यक्ति इन सभी दिनो मे उपवास करे नही तो अष्टमी और चतुर्दशी करे और ये भी नही कर पाए तो केवल चतुर्दशी को ही ब्रह्मचर्य व्रत करे। पर आप तो इन सभीको गोल कर जाते हैं। महीने मे एक तो क्या एक वर्ष मे एक सवत्सरी के दिन भी उपवास करना नही चाहते। आपने भी एक कहावत बना रखी है—

"सबको मौत आती है पर सवत्सरी को नही आती।"

आप लोग वैष्णवो से कम थोडे ही हैं। वणिक हैं, और वणिक-बुद्धि का लोहा तो सारे ससार ने माना है। आप चाहे तो बिना एक अक्षर पढे भी बडे से बडे विद्वान् को चुटकियो मे परास्त कर दें।

तो कहने का अर्थ यही है कि आप तप करना नही चाहते और इसलिए अपनी वाक्य-चातुरी से तथा बहानेबाजी मे सतो को भी चक्कर मे डाल देते हैं। एक सस्कृत का श्लोक है—

यस्य ग्लानिभयेन नोपशमनम्, नायम्बिलम् सेवितम्।
नो सामायिकमात्मशुद्धि जनकम्, नैकासनम् शुद्धित ॥
स्वादिष्टाशनपानयान विभवैर्नैवत दिव पोषितम्।
हा नष्ट तदपि क्षणेन जरया, मृत्या शरीर रुजा ॥

कहते हैं—जिसने ग्लानि के भय मे कभी उपवास नही किया, आयम्बिल नही किया, आत्म-शुद्धि के लिए सामायिक नही की तथा एकासन भी नही कर सका, केवल स्वादिष्ट भोजन-पान के द्वारा शरीर को पुष्ट किया और भोगोपभोगो से इन्द्रियो को तृप्त किया। हाय! उसका शरीर भी तो वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु के द्वारा नष्ट होगा।

श्लोक कितना मर्मस्पर्शी है? यद्यपि हमारा धर्म त्याग और तपस्या पर बल देता है तथा उपवास, आयम्बिल, एकासन तथा सामायिक आदि करके आत्म-शुद्धि करने की प्रेरणा देता है। किन्तु व्यक्ति अपने सुन्दर पुष्ट एव शक्तिशाली शरीर को तनिक भी कष्ट न देने के कारण यह सब नही करता।

यह कहता है—'उपवास करने से मेरा शरीर कृश होगा, चक्कर आएँगे

ओर कही पित्त वढ जाने से उल्टिया हो गईं तो ग्लानि ैदा होगी अत मैं उपवास नही कर सकता ।'

इस स्थिति मे धर्म दूसरा मार्ग वताता है—भाई ! उपवास नही कर सकते तो आयम्बिल कर लो । रूखा-सूखा ही सही तुम्हारे पेट मे जाएगा और तुम्हे क्षुधा भी अधिक नही सताएगी । किन्तु उत्तर नकारात्मक ही होता है—'रूखा सूखा भी खाया जाता है क्या ? जिस प्रकार जानवर स्वादहीन घास खाते हैं, क्या मनुष्य भी उसी प्रकार मसाला, मिर्च, नमक और घी आदि से रहित कोरा धान खाए ? यह तो सभव नही है ।'

ऐसे व्यक्तियो के लिये फिर तीसरी राह भी निकाली जाती है एकासन कर लेने की । कहा जाता है—आयम्बिल करके रूखा-सूखा नही खाया जाता तो ठीक है स्वादिष्ट भोजन कर लो पर दिन मे एक वार ही खाना !'

पर वन्धुओ, मैंने कहा है न कि आप लोग वणिक हैं और हमे भी चक्कर में डाल देते हैं । यह सही नही है क्या ? आप कहेगे सही किस प्रकार ? वह इस प्रकार कि हमारे पास तो आप एकासन का पचक्खाण करके जाते हैं पर घर जाकर एकासन के नाम पर कितनेक लोग पहले तो स्वादिष्ट भोजन खूब डटकर करते हैं और फिर वही आनन्द और आराम से लेट जाते है तथा एकाध नीद निकालकर ' फिर वैठते हैं और पुन खा लेत है । अगर हम पूछ लेते हैं कि भाई ! यह क्या किया तुमने ? तो उत्तर मिलता है—'महाराज ! हम उठे थोडे ही थे, एक एक ही आसन तो वैठे और लेटे थे ।'

अव वताइये, आपने हमे भी चक्कर मे डाला या नहीं ? एकासन का क्या अर्थ लिया आपने ? एकासन से यह अर्थ लेना होता है कि विछाए हुए उसी आसन पर वैठे-वैठे आप दिन भर मे चाहे जितनी वार खा लो । वरन् एकासन का सही अर्थ है–'एक-असन', एक वार भोजन करना । पर आप तो हमारे भी आगे हो गए हमी को भुलावे मे डाल दिया ।

अव श्लोक की अगली वात है—सामायिक करना । जव सन्त आपसे हार जाते है तो कह देते हैं- भाई लोगो ! जव आपसे उपवास, आयम्विल, और एकासन आदि कुछ भी नही होता तो चलो, सामायिक करो ! वही सही । पर आप कहा पकड मे आने वाले है ? कह देते हैं—"घटे भर तक एक स्थान पर वैठे रहना तो भी मुश्किल है ।" फिर तो हमारी वुद्धि भी हार खा जाती है यह विचार करने मे कि आखिर आपके लिए सरल क्या है ? आप माला नही फेर सकते क्योकि भूल जाते हैं, आप नमोकार भी नही कर सकते क्योकि 'वैड टी' लिये विना आपसे विस्तर पर से उठा नही

जाता, स्वाध्याय नही कर सकते क्योकि समय नही मिलता, और पौषध को तो करेंगे भी कैसे, क्योकि 'डनलप' के गद्दो पर सोने वाले जमीन पर कैसे पडे रहे, शरीर अकड जाता है और जमीन चुभती है जो अलग ।

पर बधुओ, याद रखो कि इस शरीर को आप कितना भी आराम से रक्खें, चाहे दस कदम भी चलकर इसे न थकाएँ और मोटर-गाडियो मे घूमे, जरा भी भूखा न रखकर बादाम, पिस्तो से बडी पौष्टिक वस्तुएँ खिलाएँ तथा अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियो को तृप्त रखते हुए उन्हे सुखी रखने का प्रयत्न करें किन्तु फिर भी रोग, जरा और मृत्यु का आक्रमण होते ही किसी दिन क्षणमात्र से ही यह आपको धोखा देकर निष्क्रिय हो जाएगा । आपकी जीवन भर की हुई सार-सम्भाल का यह पल भर के लिये भी लिहाज नही करेगा । यह आपके साथ नही चलेगा और न ही कुछ सुविधा आपके लिये करेगा । केवल आपके मनोरथो पर तुषारापात करके जरा, रोग या मृत्यु किसी का भी बहाना लेकर ढेर हो जाएगा ।

कोई अगर भाग्यशाली हुआ तो वृद्धावस्था मे भी उसका शरीर ठीक रहेगा पर अत मे रोग उसके शरीर को नष्ट करेगा । और पुण्य ने अधिक जोर मारा तो वह वृद्धावस्था मे भी रोगो से बचा रहेगा किन्तु फिर भी मृत्यु से तो नही ही बचेगा । अचानक ही दिल की धडकन बद हुई अर्थात् 'हार्ट-फेल' हुआ और जिन्दगी समाप्त । अत समय मे केवल पश्चात्ताप ही बाकी रहता है ।

मृत्यु के कगार पर खडे किसी ऐसे ही व्यक्ति ने बडे अफसोस के साथ कहा है—

जो जन्मे हम सग, उतौ सब स्वर्ग सिधारे ।
जो खेले हम सग, काल तिनहू कह मारे ।।
हमहूँ जरजर देह निकट ही दीसत मरिबो ।
जैसे सरिता तीर वृक्ष को तुच्छ उखरिबो ।।
अजहूँ नहिं छाँड़त मोह मन, उमग उमग उरझौ रहत ।
ऐसे अचेत के सग सों, न्याय जगत को दुख सहत ।।

महायात्रा का यात्री क्या कह रहा है ? यही कि मेरे साथ जिन्होने जन्म लिया था वे सब स्वर्ग चले गए और जो मेरे साथ खेल-कूदकर बडे हुए है उन्हे भी काल मारे टाल रहा है । इधर मैं हूँ, पर मेरी देह भी इतनी जर्जर हो गई है कि अब मृत्यु समीप ही दिखाई दे रही है । जिस प्रकार नदी के किनारे पर ऊगे हुए वृक्षो की जडो से मिट्टी बह जाती है और वृक्ष उखड

को हो जाता है, इसीप्रकार मेरे जीवन के दिन भी एक-एक करके खिसक गए हैं और यह शरीर रूपी वृक्ष अव गिर पडने को ही है।

किन्तु फिर भी मेरा यह मूढ मन मोह का त्याग नही करता और अभी तक भी सासारिक पदार्थों मे उमग पूर्वक उलझा रहना चाहता है। ऐसे मूर्ख के साथ से ही मेरी आत्मा को ससार मे भटकना पड रहा है और पुन पुन जन्म-मरण के कष्टो को सहना पड रहा है।

तो वधुओ, यह शरीर तो एक दिन अवश्य जाएगा, चाहे हम इसे फूलो से तोलते हुए यानी रात दिन इसकी सेवासुश्रुषा करते हुए सुकुमार बनाए रखे अथवा व्रत, उपवास और कठिन सयम-साधना करके इसे कृश बना डाले। फर्क यही है कि इसके आराम का जितना ख्याल रखा जाएगा तथा इसकी सुख-सुविधाएँ जुटाने के लिये जितना पाप कमाया जाएगा वह परलोक मे हमे नाना कष्ट सहन करने का कारण बनेगा। और यदि व्रत, प्रत्याख्यान तप तथा साधना आदि मे इसे सहायक बनाकर इससे काम लिया जाएगा तो पूर्व कर्मों की निर्जरा होगी और नवीन कर्मो का वध नही होगा। तपश्चर्या करने से आत्मशुद्धि होती है और आत्मशुद्धि होने पर कर्मों का क्षय हो जाता है। जव कर्म पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं तो आत्मा ससार मुक्त हो जाती है। किसी कवि ने कहा भी है —

तप करना ही मुक्ति का जाना है।
या तो आम खुद पके दूजे जरिये पाल,
या तो कर्म रस दे झडे या तप से देवै गाल।
जिसके बारे प्रकार बयाना है।
तप करना ही मुक्ति का जाना है।

पद्य की भाषा अत्यन्त सरल और सीधी है किन्तु इसमे बताई हुई बातें वडी गभीर और सार-गर्भित हैं। कवि का कथन है—तप करना ही मुक्ति का जाना है। वह किस प्रकार ?

मुक्ति के चार सोपान माने गए है—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र एव सम्यक् तप। ज्ञान से वस्तुस्थिति समझ मे आती है तथा दर्शन से उसे गहराई तक जान लिया जाता है। और चारित्र के द्वारा ज्ञान को जीवन मे उतारा जाता है अर्थात् क्रियान्वित किया जाता है।

अब ध्यान से समझने की आवश्यकता है। वह यह कि चारित्र नये पाप कर्मो का वधन नही होने देता क्योकि व्रत ग्रहण करने और सयम लेने के पश्चात् कर्मो का आगमन रुक जाता है। तो चारित्र ने नए कर्मों को आने से

तो रोक दिया किन्तु पहले के बधे हुए कर्मों का नाश कैसे हो ? उसके लिये तप ही एकमात्र साधन है।

आप विचार करेंगे कि जब सयम ग्रहण कर लिया और चारित्र्य मे भी दृढता आ गई तो फिर कर्मों का क्या काम ? पर नही, अभी मैंने बताया है कि चारित्र की दृढता से नवीन कर्म नही बँधते किन्तु पहले के बधे हुए कर्मों का इलाज होना तो जरूरी है। और वह इलाज है कर्मों का भुगतान या उनका नाश।

एक उदाहरण से विषय और भी स्पष्ट हो जाएगा। जैसे एक निर्धन व्यक्ति ने किसी से दो रुपये उधार लिये। उन्हे वह चुका नही पाया या चुकाना भूल गया। कुछ समय पश्चात् सौभाग्य के उदय से लक्ष्मी की उस पर कृपा हुई और वह धीरे-धीरे लक्षाधीश बन गया। अब जब वह लक्षाधीश बन गया तो स्पष्ट है कि उसे अब नवीन कर्ज किसी से लेना नही पडेगा। किन्तु लक्षाधीश होने से पूर्व उसने जो दो रुपये किसी से उधार लिये थे, वे उसके देने पर ही चुकेंगे न ? उसकी तिजोरी मे भले ही लाखो रुपये पडे रहे पर लिये हुए दो रुपये तो देने पर ही चुकेंगे।

इसी प्रकार चारित्र ग्रहण करने पर व्यक्ति भले ही नवीन कर्मों का आगमन रोक ले या शुभकर्मों का बध कर ले किन्तु इससे पहले जो कर्म उसने बाँधे थे वे तो उस निर्धन व्यक्ति के उधार लिये हुए दो रुपयो को चुकाने के समान ही चुकाने पडेंगे। और इनको सामप्त करने के दो तरीके हैं एक तो उन्हे भुगत कर समाप्त करना, दूसरे इनको क्षीण कर देना या नष्ट कर देना।

तो बाँधे हुए कर्मों को क्षीण करने का उपाय है तप। कवि ने एक सुन्दर दृष्टान्त अपने पद्य मे दिया है—"या तो आम खुद पके या दूजे जरिये पाल।"

यानी आम दो तरह से पकता है। एक तो वह वृक्ष पर लगा हुआ अपना समय आने पर स्वय ही पक जाता है, दूसरे लोग उसे जल्दी पकाने के लिये तोडकर घास मे दबा देते हैं और वह समय से पहले ही पक जाता है। यही हाल कर्मों का है जिनके लिये कवि ने कहा है—

"या तो कर्म रस दे झडे या तप से टेवे गाल।"

अर्थात्—या तो कर्म रस देकर झडते है यानी आत्मा नरक आदि हीन गति मे जन्म लेकर वहाँ अपने समय पर इनका भुगतान करती है। यानी कर्मों के फल को भोगकर उन्हे समाप्त करती हैं और नही तो तपश्चर्या के

द्वारा इनके भोगने का समय आने से पहले ही इन्हे क्षीण कर दिया जाता है। अर्थ यही है कि तप करने से पूर्व कर्म क्षीण हो जाते हैं, टूट जाते हैं या विसर्जित हो जाते हैं।

तो बधुओ, आप तप का महत्व समझ गये होगे कि किस प्रकार पूर्वकृत कर्मों को अतिशीघ्र ही केवल तप के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। अगर जीवन मे तपाचरण न किया जाय तो न जाने कितने जन्मो तक आत्मा को कर्मों का फल भोगना पडता है जबकि तप के द्वारा वह इसी जन्म मे सपूर्ण कर्मो का क्षय भी कर सकता है।

इसीलिये मेरा कहना है कि जब हमे मानव शरीर मिला है, कर्मो के कारनामो को जान लेने की शक्ति मिली है तथा उनके नाश के उपायो को समझ लेने की बुद्धि भी मिल गई है तो फिर क्यो न इस अमूल्य अवसर का लाभ उठाया जाय ? शरीर तो एक दिन नष्ट होना ही है अत इसका सबसे अच्छा उपयोग यही है कि इसके द्वारा अधिक से अधिक तपाचरण किया जाय ताकि इसका मिलना सार्थक हो सके।

साराश यही है कि तप के अभाव मे पूर्व-कृत कर्मों की निर्जरा बिना उन्हें भोगे होना कठिन है अत तपश्चरण करना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। तप वह अग्नि है जिसमे अनेकानेक पाप तिनके के समान भस्म हो जाते हैं। शास्त्रो मे कहा गया है—

जह खलु मइल वत्थ, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एव भावुवहाणेण, सुज्झए कम्ममट्ठविह ॥

—आचाराग निर्युक्ति २८२

जिस प्रकार जल आदि शोधक द्रव्यो से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक तप भावना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्ममल से मुक्त हो जाता है।

स्पष्ट है कि व्यक्ति कितना भी विद्वान और शास्त्रो का जानकार क्यो न हो अगर वह तप नही करता तो उसका ससार मुक्त होना असभव है—

निउणो वि जीव पोओ, तव सजम मारुअ विहूणो।

शास्त्र ज्ञान मे कुशल साधक भी तप, सयम रूप पवन के बिना ससार सागर को तैर नही सकता।

तो बधुओ, तप करना आत्म-कल्याण के लिये आवश्यक है अत जिस

जितना बन सके उतना ही सही पर तप करना अवश्य चाहिये। तप बारह प्रकार का होता है, जिनमे से छ आभ्यतर और छ बाह्य तप कहलाते हैं।

अनशन, उनोदरी, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, कायक्लेश एव प्रति सलीनता ये बाह्य तप हैं तथा—

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये आभ्यतर तप होते हैं।

इनके विषय मे विस्तृत रूप से अवसर होने पर बताया जाएगा। आज तो आपको जो कुछ बताया गया है इसी पर अमल करने का प्रयत्न करें तो भी आत्म-विकास की ओर बढ सकेंगे।



१० | तुलसी ऊधंवर के भये, ज्यो बँधूर के पान

धर्म प्रेमी बधुओ, माताओ एवं वहनो !

आप और हम सभी जानते हैं कि मानव-जीवन जीव को वडी कठिनाई से प्राप्त होता है। इस ससार मे असख्य जीव ऐसे दिखाई देते है जिनके केवल शरीर है। नाक, कान या आँखें कुछ भी नही है। आप कहेगे, ऐसे कौन से जीव हैं जिनके वे सव नही है? वे हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। इन पाँच स्थावरो के सिर्फ शरीर है। वाकी इन्द्रियाँ नही हैं अत ये एकेन्द्रिय कहलाते हैं।

एकेन्द्रिय से दो इन्द्रिय मे जाने के लिये जीव को दुगुनी पुण्यवानी चाहिये। जैसे, एक रुपये पर एक रुपये का नफा होना। पर ऐसा कहाँ होता है? आप लोग व्यापारी हैं और जानते है कि रुपये पर दो पैसा, चार पैसा नफा भी मुश्किल से मिलता है। इसी प्रकार पुण्यो का सचय भी वडी कठिनाई से होता है पर जव होता है तभी जीव एकेन्द्रिय शरीर छोडकर दो इन्द्रियवाली देह प्राप्त करता है। दो इन्द्रियाँ प्राप्त होने पर शरीर के साथ वाणी भी मिली। पर उस शरीर से क्या वनता है जिसके नाक-आँख कुछ भी नही हो।

तो शरीर और जीभ इन दो इन्द्रियो के वाद तीन इन्द्रियो वाला शरीर मिल सकता है, पर अनन्त पुण्यवानी प्राप्त होने के पश्चात्। जव वह हुई तो नाक वढ गई यानी तीन इन्द्रियाँ मिली।

उसके वाद और भी अनन्त पुण्य वढा तो आँखें मिली तथा उसके पश्चात् फिर अनन्त पुण्योपार्जन किया तो कान भी शरीर को हासिल हुए। किन्तु

शरीर फिर भी अपूर्ण रहा और पुन अनन्त पुण्यो के उदय से पाँचो इन्द्रियो वाला शरीर मिल सका।

गम्भीरता से विचार कीजिये कि एक-एक इन्द्रिय प्राप्त करने के लिये अनन्त-अनन्त पुण्यो की वृद्धि करनी पडती है और तव पचेन्द्रिय शरीर जीव को मिलता है। किन्तु अनन्तानन्त पुण्यो का उपार्जन करके पचेन्द्रिय शरीर प्राप्त कर लेने पर भी अभी शरीर मे महान कमी रह गई। वह कमी क्या है? यह आप गाय, भैस, घोडा व वकरी आदि पशुओ को देखकर अन्दाज लगा सकते है कि उनमे मन नही है। पचेन्द्रिय जीवो मे भी सन्नी और असन्नी दो प्रकार होते है। जिनमे मन नही होता वे असन्नी और मनवाले सन्नी कहलाते है।

तो पचेन्द्रिय शरीर प्राप्त हुआ किन्तु मन नही मिला तो पशुवत् जीवन-यापन करना पडा। और जव पुन अनन्त पुण्यवानी ने जोर मारा तो फिर हम सन्नी पचेन्द्रिय यानी मनुष्य के रूप मे आए। अव आप स्वय ही विचार कर लो कि एक-एक इन्द्रिय और उसके पश्चात् मन भी पाने के लिये अनन्त-अनन्त पुण्यवानी को जोडते जाँय तो कितने पुण्य कर्मो का सचय चाहिये?

और उसके वाद भी मन सहित यह मनुष्य शरीर पा लिया और अनार्य क्षेत्र, हीन जाति तथा निकृष्ट कुल मिल गया तो यह मानव-शरीर पाकर भी हम क्या कर सकते है? अत यह सव प्राप्त करने के लिये भी अनन्त पुण्य की फिर आवश्यकता पड गई। और तव हमे उच्च कुल, उच्चजाति, आर्य क्षेत्र मिला तथा सत-समागम प्राप्त हो सका।

यह सव कल्पनातीत पुण्यो के सयोग से ही प्राप्त हो सका है अन्यथा आप उच्चकुल मे जन्म लेकर और उस पर भी आज इस स्थान पर कैसे वैठे हुए होते? आज ऐसे-ऐसे भी क्षेत्र है, जहाँ पर साधु-साध्वियो का आना जाना कभी नही होता और ऐसी स्थिति मे आत्म-साधन तथा परमार्थ चितन तो हो ही कैसे सकता है। विना सत्सग किये तथा शास्त्रो का श्रवण किये आप कैसे जान सकते है कि आत्म-तत्व का क्या रहस्य है और उसके उद्धार के लिये आपको क्या-क्या करना चाहिये, कैसे वोलना, कैसे चलना, कैसे रहना और कैसे खाना चाहिये—

आप सोचेंगे कि यह सव तो प्राणी स्वय ही कर लेता है इसमे जानना और सीखना कैसा? पर यह वात नही है। खाना, पीना, सोना तथा वैठना तो पशु भी कर लेते है और अज्ञानी मनुष्य भी करते है। किन्तु जिस भव्य प्राणी को अपने मानव-जीवन का सदुपयोग करना है, तथा इसकी सहायता से

अपना आत्म-कल्याण करना है उसकी ये सभी क्रियाएँ अनेक विशेपताएँ लिये हुए होती हैं। और ये सब विशेपताएँ केवल सतो की सगति से और उनके उपदेश-श्रवण से ही जीवन मे उतर सकती हैं। सत्सगति से ही मनुष्य हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् छोडने योग्य क्या है ? जानने योग्य क्या है और ग्रहण करने योग्य क्या है ? इसे समझ सकता है।

महात्मा कबीर ने कहा है—

'सतन के सग लाग रे, तेरी अच्छी बनेगी।'

स्पष्ट है कि मनुष्य जैसे व्यक्तियो की सगति करेगा वैसा ही बन जाएगा। चोर-डाकू की सगति करेगा तो निश्चय ही चोरी करना सीखेगा और अगर साधु-पुरुपो के सहवास मे रहेगा तो उसका जीवन त्याग, तपस्या एव सयम की ओर बढेगा साधु को न आपके धन की परवाह है और न विपय-भोगो की चाह। उनका लक्ष्य सासारिक पदार्थों से ममत्व हटाते हुए केवल आत्मा को कर्म-बधनो से मुक्त करना होता है। इसीलिये वे व्रत और नियम ग्रहण करते हैं, तप करते हैं तथा अधिक से अधिक एकान्त मे रहकर परमार्थ चिंतन करते है।

भजन मे भग न पड जाए।

कहते हैं कि एक नगर के बाहर वन मे दो महान् त्यागी महात्मा रहते थे। उनके त्याग और तपस्या की ख्याति दूर-दूर तक पहुँच गई थी। अतः नगर के राजा ने उनके दर्शन करने की इच्छा की और अपने परिवार को लेकर वन मे पहुँचा।

जब महात्माओ ने सुना कि राजा उनके दर्शन करने आ रहे है तो वे विचार करने लगे—"यह तो बहुत बुरी बात है आज राजा आया और कल पूरा शहर आएगा। भीड-भाड के कारण फिर हम भजन कब करेंगे ?"

सोच-विचार कर उन्होंने अपने भजन मे भग न होने देने के लिये एक उपाय खोज निकाला। जब राजा उनकी कुटिया के पास आ गया तो उन्होंने आपस मे झगडना प्रारम्भ कर दिया। एक बोला—'तूने मेरी रोटी क्यो खाई ?' दूसरे ने उत्तर दिया—'तू भी तो कल मेरी रोटी चुराकर खा गया था।'

राजा ने जब यह हाल देखा तो उसे सतो से नफरत हो गई कि ये तो एक-एक रोटी के लिये झगड रहे है। वह उलटे पाँव अपने परिवार सहित महल को चल दिया।

इस प्रकार सतो ने स्वय बदनाम होकर भी अपने ईश-चिंतन के समय को व्यर्थ जाने से बचा लिया ।

क्या आज सभी लोग ऐसा कर सकते हैं ? नही, उन्हें तो परमात्मा को याद करने का समय ही नही रहता । भले ही उनका अमूल्य समय सिनेमा देखने मे, सैर-सपाटे करने मे, ताश खेलने मे या गप्पो मे चला जाय, इसकी परवाह नही किन्तु अगर उनके समक्ष आत्म-चिंतन, शास्त्र-श्रवण या सामायिक प्रतिक्रमण का नाम ले दिया तो सीधा कहते है—'महाराज, हमे तो मरने की भी फुरसत नही मिलती ।' पर सभी एक सरीखे नही होते । कुछ ऐसे भी होते हैं जो ससार के गोरखधधे मे से निकल नही पाते किन्तु पश्चात्ताप करते हुए कहते हैं —

> धन्याना गिरिकन्दरे निवसता ज्योति' पर ध्यायता-
> मानन्दाश्रु जल पिबन्ति शकुना नि'शङ्कमकेशया ।
> अस्माक तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
> क्रीडा-कानन केलि-कौतुकजुषामायु परिक्षीयते ॥

वे धन्य हैं जो पर्वतो की गुफाओ मे रहते है और परम ब्रह्म की ज्योति का ध्यान करते हैं । जिनके भक्तिरसपूर्ण आनन्दाश्रुओ को उनकी गोद मे बैठे हुए पक्षी निर्भयतापूर्वक पीते हैं । हमारा जीवन तो मनोरथो की बावडी के किनारे के क्रीडा-स्थान मे लीलायें करते हुए ही व्यर्थ बीत रहा है ।

तो मैं आपको यह कह रहा था कि सच्चे सत दुनिया के प्रपचो से दूर रहकर अधिक से अधिक परमार्थ चिंतन मे रत रहते हैं तथा समस्त भौतिक ऐश्वर्य से मुह मोडकर मात्र शरीर को चलाने लायक रूखा-सूखा अन्न उसे प्रदान करते हैं वह भी इसलिए कि शरीर के द्वारा ही तप किया जाता है तथा शरीर के द्वारा ही अन्य सभी शुभ क्रियायें की जाती है । तप रूपी अग्नि पर शरीररूपी पात्र रखे बिना आत्मरूपी मक्खन को शुद्ध नही किया जा सकता । बस ! यही स्वार्थ इस शरीर से उनका रहता है और इसीलिये वे शरीर टिकाये रहते हैं ।

ऐसे सत ही ससार के सामने आदर्श-रूप बनते हैं तथा अज्ञानी मनुष्यो को सदुपदेश देकर गुणानुरागी बनाते हैं । अगर व्यक्ति गुणानुरागी नही होते तो उसके मानस मे सद्गुणो का समावेश और सचय नही हो सकता और ऐसे व्यक्ति इस पृथ्वी पर केवल भारभूत होते हैं ।

कागद लिखत लोग ऊपर प्रक्षेपे मोहे,
बिछावे से नरम न चुभे पग भारी है।
और भी अनेक गुण मोय मे नराधिपत,
निगुणी की उपमा न लागत हमारी है।

मिट्टी कह रही है—"मैं कैसे निगु णी हूँ ? मुझ मे तो अनेक गुण विद्यमान हैं। यथा—मैं बालको के खेल का सर्वोत्तम साधन हूँ। मेरे द्वारा नानाप्रकार के खिलौने बनाये जाते हैं और उन पर रग चढाकर गुड्डे, गुडिया, बन्दर, भालू आदि तैयार किये जाते हैं। बच्चे उन्हे पाकर बडे खुश होते है तथा उनसे खेलते हैं। बडी बात तो यह है कि मेरे द्वारा निर्मित खिलौने बडे सस्ते दो-दो पैसे या चार-चार पैसे मे मिल जाते हैं अत बेचारे निर्धन व्यक्ति भी उन्हे खरीद कर अपने बच्चो को खुश कर लेते हैं।"

"इसके अलावा वर्षाऋतु मे तो मैं बिना पैसे के ही बालको का खूब मनोरजन कर देती हूँ। पानी बरसने पर जब मैं गीली हो जाती हूँ तो बच्चे स्वय मेरे द्वारा मकान, लड्डू, चूल्हा, चक्की आदि बना-बनाकर खेलते हैं और खुश होते हैं।"

"दीवाली के आस-पास जब बरसात के कारण सबके कच्चे घरो की छपाई बह जाती है उस समय तो घर-घर मे मेरे ढेर लग जाते है और मैं दीवालें, चबूतरे तथा फर्श आदि बनाने के काम आती हूँ। अगर उस समय मे सहायता न करूँ तो कैसे घरो की मरम्मत हो और कैसे घर के बाहर हताई करने के लिये चबूतरे बनें ? तालाबो की पालें अगर मेरे अभाव मे न बनें तो क्या हाल हो ? क्या बाढ मे सब कुछ नष्ट नही हो जाएगा ? सडको पर भी जब वर्षा के द्वारा कीचड हो जाता है या गन्दे हो जाते हैं तब भी मुझे ही जमीन पर डाल कर उन्हे सूखा और समतल बनाया जाता है तथा आप लोग उस पर निर्विघ्न चलते हैं। मेरे विषय मे कवि 'माघ' ने कहा भी है—

पादाहत यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रज॥

जो धूल पैर से आहत होकर उडती है और आहत करने वाले के सिर पर चढ जाती है, वह अपमान होने पर भी स्वस्थ बने रहने वाले शरीर धारी मनुष्य से श्रेष्ठ है।"

"इस प्रकार मैं अपने गुण स्वय ही कहाँ तक गिनाऊँ ? मेरे बिना तो ससार के अनेकानेक कार्य रुक जाते हैं। होली के दिनो मे जब लोग मानाप-

मान और ऊँच-नीच का भेदभाव भूल जाते हैं तव नालियो मे से मुझे ही कीचड के रूप मे लेकर एक-दूसरे पर उछालते हैं। तथा व्यापारी वही खाता करते समय अक्षर लिखते जाते हैं और उन गीले अक्षरो पर मुझे डाल डालकर तुरन्त सुखा लेते हैं। यह उदाहरण लोग प्रेम की परीक्षा के लिये भी देते हैं। कहते हैं—

"चलत कलम सुखत अक्षर, यही प्रेम का मूल।
नेह टूटे गीला रहे, ताके मुह पडे धूल।"

मिट्टी आगे कहती है—"जहाँ ऊँची नीची जगह हो और ककर पत्थर पैरो मे चुभते हो वहाँ मुझे विछाते ही जमीन नरम हो जाती है, पैरो मे कुछ नही चुभता। और व्याह-शादी या कोई भी अन्य समारोह होता है सबसे पहले शोभा वढाने के लिये मुझे जमीन पर विछाते है और उसके वाद ही मडप या पडाल वनाते हैं। मेरा उपयोग धर्म कार्य मे भी होता है। अनपढ वहनें काच की दो तरफी घडियो वनवाकर मुझे उसमे भरवा लेती है और मैं वडे हिसाव से दूसरी ओर गिरकर उनके सामायिक का समय पूर्ण हुआ कि नही यह वता देती हूँ।"

"इस प्रकार मुझ मे तो अनेक गुण हैं, जिन्हे गिनाया नही जा सकता। अत हे नराधिप, मेरी तुलना गुणहीन से कदापि नही की जा सकती। क्या वह मेरे मुकावले मे ठहर सकता है? नही, फिर उसके लिये मेरी उपमा आप देते ही क्यो हैं?"

तो वधुओ, निर्गुणी पुरुष की उपमा देने के लिये कवियो ने मृग, गाय, श्वान, खर, वृक्ष, तृण तथा धूल तक नाम सुझाय। किन्तु इन सभी ने अपने-अपने अनेक गुणो का दिग्दर्शन कराकर उसकी तुलना मे अपने आपको रखने से इन्कार कर दिया।

यह रूपक हैं और कविकुल भूपण पूज्यपाद श्री तिलोकऋषि जी म० ने प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि पशु, पेड, पौधे या धूल ये सव वोलते नही है किन्तु उनके इन गुणो से कदापि इन्कार नही किया जा सकता। महाराजश्री ने उनके द्वारा कहा जाना तो काव्य मे मनोरजकता और कलापूर्णता लाने के लिये दर्शाया है। वह भी इसलिये कि उनके गुण यथार्थ हैं और वे स्वय उनके द्वारा कहे हुए वताए जांय या अन्य किसी के द्वारा ही कहे जांय। अन्त मे आप कहते है—

मृग, गाय, श्वान, खर, तृण, वृक्ष धूल ही ते,
नेष्ट है अधिक मूल, मात भार भारी है।

होते, फिर क्यो मुझे उसकी श्रेणी मे रखते हो ? वह कभी भी मेरी तुलना नही कर सकता।

तो वधुओ, गधे ने भी निर्गुणी की तुलना मे अपने आपको रखने से इन्कार कर दिया। तव फिर कवियो ने उसे तृण की उपमा देना चाहा और भर्तृहरि के श्लोक मे फिर परि परिवर्तन किया जिन मनुष्यो मे विद्या, तप, दान, ज्ञान तथा शील आदि गुण नही है वे—

'मनुष्य रूपेण तृणानि सन्ति।'

अर्थात्—वे निर्गुणी व्यक्ति मनुप्य के रूप मे तृण के समान हैं।

पर अव देखिये तृण क्या कहता है ?

कहत तरणा तव गाय को आहार हूँ मैं,
होत है अधिक क्षीर सो तो खीर म्हारी है।
वर्षा ऋतु माहि शोभा, होत है जगल वीच,
छावत छप्पर घर चुवे न लगारो है।
शीतकाल बिछावे तो होत है गरम अग,
ताप किया तत्काल शीत होत न्यारी है।
और भी अनेक गुण, मोय मे नराधिपत,
निगुणी की उपमा न लागत हमारी है।

कितनी विलक्षण वात है कि जव निर्गुणी को तृण की उपमा दी गई तो वह भी कविवर पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋपि जी महाराज को पसन्द नही आई और उन्होंने तृण का पक्ष लेकर उत्तर दिया कि यह भी सही नहीं है। तृण गुणहीन नही, वह कहता है—

"मैं तो पशुओ का आहार हूँ। घोडे, वैल, गधे आदि मव मुझे खाकर ही दिनरात मनुष्यो का काम करते हैं और गाय मुझे ही उदरस्थ करके आपको अधिक दूध देती है जिससे आप मिठाइयाँ वनाते है तथा भोजन की सवसे मधुर वस्तु खीर भी वनाते हैं। यह मेरे कारण ही तो। अगर मैं न होऊँ तो गाय खायेगी क्या ? आप सव जानते ही हैं कि अकाल पडने पर जव मैं पैदा नही होता तो पशु कृशकाय हो जाते है और मर भी जाते हैं।"

"दूसरे जव वर्षाऋतु आती है तो मेरी वजह से ही जगल की शोभा मे वृद्धि होती है, चारो ओर सुन्दर हरियाली छा जाती है और देखने वालो का मन प्रसन्न होता है। सारे वाग-वगीचे और घर के सामने वने हुए लॉन मेरी वजह से ही शोभा पाते हैं।"

"और जव मैं सूख जाता हूँ तो भी पशुओ की पेटपूर्ति तो करता हूँ साथ ही गरीबो की झोपडियो का छप्पर भी वनता हूँ। निर्धन व्यक्ति आप लोगो के जैसे वडे-वडे मकान तो वनवा नही सकते, फूस की झोंपडी ही वना लेते हैं। मैं उनको वडी महायता करता हूँ तथा झोपडी का छप्पर तो ऐसा वन जाता हूँ कि पानी जैसे तरल पदार्थ को भी आने से रोक देता हूँ।"

"इसके अलावा भी शीत ऋतु मे मैं लोगो की वडी सहायता करता हूँ। स्वय जलकर वेचारे कपडो के अभाव मे ठिठुरने वाले व्यक्तियो को गरमी पहुँचाता हूँ और मेरे द्वारा दी गई गरमी से वे अपनी जान असह्य शीत के कारण वचा पाते हैं। मैं साधु-सतो की भी वडी सेवा करता हूँ। साधु-सत आप लोगो के जैसे गद्दे रजाई तो रखते नही हैं पर मुझे नीचे विछा लेते हैं तो मैं उन्हे कुछ राहत प्रदान करता हूँ।"

"मेरे एक-एक तिनके को जोडकर वनाए हुए रस्से से ही मदोन्मत्त हाथी वांधे जा सकते है जो सहज ही किसी के कावू मे नही आते। कागज, जिस पर आप लिखते हैं, पुस्तकें छपवाते हैं। तथा अन्य सैंकडो कामो मे लेते हैं, वे भी मेरे द्वारा ही वनते हैं।

"इस प्रकार हे नराधिप! मुझ मे अनेक गुण ऐसे हैं जो निर्गुणी व्यक्ति मे नही होते। अत उनसे मेरी तुलना मत करो, उनसे मेरी तुलना कभी नही की जा सकती।"

'तो अव लीजिये साहव! तिनके ने भी गुणहीन को अपने से नीचा वता दिया। कवियो की मुसीवत! पर वे हिम्मत नही हारते। अव वे ससार की सवसे तुच्छ वस्तु धूल जो कि सदा पैरो के नीचे रहती है, उसे निर्गुणी की तुलना मे लाये और भर्तृहरि के श्लोक की अन्तिम पक्ति मे जोडा—

'मनुष्यरूपेण धूलेश्च पुज।'

कवियो ने सोचा कि और किसी भी पशु पेड या पौधे से जव निर्गुण की उपमा नही दी जा सकती तो धूल से तो आखिर वह गया वीता नही है? उससे तो गुणवान ही साबित होगा। किन्तु अफसोस कि धूल भी अपने गुण वताने मे नही चूकी और वोली —

धूल कहे वालक के खेल मे आऊं मैं काम,
ओटले वधावे कोई, कोई वाधे पारी है।
हुताशन परव सो मेरे विन होत नहीं,
कर्दम के माही मेल्या होत पन्थ यारी है।

कुछ दिन पहले मैंने आपको भर्तृहरि का एक श्लोक सुनाया था—

येषाम् न विद्या न तपो न दानम्
ज्ञानम् न शीलम् न गुणो न धर्म
ते मृत्युलोके भुविभारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।

यानी, जिस व्यक्ति मे विद्या, तप, दान, दया, शील आदि सद्गुण नहीं होते वह मनुष्य इस धरती पर भार-भूत होना है जैसे कि वन मे चरने वाले मृग ।

उस दिन मैंने यह श्लोक आपके समक्ष रखा था और साथ ही पूज्यपाद श्री तिलोक ऋपि जी म० द्वारा रचित काव्यो के आधार पर यह भी वताया था कि मृग ने स्वय को निर्गुणी व्यक्ति की तुलना मे अपने अनेक गुण वताते हुए इसके समकक्ष होने से इन्कार कर दिया था । तो कवियो ने मृग के स्थान पर पहले गाय और फिर कुत्ते को रखना चाहा । किन्तु हाल वही हुआ । यानी गाय और कुत्ते ने भी अपने अनेक और उत्तम गुण वताए तथा निर्गुणी पुरुप के लिए अपनी उपमा दिये जाने से इन्कार कर दिया ।

किन्तु आज हम पुन इस विपय को ले रहे हैं क्योकि कवि भी पीछा नही छोडते । वे कहते हैं कि आखिर कोई प्राणी या कोई न कोई वस्तु तो उसके समान गुणहीन होगी ही । ऐसा निश्चय करके के वे श्लोक की अतिम पक्ति मे सुधार करते हुए कहते हैं—

'मनुष्य रूपेण खराश्चरन्ति ।'

अर्थात् निर्गुणी, मनुष्य के रूप मे गधे के समान हैं ।

किन्तु यह वात गधे को भी पसन्द नही आई । और उसने क्या उत्तर दिया यह श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज वताते हैं —

कहत गर्दभ शीत ताप खमू डील पर,
गुणी गुणी भार लाऊँ लगडे से भारी है ।
मल की सो घूटी देवें, काम आवे औषधि मे,
मिट्टी मे मिलावे जल होवे एक तारी है ।
शकुन सुलभ कहूँ, तुरत ही परगट,
और जो करूँ मैं मोक्ष मानन लिगारी है ।
और भी अनेक गुण मोय मे नराधिपति,
निगुणी की उपमा न लागत हमारी है ।

गधा कह रहा है—"हे नरश्रेष्ठ ! आप मुझे चाहे बुद्धिहीन कह लें पर गुणहीन न कहे । गुणहीन के लिये तो मेरी उपमा कदापि नही दी जा सकती क्योकि मुझमे तो कई गुण हैं ।"

"सर्वप्रथम तो मेरी यह विशेषता है कि मैं असह्य शीत, ग्रीष्म और वर्षा सभी को सहन करता हूँ । काम करता हूँ तव भी इन्हें सहन करना पडता है और घर पर वँधा रहता हूँ तव भी । कोई भी मेरा मालिक मुझे सर्दी गर्मी से वचाने के लिये किसी तरह का साधन करने की परवाह नही करता । क्या निर्गुणी इतना सहनशील होता है ? गुण भले ही उसमे नही होगे पर सर्दी, गर्मी आदि से वचाव तो वह करेगा ही उसमे सहन शक्ति मेरे जैसी नही होती ।"

"दूसरे, मेरे जितना वोझा क्या निर्गुणी ढो सकता है ? मैं दिन भर अपनी पीठ पर पडी हुई गोनी मे भर-भरकर मिट्टी, वालू रेत या ककर ढोता हूँ । कितना भारी होता है यह सव ? फिर भी अपने मालिक की सहायता करने के लिये अपनी शक्ति से अधिक वोझ भी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाकर ही दम लेता हूँ ।"

"तीसरी वात यह है कि मेरा मल एक तो औपधि के काम आता है । उसकी घूटी देने से शरीर की कई वीमारियाँ नष्ट हो जाती हैं । और कच्चे घरो की दीवालो और जमीनो को छापने के लिये भी उसे मिट्टी मे मिलाते हैं जिससे मिट्टी वडी मजवूत हो जाती है तथा चूने को भी मात करती है ।"

"मेरा चौथा गुण यह है कि मैं परदेश जाने वाले को अच्छा शकुन वताता हूँ । आप लोग कहते ही है कि किसी दूसरे गाँव जाने पर अगर दाहिनी तरफ गर्दभ वोले तो शुभ होता है यानी जिस कार्य के लिये यात्रा की जाती है वह सफल होती है । इस प्रकार किसी कार्य के होने और न होने की सूचना मैं तुरन्त दे देता हूँ । अर्थात्—मैं दाहिने या वाँये वोलकर वता देता हूँ कि आपके निर्धारित कार्य मे लाभ होगा या हानि । पर गुणहीन के वोलने से क्या लाभ है ? वह चाहे जितना वोलता रहे कोई उसकी परवाह नही करता ।"

"और इन सवके अलावा भी मेरा एक वडा भारी गुण है कि मैं अपने इतने परिश्रम का और अपने गुणो का कभी रच मात्र भी घमड नही करता । मेरा मालिक मेरे खाने पीने की भी परवाह अधिक नही करता, घास फूस भी कभी लाकर नही देता । छोड देता है कि खालो, जो मिले, पर मैं उसके लिये भी क्रोध नही करता । अपनी स्थिति से पूर्ण सतुष्ट रहता हूँ ।

इस प्रकार भाई ! मुझमे तो अनेक गुण हैं जो कि निर्गुणी व्यक्ति मे नही

पाय के मनुष्य देह, प्रभु से न कियो नेह,
पुण्य पाप जाने नहीं धिक अवतारी है।
राच्यो राग रग सग, माचो खाय खाय अग,
कुल मरजादा भग, नर्क अधिकारी है।
कहत त्रिलोक रिख, मान ले तू गुरु सीख,
भव-भव जै-जैकार लहे सुख भारी है।

कविकुल शिरोमणि महाराज श्री का कथन है कि भर्तृहरि के श्लोक के आधार पर मनुष्य को जिनकी सात उपमाएँ दी गई हैं, उन सभी से वह नेष्ट यानी न-इष्ट है दूसरे शब्दो मे हीन और निकृष्ट है।

अपनी माता के गर्भ मे नौ मास रहकर प्रथम तो उसने माता की कोख को लज्जित किया है, दूसरे स्वय भी मनुष्य शरीर पाकर उससे कोई लाभ नही उठाया। न तो उसने प्रभु की भक्ति ही की, और न ही पुण्य और पाप का अन्तर समझ कर पाप से बचा तथा पुण्य का उपार्जन ही किया।

पाप की प्रवृत्ति के विषय मे कहा गया है –

"सज्जनो दुर्जन स्यात् पापाद्विपरीत फल त्विह।"

पाप का फल सदा ही उलटा होता है। पाप करने से सज्जन पुरुष भी दुर्जन बन जाया करता है।

वस्तुत पाप-प्रवृत्ति मानव जीवन के लिये कलक है और इसमें लिप्त हुए जीव का इस पक से उबरना कठिन हो जाता है। किन्तु जो व्यक्ति पापों से बचते हुए शुभ कर्म करता है वह सदा सुखी रहता है। 'स्थानाग सूत्र' मे कहा गया है —

इह लोगे सुचिन्नाकम्मा,
इह लोगे सुहफलविवाग सजुत्ता भवन्ति।
इह लोगेसुचिन्नाकम्मा,
पर लोगे सुहफलविवाग सजुत्ता भवन्ति॥

इस जीवन मे किये हुए सत्कर्म इस जीवन मे भी सुखदायी होते हैं। इस जीवन मे किये हुए सत्कर्म अगले जीवन मे भी सुखदायी होते हैं।

तो महाराज श्री फरमाते हैं कि जिस जीव ने मनुष्य शरीर पाकर भी पापो से किनारा नही किया और पुण्यो का उपार्जन नही किया तो उसका मनुष्य के रूप मे अवतार लेना व्यर्थ है और उसे बार-बार धिक्कार है।

मानव-जन्म पाकर भी जो सदा राग-रग मे डूबा रहता है अर्थात् विषय-

भोगो के अथाह सागर मे डुबकियाँ लगाता रहता है वह अपने कुल की मर्यादा को भग तो करता ही है, मरने के पश्चात् नरक का भी अधिकारी बनता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है:—

इत कुल की करनी तजे, उतन भजे भगवान।
तुलसी ऊधवर के भये, ज्यो बँघूर के पान ॥

अर्थात्—जो गुणहीन व्यक्ति मनुष्य जन्म पाकर भी दान, शील, तप, सयम, क्षमा, सतोप आदि सद्‌गुणो को नही अपनाता तथा विपय-भोगो मे रत रहता हुआ कदाचार का सेवन करता है वह इस जन्म मे तो कुल का नाम डुबोता ही है साथ ही कभी भगवान का भजन न करने के कारण परलोक भी विगाड लेता है। और इस प्रकार धूल के ववडर मे फसे हुए पत्तो के समान उसकी दशा होती है जो कि न तो आकाश मे ही जा पाते हैं और न ही पृथ्वी पर रहते है। केवल अधर मे ही उडते रहते हैं।

इस प्रकार अनन्तानन्त पुण्यो के फलस्वरूप प्राप्त हुआ मानव-जन्म व्यर्थ चला जाता है और उसे इस प्रकार व्यर्थ गँवा देने को मूर्खता नही तो और क्या कहा जा सकता है ? इसीलिये कविवर कहते है—

"अरे भोले प्राणी ! तू निर्गुणता के इस कलक को अपने मस्तक से हटाने का प्रयत्न कर तथा सद्‌गुरु की शिक्षा, उनके उपदेश और उनके आचरण से लाभ उठा। अपने मे सद्‌गुणो का सकलन कर और उनकी सहायता से अपने कृत कर्मो को नष्ट करके आत्म-कल्याण कर। ऐसा करने पर इस लोक मे तो तेरा जय-जयकार होगा ही, परलोक मे भी तुझे अक्षय सुख की प्राप्ति हो सकेगी।

एक बार एक अजनबी व्यक्ति सयोगवश उसके यहा आ पहुचा और दामाजी ने आग्रहपूर्वक उसे भोजन करने के लिये आसन पर बैठा दिया। पर ज्यो ही उसने अपने मेहमान के सामने भोजन की थाली रखी, उसकी आखो से आसू बहने लगे।

दामाजी ने यह देखकर आश्चर्यपूर्वक पूछा—"भाई ! क्या बात है ? क्या तुम्हे किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव हो रहा है ?"

अतिथि ने उत्तर दिया—"नही, मुझे कष्ट तो कुछ भी नही है। पर मेरे गाव मे अकाल पड गया है अत सोच रहा हू कि मेरे बाल-बच्चे वहा भूखे होगे। इसीलिये मुझसे खाया नही जा रहा है।"

अतिथि की बात से दामाजी की आखो मे भी अश्रु छलक आए, पर उसने आगन्तुक को समझा-बुझाकर खाना खिलाया और जाते समय उसे काफी अनाज साथ मे बाध दिया ताकि वह अपने परिवार को भी खिला सके।

वह व्यक्ति जब अपने गाव मे पहुचा तो उसने दामाजी की उदारता की मुक्त कठ से सराहना की। परिणाम यह हुआ कि उस गाव से अनेक व्यक्ति दामाजी के यहा आने लगे। पर वह उन सब के लिये अनाज की पूर्ति कैसे करता ? यद्यपि उसके यहा कई कोठे अनाज के भरे हुए थे पर वे सब राज्य के थे। अत वह बडी चिन्ता मे पड गया। किन्तु आखिर उसने निश्चय किया कि अन्न के अधिकारी तो भूखे व्यक्ति ही होते हैं अत उन्हे अन्न देना चाहिये भले ही राजा मुझे इसके लिये दड देवें। मैं दण्ड सहर्ष भोग लूगा।

यह विचार कर उसने राजकीय कोठे खोल दिये और अन्न बाँटना प्रारम्भ कर दिया। अकाल-पीडित लोगो की कतारे लग गई और वे बेचारे अनाज ले-लेकर दामाजी को आशीर्वाद देते हुए चले गए। सभी को जीवित रहने योग्य अन्न प्राप्त हो गया।

इधर जब राजा को यह बात मालूम हुई तो उसने राज्य के कर्मचारियो के द्वारा दामाजी को पकडवा मगाया। दामाजी भी प्रसन्न मन से सिपाहियो के साथ चल दिये। यह बात सारे गाँव मे फैल गई और एक सहृदय श्रीमत को भी इसका पता लगा। वह उसी समय राजा के पास गया और बोला—"महाराज ! दामाजी ने जितना भी राज्य का अनाज दुष्काल-पीडित लोगों मे बाँट दिया है, उस सबका पैसा आप मुझसे लेकर खजाने मे जमा कर लीजिये और दामाजी को मुक्त कर दीजिये।"

राजा को बात जँच गई और उसने सेठ से धन लेकर दामाजी को छोड दिया। यही दामाजी 'भक्त दामाजी पथ' के नाम से आगे जाकर प्रसिद्ध हुए।

इस उदाहरण को देने का अभिप्राय यही है कि दामाजो और धन देने वाले उस श्रेष्ठि की उदारता के समान ही जब व्यक्ति मे दया और उदारता की भावना पनपती है तब वह ईश्वर का सच्चा भक्त कहलाता है। भगवान् अपनी पूजा से कभी प्रसन्न नही होते, वे निर्धनो पर दया करने से तथा दुखियो की सेवा करने से प्रसन्न होते हैं। यही उनकी सच्ची पूजा है कि मानव ससार के समस्त प्राणियो के प्रति सद्भावना और क्षमा के भाव रखे।

तो श्लोक मे बताए गये अहिसा, सयम, दया, क्षमा आदि जो आठ गुण हैं वे वस्तुत आत्मा को शुद्ध बनाकर ऊँचा उठानेवाले हैं। हमारा जैनधर्म भी आत्म-शुद्धि और पाप-मुक्ति के लिये इन्हे पूर्णतया अपनाने का आदेश देता है। जो व्यक्ति इनका महत्त्व नही समझता वह लोभ-लालच से नही बच सकता और लोभ तो समस्त पापो का मूल है ही। इसलिये कबीर ने कहा है—

कामी, क्रोधी, लालची इन तें भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई सूरमा, जाति बरन कुल खोय॥

कामी, क्रोधी और लालची व्यक्तियो का हृदय कभी भी निष्पाप नही रह सकता अत वे ईश्वर की भक्ति स्वप्न में भी नही कर सकते। भक्ति वही शूरवीर कर सकता है जो इन्द्रियो पर पूर्णतया विजय प्राप्त कर सके तथा अपने मन को अकुश मे रख सके। साथ ही जो अपनी जाति, कुल और वर्ण का अभिमान त्याग कर अपने आप को केवल मानव समझे और अन्य समस्त प्राणियो को भी आत्मवत् समझे वही प्रभु का भक्त कहला सकता है और साधना के मार्ग पर बढ सकता है।

पर ऐसा कौन कर सकता है? केवल वही, जो ससार की अनित्यता पर विश्वास रखता है। ऐसा न माननेवाला व्यक्ति कभी मोह-माया के पाश से मुक्त नही हो सकता।

भारतभूषण शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने अपनी 'भावनाशतक' पुस्तक मे एक श्लोक लिखा है—

प्राज्य राज्यसुख विभूतिरमिता,
येषामतुल्यम् बलम्।
ते नष्टा भरतादयो नृपतयो,
भूमण्डलाऽखण्डला॥
रामो रावण मर्दनोऽपि विगत।
पर्वते गता. पाण्डवा।

वस्तुत यही कहा जाता है कि जब तक सर्प के शरीर पर केंचुली रहती है, वह अधा रहता है। अत ज्योही वह उसके शरीर पर से अलग हो जाती है अधेपन से मुक्त होकर वह सरपट भागता है। पीछे मुडकर भीन ही देखता भय के कारण। इसी प्रकार भक्त पापो का ऐसे त्याग कर देता है कि पुन उनको करने का स्वप्न मे भी विचार नही करता। सर्प जैसे केंचुली से डरता है, उसीप्रकार भक्त या साधक पापो से डरता है। उनके भयभीत रहने के कारण ही वह ससार से अलिप्त रहता है तथा अनासक्तभाव से केवल ईश भक्ति मे लगा रहता है। यद्यपि ससार मे रहते हुए समस्त सासारिक पदार्थों से और सासारिक नातो से विमुख रहना वडा कठिन कार्य है किन्तु जब वह ससार की अनित्यता को समझ लेता है तो उसमे गृद्ध रहकर अपने अमूल्य जीवन को क्षणिक सुखो के पीछे नष्ट करने की मूर्खता नही करता। यही सत्य भी है जिसके विषय मे महात्मा कबीर ने कहा है —

जब लग नाता जगत का, तब लग भक्ति न होय।
नाता तोडे हरि भजे, भक्त कहावे सोय ॥
कामी क्रोधी लालची, इनतें भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई सूरमा जाति वरन कुल खोय ॥

कहते हैं—जब तक ससार से नाता नही टूट जाता, तब तक प्रभु की भक्ति नही हो सकती और जो भव्य प्राणी ऐसा करके परमात्मा का भजन करते है वे ही भक्ति कर सकते हैं तथा भक्त कहलाते है।

कोई व्यक्ति यह चाहे कि मैं ससार के समस्त सुखो का उपभोग भी करता रहूँ तथा ईश्वर को भी प्रसन्न कर लूँ तो यह कदापि सभव नही है। उसे दो मे से एक को चुनना पडेगा। कबीर ने आगे कहा भी है—काम-भोगो मे रत रहने वाला, क्रोध करनेवाला और लालच करनेवाला व्यक्ति कभी भगवान की भक्ति नही कर सकता। भक्ति का मार्ग तो इनसे उलटा है।

संस्कृत के एक श्लोक मे वताया गया है कि भगवान पूजा मे कौन से पुष्प चाहते हैं ? यानी किस प्रकार उन्हे प्रसन्न किया जा सकता है। श्लोक इस प्रकार है—

अहिंसा प्रथम पुष्प, द्वितीय करणग्रह ।
तृतीयक भूतदया, चतुर्थं शान्तिरेव च ॥
शमस्तु पञ्चम पुष्प, ध्यान चैव तु सप्तमम् ।
सत्य चैवाष्टम पुष्प एतै स्तुष्यति केशव ॥

एतैरेवाष्टभि पुष्पैस्तुष्यते चार्चितो हरिः।
पुष्पान्तराणि सन्त्येव बाह्यानि नृपसत्तम ॥

—पद्मपुराण

पद्मपुराण मे वेदव्यासजी ने कहा है—

पहला अहिसा, दूसरा इन्द्रियसयम, तीसरा जीवा पर दया करना, चौथा क्षमा, पाचवा शम, छठा दम, सातवा ध्यान तथा आठवा पुष्प सत्य होता है। इन पुष्पो के द्वारा भगवान सतुष्ट होते हैं। हे नृपश्रेष्ठ ! अन्य पुष्प तो पूजा के बाह्य अग हैं, भगवान तो उपर्युक्त आठ पुष्पो से पूजित होने पर ही प्रसन्न होते हैं।

श्लोक मे अत्यन्त सुन्दर और सत्य कथन दिया गया है। वास्तव मे पूजा दो प्रकार की होती है—(१) द्रव्य पूजा (२) भाव पूजा।

आज हम शहरो और गावो मे सहज ही देख सकते है कि मदिरो मे फूल, नैवेद्य आदि चढाते हुए तथा घटे-टोकरी बजाकर आरती करते हुए व्यक्ति भगवान को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु उस पूजन क्रिया के साथ अतरग कितना जुडा हुआ होता है यह उनके जीवन से मालूम पड सकता है। यानी दुनियादारी के प्रपचो मे आकठ डूबे हुए तथा एक-एक पैसे के लिए वे दुकान पर ग्राहक को धोखा देते हुए, अधिक से अधिक धन वृद्धि की लालसा से बात-बात मे झूठ बोलते हुए तथा अपने धन और बडप्पन के नशे मे चूर रहकर निर्धनो पर अत्याचार करते हुए भी वे ही लोग देखे जाते है। ऐसी स्थिति मे उनकी द्रव्य पूजा क्या परमात्मा को प्रसन्न कर सकती है ? नही, जो पूजा अन्तर्मन से नही की गई हो उसका कभी श्रेष्ठ फल नही मिल सकता।

श्रेष्ठ फल उस पूजा का ही मिलता है, जो अन्तर्मन से की गई हो। और और वह पूजा जैसी की श्लोक मे बताई गई है आत्मा से सबध रखती है। जिस व्यक्ति के हृदय मे हिंसा की भावना नही होती तथा ससार के समस्त प्राणियो के प्रति स्नेह और दया की भावना होती है, वही सच्चे मायने मे परमात्मा को प्रसन्न कर सकता है।

भक्त दामाजी

कहा जाता है कि महाराष्ट्र के एक गाव मे दामाजी नामक एक अत्यन्त दयालु व्यक्ति रहता था। किसी भी दुखी का दुख देखकर वह द्रवित हो जाता, और प्राणपण मे उसे दुख-मुक्त करने का प्रयत्न करता था। उसका एक नियम यह भी था कि अपने घर आए हुए किसी भी अतिथि को वह भूखा नही लौटने देता था।

११ | आज-काल कि पाँच दिन, जंगल होगा वास

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

जीवात्मा को ससार-परिभ्रमण से छुडाने के लिये भगवान ने बारह भावनाओ का निर्देश किया है जिनका सतत चिंतन करने से आत्मा अपने स्वाभविक गुणो का विकास करती है तथा धर्म पर दृढ प्रतीति रखती हुई शनै-शनै मुक्ति की ओर बढती है।

बारह भावनाओ मे से पहली भावना है अनित्यता। यह भावना बताती है कि इस ससार मे जितने भी पदार्थ है, सभी क्षणभगुर है। कोई भी चिरस्थायी रहनेवाला नही है। सस्कृत मे एक कहावत है—'यद् दृष्टम् तद् नष्टम्।'

अर्थात् जो भी वस्तु दृष्टिगोचर होती है यानि आखो से दिखाई देती है, वह नष्ट होनेवाली है। आत्मा आँखो से दिखाई नही देती अत उसका नाश नही होता। वह अक्षय और अविनाशी है। किन्तु दिखाई देने वाली प्रत्येक वस्तु नाश को प्राप्त होगी।

आपके मन मे सदेह होगा कि दिखाई तो सूर्य और चन्द्र भी देते हैं, तो क्या ये भी कभी नष्ट हो जायेंगे ? हाँ, शास्त्र कहते हैं कि चन्द्र, सूर्य, तारागण और नक्षत्र सभी की जिन्दगी है, आयुमर्यादा है। अगर उनकी आयुमर्यादा की पूर्णाहुति हो गई तो उन्हे अपना स्थान छोडना पडेगा।

इस विषय मे सत कबीर भी कहते हैं—

चन्दा भी जाएगा सूरज भी जाएगा,
जाएगा पवन और पानी।

दास कबीरा की भक्ति नहीं जाएगी,
ज्योत मे ज्योति मिलानी।
आखिर जाएगी जिन्दगानी।

कबीर का भी कथन है—'चन्दा भी जाएगा, सूरज भी जाएगा।' सुनकर आपके मन मे सकल्प विकल्प उठ रहे होगे कि सूर्य और चन्द्र दोनो चले गए तो अधेरा हो जाएगा और फिर संसार का कार्य कैसे चलेगा ?

पर भाइयो ! ऐसी बात नही है। आप जानते ही हैं कि किसी का भी स्थान कभी खाली नही रहता। यथा—एक राजा समाप्त होता है तो राज-गद्दी पर दूसरा राजा आसीन होता है। इसी प्रकार राज्य का प्रत्येक कर्मचारी चाहे वह मन्त्री हो या गांव का छोटा सा चौकीदार, अगर वह अपना स्थान छोड देता है तो तुरन्त ही उसके स्थान पर नई नियुक्ति हो जाती है। अपनी-अपनी योग्यतानुसार व्यक्ति स्थान प्राप्त करता जाता है।

यही बात चन्द्र एव सूर्य के लिये भी है। वे जब तक विद्यमान हैं, विश्व को प्रकाशित करते है किन्तु जिस दिन उनकी पूर्णाहुति हो जाएगी उनके स्थान पर उतनी योग्यता रखने वाले यानी इन स्थानो को पाने लायक करनी करने वाले इनका स्थान ग्रहण कर लेंगे और वहां पैदा हो जाएँगे। अत इस विषय को लेकर सकल्प-विकल्प करने की आवश्यकता नही है।

अब बचे पवन और पानी। वे तो बहते ही रहते है जो जाएँगे ही। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र तो क्या ससार की हर वस्तु जाने वाली है यानी नष्ट होने वाली है। इसमे किसी प्रकार का सदेह नही है।

किन्तु कबीर जी कहते है कि मेरी भक्ति कभी नही जाएगी, उसका कभी नाश नही होगा। वह आखो से दिखाई देनेवाली चीज नही है और तब तक विद्यमान रहेगी जब तक मेरी आत्मा जो कि परमात्मा का ही अश है, पुन उसमे नही मिल जाएगा। 'ज्योत मे ज्योत मिलानी।' इसमे यही आशय है कि परमात्मा कोई स्थूल पदार्थ नही है एक अवर्णनीय एव उज्ज्वलतम प्रकाश है जिसकी एक किरण मेरे इस शरीर मे कैद है और जिस दिन वह पापो से मुक्त हो जाएगी, परमात्मा रूपी उस विशाल प्रकाशपु ज मे मिल जाएगी। महाभारत मे कहा भी है—

"जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णमिवत्वचम्।"

जिसके हृदय मे श्रद्धा या भक्ति का माधुर्य भर जाता है वह पापो का इस प्रकार परित्याग कर देता है जैसे सर्प अपनी जीर्ण-शीर्ण केंचुली का परित्याग करता है।

राजानोऽपि महाबला मृतिमगु',
का पामराणा कथा ॥

कहा गया है—जो अखिल भूमण्डल के अधिकारी चक्रवर्ती सम्राट् थे और जिनके विशालतम राज्य, अपार वैभव और वल की तुलना किसी से नहीं हो सकती थी ऐसे भरत, सगर, तथा मघवा आदि पृथ्वी के शासक भी नष्ट हो गये अर्थात् उन्हे काल का भोग बनना पडा।

वधुओ, चक्रवर्ती सम्राट् के वैभव की जिस प्रकार गणना नही हो सकती, उसी प्रकार उनके शारीरिक वल की भी किसी से तुलना नही की जा सकती थी। हमारे शास्त्रो मे वर्णन है कि असली हीरा जो ऐरण और घन के वीच मे आने पर भी नही फूटता उसे चक्रवर्ती सम्राट की दासी अपनी चुटकी से ही मसलकर चूर-चूरकर देती थी। तो मात्र जूठन खानेवाली दासी मे जव इतनी शक्ति होती थी तो स्वय चक्रवर्ती राजा मे कितनी शक्ति होती होगी? किन्तु ऐसे सम्राटो को भी काल का सकेत पाते ही इस पृथ्वी पर से प्रयाण करना पडा। इससे स्पष्ट है कि जव ऐसे-ऐसे वलशाली व्यक्तियो को जाना पडा तो क्या हम सदा यही रह लेंगे? नही, जिस नदी मे हाथी भी डूव सकता है उसके लिये खरगोश कहे कि मैं तो आराम से उस पार चला जाऊँगा तो यह सभव नही है। जहाँ हाथी का भी वश नही चलता वहाँ खरगोश की विसात ही क्या है।

यहा आप कहेगे कि भरत चक्रवर्ती तो भगवान आदिनाथ के पुत्र थे और यह वात वहुत पुरानी हो गई है तो अब श्लोक मे दी गई उससे वहुत वाद की वात भी आपके सामने रखता हू। वह राम और रावण के समय की है। राम और रावण चौवीस तीर्थंकरो मे से वीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत स्वामी के समय मे हुए थे।

तो रावण भी तीन खण्ड का राजा था। और उसके पास विद्या, धन, वल तथा परिवार सभी की प्रचुरता थी। सूर्य और चन्द्र को भी अपनी इच्छानुसार चलानेवाला सोने की लका का स्वामी रावण अपनी अनीति के कारण इस ससार से चला गया। खैर रावण को अपनी अनीति का फल भुगतना पडा किन्तु राम को तो यही रहना था। पर नही, रावण के मद का मर्दन करनेवाले मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी यहा से जाना पडा। वे भी सदा के लिये यहा विद्यमान नही रह सके।

अव आते हैं कौरव और पाडव। ये वाईसवे तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भगवान के समय हुए थे। इन दोनो मे से कौरव अत्याचारी थे अत वे पाडवों

के हाथ से मारे गए। किंतु पाडव नीतिवान् और सदाचारी थे, क्या वे भी यहा रह पाते ? पर कहा, उनकी आयु सम्पूर्ण होते ही उन्हे भी यह लोक छोडना पडा।

और उमके वाद भी वडे-वडे वादशाह और राजा-महाराजाओ की परम्परा चलती रही। पर आज कोई भी उनमे से सदा के लिये यहा नही रह सका। इसीलिये उर्दू के कवि जौक ने कहा—

दिखा न जोशो-खरोश इतना, जोर पर चढकर।
गये जहान मे दरिया वहुत उतर चढ़-कर॥

अरे मानव! अपने वल, वैभव, अथवा परिवार के गर्व मे आकर इतना जोश-खरोश न दिखा। इस दुनिया मे वहुत से दरिया चढ-चढकर उतर गए।

कहने का अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार ससार की अन्य समस्त वस्तुएँ नश्वर हैं उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी क्षणभगुर है। प्रत्येक व्यक्ति मौत के नाम से कापता है और मरना नही चाहता, पर उसे उससे छुटकारा नही मिलता। इसलिये विवेकी और वुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने अल्पकालीन जीवन को भोग-विलास एव कपायो के उद्रेक से पापमय न वनाए तथा विश्व-वन्धुत्व की भावना से परिपूर्ण रखते हुए प्राणीमात्र की सेवा मे लगाकर इसको सार्थक वनाए।

सेवाभावी मघा

वौद्ध ग्रन्थो मे भगवान वुद्ध के पिछले जन्म की एक कथा आती है। पूर्व जन्म मे उन का जीव मगध के एक गाँव मे पैदा हुआ। उस ममय 'मघा नक्षत्र' का समय था अत उनका नाम ही मघा रख दिया गया।

मघा की आकृति वडी भव्य थी और अन्य सभी लक्षण शुभ थे। उनके आधार पर ज्योतिपियो ने कहा कि यह वालक वडा सेवा भावी होगा। और सचमुच ही जव वह वारह वर्प की उम्र का मुशकिल से हो पाया, उसने सेवा व्रत अपना लिया।

वह अपने घर और वाहर की सफाई तो करता ही था, पूरे गाँव की सफाई भी करने लग गया। लोग उसे तग करने के लिये उसके द्वारा साफ किये हुए स्थानो पर पुन कूडा-करकट डाल दिया करते थे, किन्तु मघा शातिपूर्वक उन स्थानो को फिर साफ कर देता।

उसके निरन्तर ऐसा करते रहने के कारण गाँव के नवयुवक उसकी ओर आकर्षित हुए और मघा के कार्यों मे हाथ बटाने लगे। धीरे-धीरे मघा के बत्तीस साथी हो गए जो गाँव की सफाई तो करते ही थे, शराबियो को समझा बुझाकर उनका शराब पीना भी छुडाते थे। दुराचारी व्यक्तियो को भी सदाचारी बनाने का प्रयत्न करते और गाँव मे होने वाले झगडो मे बीच-बचाव करके लोगो को शात करते थे। इस प्रकार लोगो के दिलो की भी वे शुद्धि किया करते थे। उनके ऐसे कार्यों से गाँव वाले उनकी सराहना करने लगे। किन्तु सभी व्यक्ति एक सरीखे नही होते। कुछ ऐसे भी उस गाँव मे थे जो मघा और उसके साथियो से जलते थे।

मौका पाकर उन लोगो ने वहाँ के राजा से शिकायत कर दी कि इस गाँव मे कुछ लुटेरे ऐसे हैं जो प्रजा को परेशान करते हैं तथा लोगो का धन-माल खतरे मे है।

राजा शराबी और कान का कच्चा था। लोगो की बातो पर उसने विश्वास कर लिया और अपने कर्मचारियो को आज्ञा दी कि उन लुटेरो को पकड कर हाथी के पैरो तले कुचलवा दो। गाँव के निवासी राजा का यह हुक्म सुनकर बडे चकित और दुखी हुए उन्होने विरोध भी करना चाहा।

किन्तु मघा ने उन्हे समझा बुझाकर शात किया और बिना अपने आपको सिपाहियो से पकडवाये स्वय ही अपने साथियो सहित राजा के समक्ष आ उपस्थित हुआ। सभी को बडा आश्चर्य हुआ किन्तु राजाज्ञा थी अत उन सबको हाथी से कुचलवाने का बन्दोबस्त किया गया।

मघा के सब साथी बहादुर थे और मघा ने उन्हे और भी बहादुर बना दिया था। उसने सबसे कहा—"आज ही हमारी सच्ची परीक्षा है अत सम-भाव पूर्वक जो कुछ भी गुजरे सहन कर लेना। वैसे मैं तुम सबसे आगे लेटता हूँ। अगर तुम्हे हाथी मारेगा तो उससे पहले मुझे भी मारेगा।"

हाथी आया किन्तु लोगो ने महान् आश्चर्य से देखा कि उसने मघा को कुचलना तो दूर, उसे बडे प्यार से सूँघा और वापिस लौट गया। यह देखकर राजा ने दूसरे मदोन्मत्त हाथी को लाने की आज्ञा दी। दूसरा हाथी भी आया। पर उसने भी ऐसा ही किया। वह मघा के पास गया किन्तु उसके आसपास चक्कर लगाकर और उसे सूँघकर वह भी वापिस लौट गया। इसी तरह तीसरे हाथी ने भी किया। इस पर राज्यकर्मचारी कहने लगे ये लोग तो जादू-मन्त्र जानते है।

इस पर राजा ने मघा को अपने पास बुलाकर पूछा "भाई ! तुमने कौन सा मन्त्र सिद्ध किया है, जिससे हाथियो को भी भगा देते हैं ?"

मघा ने विनय पूर्वक उत्तर दिया—"महाराज ! मुझे केवल एक ही मन्त्र याद है। वह यह कि तुम्हे जो अच्छा लगता है वही दूसरे के लिये करो ।"

राजा ने फिर प्रश्न किया—"इस मन्त्र को किस प्रकार सिद्ध किया जाता है ?"

"अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच साधनो के द्वारा—" मघा ने उत्तर दिया, इनकी आराधना करने से यह मन्त्र सिद्ध हो जाता है ।"

राजा ने मघा की वातो से अत्यन्त प्रभावित होकर पूछा—"क्या मेरे राज्य मे तुम इसी का प्रयोग करते थे ?"

"हाँ महाराज ! मैं इसी मन्त्र का प्रयोग करता था ।"

इसी बीच जवकि राजा मघा से वातें कर रहा था कुछ प्रजाजन समीप आए और बोले—"हुजूर ! मघा भाई और इनके साथियो के जैसे राज्य भक्त तो राज्य मे और कोई है ही नही । ये जैसे कार्य करते हैं और कोई भी नही कर सकता । आप के कर्मचारियो ने तथा कुछ अन्य लोगो ने ईर्ष्या के कारण ही आप से इनकी शिकायत की है ।"

सारी वात समझने के पश्चात् राजा ने उन लोगो को और उन कर्मचारियो को जिन्होने मघा की झूठ-मूठ शिकायत की थी, पकडवा लिया और उन सवको हाथी के पैरो के नीचे कुचलवा देने की आज्ञा दे दी ।

लेकिन मघा ने अत्यन्त विनयपूर्वक राजा से प्रार्थना की—"महाराज ! मैं चाहता हू कि आप मेरे भाइयो को इस प्रकार दड न दें तथा इन्हें मुक्त कर दें । राजा मघा के अपने दुश्मनो के प्रति भी ऐसे क्षमापूर्ण एव उदार वर्ताव से अत्यन्त प्रभावित हुए और उसे अपना प्रधान वना लिया ।

मघा ने राज्य का ऐसा सुन्दर सचालन किया और इतनी उत्तम व्यवस्था की कि उसके नाम पर ही उस देश का नाम मगध देश प्रसिद्ध हो गया ।

आशय यही है कि स्नेह और सद्भावना रखते हुए जो सेवा-धर्म को अपनाता है वह इस लोक मे तो यशस्वी बनता ही है, परलोक मे भी अक्षय सुख की प्राप्ति करता है । और ऐसे व्यक्ति ही सच्चे भक्त कहलाते हैं जिनकी भाव-पूजा से भगवान प्रसन्न होते हैं । सच्चे भक्त की निर्मल एव शुद्ध आत्मा ही अन्त मे परमात्मा पद को प्राप्त करती है जिस आशय से कवीर ने कहा हैं—"दास कवीरा की भक्ति न जाएगी ज्योति मे ज्योत मिलानी ।"

ध्यान मे रखने की वात है कि भगवान अपनी सेवा-पूजा से प्रसन्न नही होते अपितु वे दीन, दरिद्र एव दुखियो की सेवा करने से प्रसन्न होते है। और यह वही कर सकता है जिसके हृदय मे अहिसा, सत्य, सयम, स्नेह, शील, तथा सदाचार के समस्त गुण हो।

अव समस्या यह सामने आती है ये सव गुण आत्मा मे पनपें कैसे ? वे तभी पनप सकते हैं या जागृत हो सकते हैं जबकि व्यक्ति सद्गुणियो की सगति मे रहे, सदगुरु के उपदेश सुने तथा शास्त्रो का स्वाध्याय एव श्रवण करें। पर गुरु के उपदेश और शास्त्रो का श्रवण केवल कानो तक ही न रखे अन्यथा वह तोता-रटत हो जाएगा। यानी सुनना है अत सुन लिया, किन्तु उस पर चिन्तन मनन नही किया और उसे आचरण मे भी नही उतारा तो सुनने का कोई लाभ नही है। श्रोताओ का सवसे बडा कर्तव्य ही यह है कि वह जो कुछ सुने उसे आत्मा की गहराई तक पहुँचाए तथा अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसते हुए व्यवहार मे ही लाए।

आप अपने अमूल्य समय का लाभ लेने के लिये अनेक काम-काज छोडकर यहाँ आते हैं और शास्त्रो की वाणी सुनते हैं। किन्तु यहाँ से जाकर अगर उस पर चिन्तन न करे तो फिर वह आपके आचरण मे कैसे उतर सकती है ? उसके लिये आपको गाय के समान जुगाली करनी चाहिये।

हम प्राय देखते हैं कि गाय जगल मे चरती है या घर पर भी घास खाती है किन्तु अपनी भूख को मिटाने जितना खा लेने के पश्चात् वह घास से मुँह हटाकर एक ओर शाति से वैठ जाती है और फिर जुगाली करती रहती है। उस जुगाली को मराठी भाषा मे वाघुल भी कहते हैं। जव तक वह वाघुल नही करती यानी खाये हुए का अच्छी तरह से चर्वण नही करती, तव तक उसका खाया हुआ घास पचता नही है और उस स्थिति मे वह उसके शरीर को लाभ नही पहुचाता।

इसी प्रकार आप उपदेश सुनते हैं, शास्त्र श्रवण करते है किन्तु उसके पश्चात् अगर एकान्त मे वैठकर उस पर मनन नही करते तो आपका सुना हुआ विषय आपको लाभ नही पहुचाता और आपकी आत्मा तक नही पहुच पाता आगे जव वह आत्मा को भी नही छूता तो फिर आचरण मे उतर भी कैसे सकता है ?

आद्य शकराचार्य ने कहा है—

"श्रवण की अपेक्षा मनन मे हजार गुनी अधिक शक्ति है और मनन की अपेक्षा अनुसरण मे हजार गुनी और अधिक ।"

इसलिये बघुओ ! आप केवल सुनने का ही शोक मत रखो अपितु उसके मनन करने का और उसके पश्चात् अनुसरण करने का भी ध्यान रखो । तभी सूना हुआ पल्ले पडेगा और उस मे आत्मा को कुछ लाभ हासिल हो सकेगा ।

आज हमारा विषय अनित्यता है । अगर आप इस पर ध्यान देंगे तथा ससार की अनित्यता पर गम्भीरतापूर्वक मनन करेंगे तो आपकी आत्मा स्वय ही धीरे-धीरे ससार से विरक्त होती जाएगी । पर खेद की वात है कि लाखो लोगो को प्रतिदिन मरते हुए देखकर भो अपनी मृत्यु को याद नही रखता तथा जीवन मे लाभ उठाना नही चाहता । सत-महापुरुप वार वार हमे चेतावनी भी देते हैं जैसे—

यह तन काँचा कुम्भ है, माहि किया रहवास ।
कविरा नैन निहारिया, नहीं पलक की आस ॥
कविरा जो दिन आज है, सो दिन नाहीं काल ।
चेत सके तो चेतिये, मीच परी है ख्याल ॥
कविरा सपने रैन के, उधरी आये नैन ।
जीव परा बहु लूट मे, जगे तो लेन न देन ॥
आज काल कि पाँच दिन, जगल होगा वास ॥
ऊपर ऊपर हल फिरे, ढोर चरेंगे घास ॥

कवीर जी कहते हैं— यह मनुष्य-शरीर मिट्टी के कच्चे घडे के समान है और इसी मे जीवात्मा निवास करता है । हम सदा आंखो से देखते है कि इसके निकल जाने मे एक पल का भी भरोसा नही है । जिस तरह कच्चे घडे को फूटने मे देर नही लगती, उसी प्रकार इस शरीर के नष्ट होने मे भी देर नही लगती । एक वार पलक के पकडने मे जितनी देर लगती है, उतना भी इसका भरोसा नही है ।

आगे कहा है—जो दिन आज है वह काल भी वैसा ही होगा यह कोई नही कह सकता । मौत सदा सिर पर सवार रहती है अत हे जीव ! तू चेत सके तो तुरन्त ही चेत जा । अज्ञानी जीव वरसो का वन्दोवस्त करते हैं जैसे उतने समय तक वे निश्चय ही जीवित रहेंगे । किन्तु वरस छोडकर महीने, दिन घटे या पलभर की भी कोई गारटी नही ले सकता । हँसता-खेलता व्यक्ति किस क्षण लुढक जाएगा कोई भी नही जान सकता । इसलिये मनुष्य को तो प्रतिपल सफर का प्रबन्ध करके तैयार रहना चाहिये । और वह वदोबस्त

यहाँ का बैंक-बैलेंस, महल-मकान, गाडी-घोडे, बाग-बगीचे और लम्बा-चौडा परिवार नही है। अपितु केवल शुभ कर्मों का सचय है। अगर जीव ने यहाँ पुण्योपार्जन कर लिया तो समझ लो कि उसने परलोक-यात्रा की तैयारी की है।

यह जीवन तो स्वप्नवत् है। रात को सपने मे देखते हैं कि जीव लूट मे पडा हुआ है, नाना प्रकार के भोगोपभोगो को भोग रहा है तथा ऐश-आराम कर रहा है। किन्तु नीद खुलते ही वह सब गायब हो जाता है। यही हाल जीवन के पश्चात् होता है। क्षणिक जीवन मे हजारो तरह से भोगे हुए सुख और समस्त राज-पाट या धन दौलत, आँख मूँदते ही काल के अतल मे विलीन हो जाते हैं।

कबीर की लिखी हुई अतिम लाइनें कितनी मार्मिक हैं? कहा है—अरे भाई! जीवन का कोई भरोसा नही है। कदाचित प्राण आज ही यहाँ से प्रयाण कर जाएँ, आज बच गए तो कल की खैर नही, और भाग्य ने अधिक जोर मारा तथा यमराज के खाते मे कुछ सास जमा हुए तो दस-पाँच दिन और निकल जाएँगे पर आखिर मरना तो अनिवार्य है। पर उसके बाद क्या होगा? तुम्हारी इसी देह को देखकर लोग डरेंगे, पत्नी भी समीप नही आएगी। और शीघ्र से शीघ्र तुम्हारा डेरा जगल मे पहुँचा दिया जाएगा। जहाँ न तुम्हारा कोई स्वजन रहेगा, न तुम्हारे रहने के लिये हवेली होगी और न ही तुम्हारे बैठने के लिये घोडा गाडी या मोटर होगी। सुनसान स्थान पर केवल छ हाथ जमीन खोदकर तुम्हे गाड दिया जाएगा और चद दिन बाद ही उस पर हल चलने लगेंगे या घास ऊग जाने पर उसे जानवर चरेंगे। तुम्हे कौन फिर याद करेगा और तुम्हारी जीवनभर कमाई हुई दौलत किस काम आएगी?

इसलिये बधुओ, हमे ससार की अनित्यता को स्मरण रखते हुए कभी नही भूलना है कि जीवन भी क्षणभगुर है। और इसीलिये बिना समय बर्बाद किये धर्म के स्वरूप को समझ लेना है तथा आत्मकल्याण के सच्चे उपायो को जान लेना है। मृत्यु के पश्चात् बोधि अत्यन्त दुर्लभ है—बडी कठिनाई से प्राप्त हो सकती है। गया हुआ समय कभी लौटकर नही आता -

यदतीतमतीतमेव तत्।'

जो गया सो गया। हाथ से छूटा हुआ तीर पुन हाथो मे आना कठिन है। इसी प्रकार दोबारा मानव जीवन की उपलब्धि होना भी सरल नही है। क्षण

क्षण मे क्षीण होती हुई आयु समाप्त हो गई और धर्माचरण न किया गया तो मानव-जन्म के लक्ष्य की सिद्धि होना असभव है। क्योकि धर्माचरण से रहित मनुष्य अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण करते रहता है।

खेद की बात है कि मृत्यु को पहचानता हुआ भी मानव केवल अपने वर्तमान को देखता है और भविष्य के सबध मे नितान्त उपेक्षा की वृत्ति रखता है। कदाचित् कभी भविष्य की ओर देखता भी है तो इस प्रकार मानो उसे सदैव जीवित ही रहना है। 'मैं' और 'मेरी' के सकल्प-विकल्पो मे उलझा हुआ वह, उन्ही की सतुष्टि के प्रयत्न मे रहता है।

वह भूल जाता है कि इस लोक मे सचित किया हुआ धन परलोक मे तो काम आता ही नही, उलटे अवसर पडने पर इस लोक मे भी सहायक नही बनता। हम देखते ही है कि अनेक बार अशुभ कर्मो के उदय होने पर व्यक्ति मानसिक या शारीरिक रोगो से ग्रस्त हो जाता है और लाखो रुपया लुटा देने पर भी उनसे छुटकारा प्राप्त नही कर सकता। इसी प्रकार सर्वस्व त्याग देने पर भी वह मौत से नही बच पाता। तो बताइये, धन इस लोक म भी क्या काम आया ? यही बात स्वजन-परिजनो के सबध मे भी है। जिस प्रकार धन से रोग नही हटाये जा पाते और मृत्यु से नही बचा जाता, उसी प्रकार स्वजन-परिजन भी किसी को मृत्यु से नही बचा सकते। कहा भी है—

कौन बचाएगा तुझको जब मृत्यु दूत घेरेंगे।
आसपास हो खडे स्वजन सब टुकुर-टुकुर हेरेंगे॥

इसलिये मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य यही है कि वह प्राप्त-जीवन का सम्पूर्ण लाभ उठाकर आत्मकल्याण करे। प्रकृति ने उसे असीम शक्तियाँ प्रदान की हैं, जिनकी सहायता से वह ऊँचे से ऊचा उठ सकता है, यहाँ तक कि परमात्मा का पद भी पा सकता है। पर यह सहज ही हो सकनेवाला नही है। इसके लिये धर्माराधन करना पडेगा, शास्त्रो के विधानो को अपनाना होगा, भूतकाल के पापो का प्रायश्चित करते हुए भविष्य मे उत्कृष्ट भावनाओ को हृदय मे स्थायी स्थान देना होगा तथा सद्गुणो की सौरभ से जीवन को महकाना होगा।

ऐसा करने पर ही श्रद्धाशील एव विवेकी साधक स्व एव पर का कल्याण करने मे समर्थ बनता हुआ अक्षय शाति और अनन्त सुख का भागी बनेगा।

१२ मन के मते न चालिये

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

हमारा जैन दर्शन मन, वचन एव काया को स्थिर रखते हुए एकाग्र चितन का आदेश देता है। यानी मन को स्थिर करो, वचन को कावू मे रखो और काया को भी अनुशासनपूर्वक चलाओ। क्योकि ये तीनो ही पापो का उपार्जन करते है।

क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चारो कपाय मोह को भी साथ लेकर जव मन, वचन और शरीर, इन तीनो योगो से मिलते हैं तो कर्मों का वधन होता है। यद्यपि तीर्थंकर मे भी मन, वचन और काया ये तीनो योग होते हैं, किन्तु उनके कर्म नही वँधते। इसका कारण यही है कि उनमे कपाय नही होते। जहाँ कपाय होते हैं वही कर्म वँधते हैं। इसलिये जहाँ कपायो पर प्रतिवध लगाना आवश्यक है वहाँ तीनो योगो को भी कावू मे रखना जरूरी है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

तुलसी ये तन खेत है, मन वच कर्म किसान।
पुण्य, पाप दो बीज हैं ववे सो लवे सुजान॥

दोहे मे वडी सुन्दर वात वताई गई है कि मनुष्य का शरीर एक खेत के समान है और मन, वचन तथा कर्म ये किसान हैं। ये तीनो किसान खेती करते हैं और फसल पैदा किया करते है। प्रश्न उठता है कि मन, वचन और कर्म-रूपी किसान इस शरीर रूपी क्षेत्र मे वीज किस प्रकार के वोते हैं? उत्तर दोहे मे आगे दिया गया है कि शरीर-रूपी खेत मे वोये जा सकनेवाले बीज दो प्रकार के होते हैं। एक पाप के और दूसरे पुण्य के। तो तीन योग रूपी

किसान अगर पाप के बीज बोते हैं तो उनसे पाप कर्मों का बधन होता है और पुण्य के बीज बोते हैं तो पुण्य कर्मों का। पाप कर्मो का बध होना आत्मा के लिये अशुभ है और पुण्य कर्मों का बधन होना शुभ।

पद्य मे आगे कहा है—'बवे सो लवे सुजान।' जैसा बोयेंगे वैसा ही फल प्राप्त होगा। बाजरा बोने पर गेहू नही मिलेगा और चने बो देने से चावल पैदा नही होगे। गेहूँ पैदा करने के लिये गेहूँ ही बोने पडेंगे और चावल प्राप्त करने के लिये चावलो को बोना पडेगा। बाजरा बोकर गेहूँ पाने की इच्छा रखना और चने बोकर चावल प्राप्त करने की अभिलाषा करना मूर्खता है।

बधुओ! आप सोचेंगे कि हम ऐसे मूर्ख कदापि नही है जो बाजरा बोकर गेहूँ और चने बोकर चावल पाने की आशा रखे। आपका यह विचार गेहूँ और चने की दृष्टि से तो बिलकुल ठीक है और आप बहुत समझदार है यह मैं मानता हूँ। किन्तु मैं यह जरूर कह सकता हूँ कि आप पापो के बीज बोकर पुण्य की फसल प्राप्त करना चाहते हैं और इसमे जरा भी सन्देह नही है।

जरा दृष्टि फैलाकर देखिये कि इस ससार मे मनुष्य करता क्या है और उसका फल क्या चाहता है? आज का मनुष्य बीडी, तम्बाकू, सिगरेट यहा तक कि शराब पी-पीकर भी स्वस्थ रहना चाहता है, बेइमानी, धोखेबाजी और अनीति से अतुल धन कमाकर उसका एक अश-मात्र दान के नाम से निकाल कर महादानी कहलाना चाहता है, अपने हृदय मे क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषायो को ज्यो का त्यो रहने देकर स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा रखता है, ईर्ष्या, द्वेष, मोहादि दुर्गुणो को मन से न निकालकर भी सद्गुणी और सदाचारी कहलाना चाहता है, किताबी शिक्षा हासिल करके अपने कुतर्कों से लोगो को निरुत्तर करके अपने आपको ज्ञानी सिद्ध करना चाहता है। इतना ही नही वह अन्तरग को न छूनेवाली केवल जबान व शरीर से की जाने वाली थोथी भक्ति, पूजा और उपासना से भगवान को भी भुलावा देकर उसे खुश करना चाहता है। तात्पर्य यही है कि वह अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ तो कर्म बधनो को उत्पन्न करने वाली करता है, किन्तु उनके द्वारा आत्मा के कर्ममुक्त हो जाने की आकाक्षा रखता है।

तो बताइये भला, यह सब पापो के बीज बोकर पुण्य-रूपी फसल को काटने की इच्छा रखना नही तो और क्या है? आप सुनार को देंगे तो पीतल और उससे अपेक्षा रखेंगे कि वह सोने के आभूषण आपको बना दे। तो क्या

यह सभव है ? नही, सुनार पीतल लेकर आपको सोने के जेवर नही देगा। इसी प्रकार परमात्मा भी आपकी कपट क्रियाओ के वदले मे आपको सच्चा सुख अथवा मुक्तावस्था कभी भी प्रदान नही करेगा।

नेकनीयती का परिणाम

वम्वई की एक घटना सुनने मे आई थी कि एकवार किसी श्रीमत की जेव से एक पुडका, जिसमे सत्रह हजार रुपयो के नोट थे, कही गिर गया। वम्वई जैसे शहर मे जहाँ पॉकेटमार और गुडे कदम-कदम पर मिलते हैं जो कि क्षण भर मे व्यक्ति को छुरा मारकर पैसा छीन लेते हैं या फिर ऐसी सफाई से जेव काटकर चपत हो जाते है, वहाँ सत्रह हजार रुपयो का पुडा पुन मिल जाना कहाँ सभव है। किन्तु सयोग वश वह पुडा एक निर्धन किन्तु सत्यवादी और ईमानदार व्यक्ति को मिल गया।

सत्रह हजार रुपये लेकर वह व्यक्ति अपने घर आया और अपनी पत्नी से उसने यह वात वताई। हालाकि अगर वे दरिद्र दपति चाहते तो सत्रह हजार रुपया सहज ही अपने पास रखकर जीवन भर के लिये अपनी दरिद्रता दूर कर सकते थे। किन्तु जैसा धर्मपरायण वह व्यक्ति था वैसी ही उसकी पत्नी थी, धर्मपत्नी कहना चाहिये उसे। पति की वात सुनकर वह वोली—

"यह रुपया हमे जिसका है उसे ही लौटा देने का प्रयत्न करना चाहिये। अगर और किसी को यह मिल गया होता तो वह कदापि लौटाने की वात नही सोचता, किन्तु अच्छा ही हुआ जो आपको मिला। हमे तो दूसरे का धन रखना ही नही है। करना भी क्या है ? इन नोटो के विना भी हम भूखे तो रहते नही, ईश्वर पेट भरता ही है। उसकी सृष्टि मे चीटी को कन भर और हाथी को मन भर भी अवश्य मिलता है।"

कवि सुन्दरदास जी ने भी यही कहा है—

काहे को फिरत नर दीन भयो घर-घर,
देखियत तेरो तो आहार इक सेर है।
जाको देह सागर मे सुन्यो शत योजन को,
ताहू कु तो देत प्रभु या मे नहीं फेर है।
भूखे कोऊ रहत न, जानिये जगत माहि,
कीरी अरु कुजर सवन ही को देत है।
सुन्दर कहत विश्वास क्यो न राखे शठ,
वेर-वेर समझाय कह्यो केती वेर है॥

इस पद्य मे तृष्णा के मारे हाय-हाय करने वाले पुरुष को सबोधित करके कहा गया है—अरे मूढ ! तू इस प्रकार दीन होकर क्यो घर घर मारा-मारा फिरता है ? देखी हुई बात है कि तेरा पेट तो बहुत भी खाए तो सेर भर आटे मे भर सकता है, पर प्रभु तो समुद्र मे रहनेवाले प्राणी के चार कोस लम्बे शरीर को भी खुराक पहुँचा देते हैं। इसमे तनिक भी सदेह नही है कि ससार मे कोई भी प्राणी भूखा नही रहता। ईश्वर चीटी और हाथी सभी का पेट भरता है। क्या मैंने यह बात तुझे बार-बार नही समझाई है ? फिर क्यो नही इस पर विश्वास करके रात-दिन हाय-हाय करता है।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि सत्रह हजार रुपये प्राप्त करने वाले निर्धन व्यक्ति की पत्नी ने अपने पति से कहा कि हमे यह रुपया पराया धन मानकर अपने पास नही रखना है और आप कोशिश करो कि जिसका यह रुपया है, उसे ही मिल जाय।

'नेकी और बूझ बूझ।' पति तो यह चाहता ही था। अत वह सीधा थाने मे पहुँचा और थानेदार के समक्ष रुपयो का पुडा रखते हुए उन्हे सारी बात बताई। थानेदार उस निर्लोभी व्यक्ति की सचाई से अत्यन्त प्रभावित हुआ और मन ही मन उसके समक्ष श्रद्धा से मस्तक झुकाते हुए उसने नोटो को वहाँ जमा किया।

ठीक उसी समय वह श्रीमत भी, जिसके नोट गुम गए थे, वहाँ आया और उसने अपने रुपये गुम हो जाने की रिपोर्ट लिखानी चाही। उसी समय उसकी दृष्टि थानेदार के समक्ष मेज पर पडे हुए रुपयो के पुडे पर पडी और उसने कहा—"थानेदार साहब ! यही मेरा नोटो का पुडका है। मैं ही इसका मालिक हूँ।"

थानेदार बोला—"आपके कितने रुपये पुडे मे थे ?"

उत्तर देने के लिये सेठ ने मुँह खोला ही था कि उसके मन मे विचार आया—'अगर मे सत्रह हजार रुपयो के लिये ही कहता हूँ तो अभी इसमे से इसे पाने वाले व्यक्ति को इनाम देना पडेगा। अत एक हजार अधिक बता दूँ तो यह साबित हो जाएगा कि एक हजार रुपया इसे यहाँ लाने वाले ने रख लिया है तो फिर उसे कुछ देना नही पडेगा।'

यह विचार कर उस वदनीयतवाले श्रेष्ठि ने उत्तर दिया—"थानेदार साहब ! इस पुडके मे मेरा अठारह हजार रुपया था।"

थानेदार चकराया, पर उसने पुडा लाने वाले व्यक्ति मे जो वि तव

तक वही था इस विपय मे पूछा । व्यक्ति निर्धन अवश्य था किन्तु नीयत का साफ था । उसने पहले भी कहा था और पुन थानेदार के पूछने पर भी कह दिया—"साहव, मैंने एक पाई भी इसमे से नही रखी है जैसे का तैमाही आपके पास लेकर आया हूँ ।"

सत्य वोलने वाले का चेहरा छिपता नही, थानेदार को पहले ही उसका विश्वास था पर नोटों के मालिक के कहने पर पुन उसे पूछना पडा और उसके उत्तर से उनका विश्वास पक्का हो गया कि इस व्यक्ति ने सचमुच ही एक पैसा भी इसमे से नही रखा है । इसके अलावा धन के मालिक का चेहरा स्वय ही चुगली खा रहा था कि यह झूठ कह रहा है ।

थानेदार को मन ही मन उस पर वडा क्रोध आया पर अपने काम करने के तरीके को ध्यान मे रखते हुए उसने शाति से सेठ को सवोधित करते हुए कहा "सेठ जी ! अगर आपके पुडे मे अठारह हजार रुपये थे तो निश्चय ही आपका रुपयो का पुडका दूसरा होगा । अत आप इस समय तशरीफ ले जाइये और अगर आपके रुपयो के पुडे का हमे पता चलेगा तो हम आपको वुलवा भेजेंगे, अपना पता दे जाइये ।"

साथ ही उस निर्धन व्यक्ति से कहा —"भाई ! यह रुपया तुम्हे मिला है अत अभी तुम इसे ले जाओ । अगर इसका मालिक हमे मिलेगा तो हम तुमसे यह रुपया मगवाकर उसे सोप देंगे, अन्यथा तुम्हे मिला हुआ रुपया तुम्हारा है । तुमने चोरी तो की नही है जो किसी प्रकार का भय हो ।"

तो वधुओ, फिर उस पुडे का मालिक कहाँ मिलता ? अत रुपया निर्धन व्यक्ति को मिल गया और असली मालिक अपनी कपट नीति पर सिर पीटता हुआ वहाँ से चल दिया । क्योकि उसके एक कथन के वाद दूसरी प्रकार की वात कहने पर कैसे विश्वास किया जाता ?

इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि रुपयो का मालिक सेठ झूठ वोलकर अपना पैसा तो लेना चाहता ही था साथ ही विना दिये भी एक हजार रुपये का इनाम देने की उदारता को अपने नाम के साथ जोडना चाहता था । यही आज के मानव की करतूत है । क्या वह झूठ वोलकर पाप का वीज नही वो रहा था ? और उसका परिणाम दान या उदारता के पुण्य-फल के रूप मे नही चाह रहा था ? निश्चय ही वह ऐसा चाहता था और इसीलिये मैं कहता हूँ कि आज व्यक्ति भले ही वाजरा वोकर गेहूँ और चना वोकर चावल न चाहे पर पाप का वीज वोकर पुण्य की फसल तो प्राप्त करना चाहता ही है जवकि पुण्य की फसल पुण्य का वीज वोकर ही प्राप्त की जा सकती है । जिस प्रकार उस निर्धन व्यक्ति ने अपनी नेकनीयती से प्राप्त की ।

मन महाराज

अब हमे यह देखना है कि पाप का बीज किसकी सहायता से बोया जाता है ? यद्यपि मैंने अभी आपको बताया था कि कषाय जब मन, वचन और काय इन तीनो योगो से मिलते है तब पापो का जन्म होता है। पर मुझे अपनी इस बात मे थोडा सा सशोधन करना है। वह यही कि कषाय के साथ तीनो योगो के मिलने से पाप का बीज बोया अवश्य जाता है किन्तु इन तीनो योगो का मुखिया मन है और इसीलिये वचन और काया की अपेक्षा कषायो के साथ मन का सहयोग अधिक होता है पापो के जन्म लेने मे ।

इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि पापो का मुख्य कारण मन है। वचन और शरीर तो केवल इसके आदेशानुसार चलते हैं। जब तक मन नही जीता जाता, कषाय शात नही होते और मनुष्य इन्द्रियो का गुलाम बना रहता है। लोकभाषा मे कहा जाता है -

'जिसने मन पर ताबा मिलाया, उसने सब मिला लिया।
जिसने मन पर काबू नहीं पाया उसने सब गमा दिया।

पु डरीक राजा ने अपनी हजारो वर्षों की तपस्या को मन पर अकुश न रख पाने के कारण तीन दिन मे ही खो दिया। तात्पर्य यही है कि मन की शक्ति बडी जबर्दस्त है। अगर यह ससार की तरफ आकृष्ट हो जाता है तो आत्मा को अधोगति दिलाता है और अगर ससार से विमुख हो जाता है तो इससे मुक्ति दिलाकर छोडता है।

एक सस्कृत श्लोक मे भी यही बात बताई गई है.—

मन एव मनुष्याणा, कारण बन्धमोक्षयो ।
बन्धाय विषयासक्त मुक्त निर्विषय स्मृतम् ॥

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयासक्त मन बन्धन के लिये है और निर्विकार यानी विषय रहित मन मुक्त माना जाता है।

इस प्रकार हमने यह जान लिया कि पापो का असली जनक मन है, पर अब यह ही जानना चाहिये कि मन किस मुख्य भावना के वशीभूत होकर पापो का उपार्जन करता है ? इस विषय मे महापुरुष कहते है कि मन जितने भी पापो मे हाथ बटाता है उसका मुख्य कारण मोह है। सासारिक ऐश्वर्य एव सुख सुविधा के पदार्थों के प्रति आसक्ति या मोह ही मन को कुकर्मो के लिये प्रेरित करता है। धन दौलत या स्वजन-परिजनो के प्रति जब तक मनुष्य

का मोह रहता है तब तक वह अंधे के समान करणीय-अकरणीय का विचार किये बिना वचन तथा शरीर को साथ लेकर पापों का बीज बोता रहता है।

इसीलिये भक्त तुलसीदास जी ने परेशान होकर भगवान से कहा है—

माधव, मोह पाश किम छूटे ?
बाहर कोटि उपाय करिये, अभ्यतर ग्रन्थि न छूटे।
माधव ॥

अपने अन्तर्द्वन्द्व मे घबराकर कवि कह रह रहे है—हे कृष्ण ! इस मोह रूपी जबर्दस्त पाश से मैं किस प्रकार छूट सकूँगा ? बाहर से करोडो उपाय करता हू। पूजा, भक्ति जप-तप आदि मे मन को लगाए रखने का तथा कर्मों से मुक्त होने का नाना विध प्रयत्न करता हूँ किन्तु यह मोह रूपी आतरिक ग्रथि तो खुल ही नही पा रही है। और ऐसी अवस्था मे मेरा किस प्रकार कल्याण हो सकेगा ?

वास्तव मे ही मोह के द्वारा मनुष्य बिना बाँधे हुए भी बडी कडाई से बधा रहता है। पशुओ को खूटे से बाँधा जाता है पर कभी वह जोर लगाकर रस्सी तोड देता है और कभी खूटा ही उखाड डालता है किन्तु मोह के इस आभ्यतर और जबर्दस्त पाश को तोडना बडा ही कठिन होता है।

मोह मे बधे रहने के कारण मनुष्य को कही भी चैन नही पडती। दो दिन सतो के यहाँ ठहर गए तो तीसरे दिन ही भागने के लिये उतावले हो उठते है कि घर पर बाल-बच्चे परेशान हो रहे होगे या कि दुकान और फैक्टरी का नुकसान होगा। मोह के विषय मे कहाँ तक कहा जाय ? व्यक्ति घरबार छोड देता है, राज्य-पाट त्याग देता है, क्रोध, मान और माया को भी घटा कर ग्यारहवें गुण स्थान तक पहुँच जाता है, किंतु मोह का एक झोका आते ही वह पुन फिसलकर नीचे आ गिरता है। बडे-बडे साधक, महात्मा और सयमी पुरुष भी, मोह के वशीभूत होकर अपनी साधना को मिट्टी मे मिला लेते है। मोह के नष्ट हुए बिना अन्य समस्त बाह्यक्रियाएँ किस प्रकार व्यर्थ चली जाती हैं, इस बात को कवि ने उदाहरण देते हुए इस प्रकार समझाया है—

घृत पूरण कड़ाह अन्तर्गत, शशि प्रतिबिंब दिखावे।
ईंधन अग्नि लागत कल्पशत, औटत नाशन पावे ॥
माधव ।

घी से पूर्णतया भरी हुई एक कडाही है और उसमे चन्द्रमा का प्रतिबिंब पड रहा है। पर सैकडो कल्पो तक इधन जलाकर ओटाते रहने पर भी चन्द्रमा को नष्ट नही किया जा सकता, इसी प्रकार वर्षो तक जप-तप-पूजा उपासना आदि बाह्यक्रियाएँ करते रहने पर भी अगर वे अन्तर्मन को नही छूती तो कर्मो का नाश नही हो सकता तथा आत्मा ससार मुक्त नही हो सकती। भले ही कोई द्रव्यलिंगी मुनि ही क्यो न हो और वे पाँच समिति और तीन गुप्तियो का पूर्णतया खयाल रखते हुए अपने आचार का भली-भाति पालन करते हो। किन्तु उनकी समस्त क्रियाएँ भी अगर मन पर पूर्ण सयम रखते हुए न की जाँय तो उनसे जैसा लाभ होना चाहिये, नही हो पाता। दूसरे शब्दो मे मुनि भले हो व्यवहार चारित्र का पूर्णतया पालन करते हो पर अगर वे निश्चय चारित्र नहीं अपनाते तो आत्मा को जन्म-मरण से मुक्त नही कर पाते।

अभिप्राय यही है कि अन्तरग को जोडे विना, अर्थात् मन पर सयम रखे विना बाह्य क्रियाएँ चाहे जितनी और चाहे जितने वर्षो तक की जाय वे पापो को नष्ट नही कर सकती जिस प्रकार चन्द्रमा के प्रतिबिंब को वर्षो कडाही मे औटाने पर भी चन्द्रमा नष्ट नही किया जा सकता।

लोक व्यवहार मे ही आप देखते हैं कि अगर किसी पेढी का मालिक अल्पवयस्क है, किन्तु उसका मुनीम ईमानदार और नमक-हलाल है तो वह पेढी को सम्हाल लेगा और अपने मालिक के प्रति वफादार होने के कारण पेढी को धक्का नही लगने देगा। अपना आत्मा भी जीवन रूपी पेढी का मालिक है और मन उसका मुनीम। अगर यह मन रूपी मुनीम जीवन-रूपी पेढी के मालिक आत्मा का वफादार और हितचिन्तक है तो वह वचन एव शरीर रूपी अन्य समस्त कर्मचारियो को अपने अनुशासन मे सही मार्ग पर चलाता हुआ इस दुर्लभ जीवन-रूपी पेढी को कदापि धक्का नही लगने देगा यानी इसे निरर्थक नही जाने देगा। और इसका पूर्णतया सदुपयोग करके शुभ कर्म रूपी नफा आत्मा को सोप देगा। पर अगर यह अपने ही स्वार्थ यानी इन्द्रियो के विषयो के प्रति मोह मे पड गया तो आत्मा को अपनी जीवन-पेढी से कोई लाभ नही होगा और यह मन-मुनीम उसे जबर्दस्त घाटा दिला-कर पुन भव-सागर मे गोते लगाने के लिये बाध्य कर देगा।

भजन मे आगे कहा गया है —

तरु कोटर मँह बसे विहगम, तरु काटे न मरे जैसे,
साधन काय विचार हीन मन, सिद्ध होय न तैसे।

का मोह रहता है तब तक वह अंधे के समान करणीय-अकरणीय का विचार किये बिना वचन तथा शरीर को साथ लेकर पापो का बीज बोता रहता है।

इसीलिये भक्त तुलसीदास जी ने परेशान होकर भगवान से कहा है—

माधव, मोह पाश किम छूटे ?
बाहर कोटि उपाय करिये, अभ्यतर ग्रन्थि न छूटे।
माधव ॥

अपने अन्तर्द्वन्द्व मे घबराकर कवि कह रह रहे है—हे कृष्ण ! इस मोह रूपी जबर्दस्त पाश से मैं किस प्रकार छूट सकूँगा ? बाहर से करोडो उपाय करता हू। पूजा, भक्ति जप-तप आदि मे मन को लगाए रखने का तथा कर्मों से मुक्त होने का नाना विध प्रयत्न करता हूँ किन्तु यह मोह रूपी आतरिक ग्रथि तो खुल ही नही पा रही है। और ऐसी अवस्था मे मेरा किस प्रकार कल्याण हो सकेगा ?

वास्तव मे ही मोह के द्वारा मनुष्य बिना बाँधे हुए भी बडी कडाई से बधा रहता है। पशुओ को खूटे से बांधा जाता है पर कभी वह जोर लगाकर रस्सी तोड देता है और कभी खूटा ही उखाड डालता है किन्तु मोह के इस आभ्यतर और जबर्दस्त पाश को तोडना बडा ही कठिन होता है।

मोह मे बधे रहने के कारण मनुष्य को कही भी चैन नही पडती। दो दिन सतो के यहाँ ठहर गए तो तीसरे दिन ही भागने के लिये उतावले हो उठते हैं कि घर पर बाल-बच्चे परेशान हो रहे होगे या कि दुकान और फैक्टरी का नुकसान होगा। मोह के विषय मे कहाँ तक कहा जाय ? व्यक्ति घरबार छोड देता है, राज्य-पाट त्याग देता है, क्रोध, मान और माया को भी घटा कर ग्यारहवें गुण स्थान तक पहुँच जाता है, किंतु मोह का एक झोका आते ही वह पुन फिसलकर नीचे आ गिरता है। बडे-बडे साधक, महात्मा और सयमी पुरुष भी, मोह के वशीभूत होकर अपनी साधना को मिट्टी मे मिला लेते है। मोह के नष्ट हुए बिना अन्य समस्त बाह्यक्रियाएँ किस प्रकार व्यर्थ चली जाती हैं, इस बात को कवि ने उदाहरण देते हुए इस प्रकार समझाया है—

घृत पूरण कड़ाह अन्तर्गत, शशि प्रतिबिंब दिखावे।
इंधन अग्नि लागत कल्पशत, औटत नाशन पावे ॥
माधव ।

घी से पूर्णतया भरी हुई एक कडाही है और उसमे चन्द्रमा का प्रतिबिंब पड रहा है। पर सैकडो कल्पो तक ईंधन जलाकर ओटाते रहने पर भी चन्द्रमा को नष्ट नही किया जा सकता, इसी प्रकार वर्षों तक जप-तप-पूजा उपासना आदि बाह्यक्रियाएँ करते रहने पर भी अगर वे अन्तर्मन को नही छूती तो कर्मों का नाश नहीं हो सकता तथा आत्मा ससार मुक्त नही हो सकती। भले ही कोई द्रव्यलिगी मुनि ही क्यो न हो और वे पाँच समिति और तीन गुप्तियो का पूर्णतया खयाल रखते हुए अपने आचार का भली-भाति पालन करते हो। किन्तु उनकी समस्त क्रियाएँ भी अगर मन पर पूर्ण सयम रखते हुए न की जॉय तो उनसे जैसा लाभ होना चाहिये, नही हो पाता। दूसरे शब्दो मे मुनि भले हो व्यवहार चारित्र का पूर्णतया पालन करते हो पर अगर वे निश्चय चारित्र नही अपनाते तो आत्मा को जन्म-मरण से मुक्त नही कर पाते।

अभिप्राय यही है कि अन्तरग को जोडे विना, अर्थात् मन पर सयम रखे विना बाह्य क्रियाएँ चाहे जितनी और चाहे जितने वर्षों तक की जाय वे पापो को नष्ट नही कर सकती जिस प्रकार चन्द्रमा के प्रतिबिंब को वर्षों कडाही मे औटाने पर भी चन्द्रमा नष्ट नहीं किया जा सकता।

लोक व्यवहार मे ही आप देखते हैं कि अगर किसी पेढी का मालिक अल्पवयस्क है, किन्तु उसका मुनीम ईमानदार और नमक-हलाल है तो वह पेढी को सम्हाल लेगा और अपने मालिक के प्रति वफादार होने के कारण पेढी को धक्का नही लगने देगा। अपना आत्मा भी जीवन रूपी पेढी का मालिक है और मन उसका मुनीम। अगर यह मन रूपी मुनीम जीवन-रूपी पेढी के मालिक आत्मा का वफादार और हितचिन्तक है तो वह वचन एव शरीर रूपी अन्य समस्त कर्मचारियो को अपने अनुशासन मे सही मार्ग पर चलाता हुआ इस दुर्लभ जीवन-रूपी पेढी को कदापि धक्का नही लगने देगा यानी इसे निरर्थक नही जाने देगा। और इसका पूर्णतया सदुपयोग करके शुभ कर्म रूपी नफा आत्मा को सोप देगा। पर अगर यह अपने ही स्वार्थ यानी इन्द्रियो के विषयो के प्रति मोह मे पड गया तो आत्मा को अपनी जीवन-पेढी से कोई लाभ नही होगा और यह मन-मुनीम उसे जबर्दस्त घाटा दिलाकर पुन भव-सागर मे गोते लगाने के लिये बाध्य कर देगा।

भजन मे आगे कहा गया है —

तरु कोटर मँह बसे विहगम, तरु काटे न मरे जैसे,
साधन काय विचार हीन मन, सिद्ध होय न तैसे।
माधव ।

यहाँ पुन· एक उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार एक पेड के कोटर मे बैठा हुआ पक्षी उस पेड को काट देने पर भी नही मरता, उसी प्रकार ऊपरी साधना, भक्ति, तपस्या एव अन्य वाहरी क्रियाएँ करने पर भी मन रूपी कोटर मे बैठा हुआ कपाय रूपी पक्षी नही मरता। उसे नष्ट करने के लिये तो सीधे ही मन-कोटर मे प्रवेश करके काम अथवा कपाय रूपी विहगम को पकडना पडेगा।

अर्थ स्पष्ट है कि विवेक रहित साधना करने से या बाह्य साधना के साथ ही मन को न साध पाने से मनुष्य को कभी इच्छित सिद्धि हासिल नही हो सकती।'

अव भजन मे तीसरा उदाहरण दिया गया है—

अन्तर मलीन विषय मन मति, पावन करीये पखारे।
मर हीं न उरग अनेक यतन करी बाल्मीक विविध-विध मारे॥
माधव ॥

कहते हैं—जव तक मन विषय—विकारो की गदगी से मलिन है, तव तक साधना मे शुद्धि कैसे आ सकती है और अशुद्ध साधना से कर्म किस प्रकार कट सकते हैं? व्यक्ति अगर कोई कपडा रगना चाहे तो पहले उसे कपडे को पूर्णतया साफ करना पडेगा और तभी उस पर इच्छित रग चढेगा। इसी प्रकार मन पर भक्ति और विरक्ति का रग चढाने के लिये भी उसे पहले उसी प्रकार शुद्ध और स्वच्छ वनाना पडेगा जिस प्रकार किसान वीज वोने से पहले खेत मे रहे हुए घास-फूस व काँटो को हटाता है। जव तक खेत साफ नही हो जाता तव तक उसमे वीज नही वोये जाते और वोने पर फसल अच्छी प्राप्त नही होती, उसी प्रकार मन के शुद्ध न होने पर उसमे शुद्ध कर्मों के वीज प्रथम तो वोये ही नही जा सकते और अगर वोने का प्रयत्न किया जाय तो वे फसल के रूप मे नही आ सकते। इसलिये सवसे पहले मन को शुभ विचारो से पखार लेना चाहिये तभी हमारा मन-चाहा हो सकता है।

पद्य मे सर्प और वावी का उदाहरण भी दिया गया है कि सर्प अगर वावी मे छिपा वैठा है तो वावी पर चाहे जितने प्रहार किये जाँय वह मर नही सकता इसी प्रकार मन रूपी वावी मे विषय विकार या कषाय का सर्प छिपा वैठा है तो शरीर को तपादि के द्वारा सुखा देने पर भी वह नाश को प्राप्त नही हो सकता। मैंने वचपन मे एक भजन याद किया था—

मन मेला तन का अति उज्ज्वल, वगले जैसा तोल।
घोड़ा काष्ट का होंसन पूरे, वाजे न फूटा ढोल॥

मन दुर्गुणो की मलिनता से भरा हुआ है उसे वगुले के समान ~~गबित चाहिये।

ऐसे शरीर के होने से जीव को कुछ भी लाभ नहीं होता जिस प्रकार काठ का घोडा सवारी का लाभ नही देता और फूटा हुआ ढोल अपनी मधुर ध्वनि से शुभ समारोहो को पूर्ण सफल नही बना सकता।

इसी भजन मे आगे कहा है—

समझ समझ कर बोल अज्ञानी,
समझ-समझ कर बोल।

अज्ञानी मनुष्य को सबोधित करते हुए सीख दी है कि भाई! तू अपनी वुद्धि का प्रयोग करता हुआ वहुत सावधानी से बोल, अन्यथा वह उसी प्रकार व्यर्थ चला जाएगा, जिस प्रकार फूटे हुए ढोल का कर्णकटु शब्द निरर्थक जाता है।

वाणी-वाणी मे अन्तर

एक सेठ जी थे उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया तो उन्होने दूसरा विवाह किया। दूसरी पत्नी निर्धन घर की थी और उसके एक भाई के अलावा कोई भी नहीं था।

जव उनकी पत्नी ने अपनी ससुराल को सम्पन्न देखा तो अपने पति, सेठ जी से वोली—"आपके यहाँ धन की कमी नही हैं और इतने आदमी पल रहे हैं तो मेरे भाई को भी अपनी दुकान मे किसी काम पर लगा लीजिये।"

सेठजी ने उत्तर दिया—"सेठानी! तुम कहो तो हम तुम्हारे भाई को हजार-दो हजार रुपया साल अथवा और भी किसी प्रकार की सहायता करने के लिये तैयार हैं। किन्तु उसमे दुकान पर रहने लायक योग्यता नही है, दुकान का काम तो कोई होशियार व्यक्ति ही कर सकता है।"

इस वात पर सेठानी वहुत नाराज हुई और यह देखकर सेठ जी ने अपने साले को दुकान पर काम करने के लिये रख लिया।

कुछ समय वाद सेठ और सेठानी तीर्थ यात्रा के लिये गये और जव लौट कर आए तो उन्होंने अपने साले को वहाँ के राजा के पास राजदरवार मे भेजा। साथ मे वहुत सी सौगात थी जो कि राजा को भेंट करने के लिये थी। जव राजा ने सुना कि अमुक श्रेष्ठि तीर्थ यात्रा से लौटे हैं तो उन्होंने सहजभाव से पूछ लिया—"कहो भाई! सेठजी हमारे लिये क्या लाए हैं?"

ाले साहब को और किसी चीज का मे याद नही रहा छूटते ही वोल पडे—"सेठ साहब राख' लाये हैं।"

यह सुनते ही राजा को क्रोध आ गया। राजा स ही है क्षणभर मे ही वे रुष्ट हो जाते हैं और क्षणभर मे तु राजा ने सेठजी के साले की यह वात सुनी तो वे नाराज हो गए। साले जी को दरबार से निकलवा दिया। साथ ही कहा—"मुझे क्या या करनी है जो राख लेकर आए हो।"

सेठजी ने जब सारा वृत्तान्त सुना तो वडे चिंतित हुए। राजा से विरोध करके नगर मे रहा भी कैसे जा सकता है? पर उनकी चिंता को उनके मुनीम जी ने मिटाने का वचन दिया और कुछ दिन ठहर कर वे भी एक दिन राजा के दरबार मे सेठजी की ओर से सौगात लेकर पहुचे। राजा ने उनसे भी पूछा—"क्या लाए हैं सेठजी हमारे लिये?"

अनुभवी मुनीम जी ने बडी शाति से लाई हुई सभी चीजें राजा को बताई और उसके पश्चात् कहा—"हुजूर! सेठ साहब एक विशेष चीज और वह भी केवल आपके लिये ही लाए है। यह कहकर उन्होने मखमल मे लपेटी हुई अत्यन्त सुन्दर और छोटी सी डिब्बी निकाली और राजा की ओर वढाते हुए कहा—

"महाराज! इस डिब्बी मे सेठ साहब ऐसी चमत्कारिक भस्म लाए हैं जिसका प्रयोग करने पर कैसी भी भयकर बीमारी क्यो न हो, मिट जाती है। बडी कठिनाई से एक वडे भारी तपस्वी से इसे प्राप्त किया गया है सिर्फ आपके लिये ही।

राजा यह सुनकर वडा प्रसन्न हुआ और बोला—

"ओह! सेठजी कितना ध्यान रखते हैं मेरा? उन्होने वडा अच्छा किया, मेरी तवियत भी ठीक नही रहती है।"

वधुओ! वात एक ही थी। सेठजी के साले भी वही राख लेकर गए थे और मुनीम जी भी उसे ही लेकर गए। किन्तु वोलने के ढग से जमीन आसमान का अन्तर पड गया। विवेक पूर्वक और बुद्धि सहित वोलने से अनर्थ टल जाता है और विना विवेक वोलने से अर्थ का भी अनर्थ हो जाता है। कहा भी है—

बुद्धि थोडी ने बहु भरमे, जिन समझ मोहाना वेण भरडे।
समझणे बिना कहेशे साचू, एक वहुना बिना सगेलू काचू।

जिस व्यक्ति मे बुद्धि कम होती है वह अपने आपको बुद्धिमान सावित करने के लिये अधिक वोलता है तथा अपने से वडो के वचनो की काट करता रहता है। यह विवेक की कमी के लक्षण हैं।

किन्तु इसके विपरीत जो विवेकवान होता है वह वहुत सोच विचारकर थोडा और उपयोगी वोलता है। ठीक एक सुनार के समान जो कि सोने को तोलते समय उसका वजन रत्ती भर भी कम या अधिक नही होने देता। वात ठीक भी है। विना सोचे समझे और विवेक की कसौटी पर कसे विना वोलने का परिणाम अच्छा नही निकलता, जिस प्रकार सेठ के साले की राजा से हुई वात का परिणाम निकला था।

तुलसीदास जी के भजन में भी आगे यही वात वताई जा रही है विवेक के अभाव मे मानव जन्म के उद्देश्य की सिद्धि नही हो सकती। भजन की अन्तिम लाइनें इस प्रकार हैं—

तुलसीदास हरी करुणा बिन, विमल विवेक न होवे।
विन विवेक ससार घोर निधि पार न पाये कोई॥

माघव

कहा है—'हरि की कृपा के विना विवेक विमल नही हो सकता और शुद्ध विवेक के अभाव मे तो यह भयानक भव-सागर पार हो ही कैसे सकता है ?

इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु को चाहिये कि वह सद्गुरु की सगति करे और उनके द्वारा भगवत् वाणी सुनकर उस पर चिन्तन-मनन करते हुए अपनी बुद्धि को निर्मल वनाए और बुद्धि व विवेक की सहायता से अपने चारित्र का सम्यक् रूप से पालन करे। जिस व्यक्ति का विवेक जागृत हो जाता है, वह गुणानुरागी वनता है और बुरी से वुरी वस्तु मे से भी अच्छाई को ढूँढ निकालता है। आचार्य चाणक्य का कथन है—

विवेकिनमनुप्राप्ता, गुणा यान्ति मनोजताम्।
सुतरां रत्नमाभाति, चामीकरनियोजितम्॥

विवेकी मनुष्य को पाकर गुण सुन्दरता को प्राप्त होते हैं, सोने मे जडा हुआ रत्न अत्यन्त सुशोभित होता है।

वस्तुत विवेकशील पुरुष कीचड मे पडे हुए रत्न को भी ग्रहण करते हैं उसे कीचड मे लिप्त होने के कारण अग्राह्य नही करते। विवेक उनमे सत्य, सयम, निर्भयता और पुरुषार्थ को जगाता है। विख्यात दार्शनिक 'शेक्सपियर' ने भी कहा है

"The better hart of valour is discretion"

पराक्रम का प्रमुख अग विवेक है।

कहने का आशय यही है कि विवेक के जाग्रत हो जाने पर पुरुषार्थ भी सही दिशा मे अपना कार्य करता है और उस हालत मे वह अपने साधनामार्ग मे आने वाली किसी भी बाधा से हतोत्साहित नही होता। बल्कि निश्चिन्त होकर अपने मन रूपी मानस मे पुण्य के बीजो का वपन करता है। उसका विवेक मानस-क्षेत्र मे रही हुई विषय-विकारो की मलिनता को हटाकर उसे शुद्ध बना देता है। और उस स्थिति मे ही उसकी भक्ति, उपासना और तप साधना अपना सही प्रभाव डालती है।

विवेकशील व्यक्ति ही अपने मन पर पूर्ण सयम रखता हुआ वचनयोग एव शरीरयोग को सच्चे धर्म के साथ जोड सकता है। पुण्य और पाप की जननी मनुष्य की मनोवृत्ति ही होती है। वह अपने अन्त करण के विचारो से ही देवता और दानव बनता है। अगर उसके मानस मे करुणा, दया, समता, सहानुभूति और सवेदना की लहरें उठती हैं तो वह निस्सदेह देवता है और अगर ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, ममता एव निर्दयता का तूफान बहता है तो उसे दानव के अलावा और क्या कहा जा सकता है?

इसलिये बधुओ, हमे यह अमूल्य मानव-भव पाकर दानव नही बनना है अपितु अपने उत्कृष्ट विचारो के अनुसार उत्कृष्ट आचरण करते हुए देवता ही नही परमात्मा बनने का प्रयत्न करना है।

एक बात और भी मैं अपको यहाँ बताना चाहता हूँ कि यद्यपि पापकर्मों की अपेक्षा पुण्य कर्म अनन्त गुना श्रेष्ठ हैं, किन्तु पुण्य कर्मों का बधन कर लेना ही मनुष्य जीवन के लक्ष्य की सिद्धि हो जाना नही है। क्योकि पुण्यो का सचय करके आप भले ही स्वर्ग मे देवता या इन्द्र भी बन जाएँ पर आखिर तो वहाँ का आयुष्य पूर्ण होते ही आपको पुन जन्म और फिर मरण करना पडेगा। यानी अनन्त पुण्यो का सचय कर लेने पर भी जीव रहेगा तो ससार ही मे। ससार से मुक्त वह नही हो सकता। ससार मुक्त तभी हुआ जा सकता है, जबकि पाप कर्मों के साथ-साथ पुण्य कर्म भी समाप्त हो जाँय।

उदाहरण के लिये हम पापो को लोहे की बेडी और पुण्यो को सोने की बेडियाँ कह सकते हैं। कष्ट कर दोनो हैं। भले ही पापो के कारण जीव को अधिक कष्ट भोगने पडते हैं और पुण्य से कम, पर कष्टो की परम्परा समाप्त नही हो जाती। जीवन मे सुख अवश्य मिल सकते हैं पर जन्म-मरण के दुख कहा जाएँगे? वे तो भोगने ही पडेंगे। इसीलिये हमारे शास्त्र पाप और पुण्य दोनो को बधन मानते हुए कहते हैं—

हेम वा आयस वावि, बधण दुक्खकारणा।
महग्घस्सावि दडस्स, णिवाए दुक्खसपदा॥

अर्थात्—बधन चाहे सोने का हो या लोहे का, बन्धन तो आखिर दु ख-कारक ही है। बहुत मूल्यवान् डडे के प्रहार से भी दर्द तो होता ही है।

अत बधुओ! आपको यह कभी नही भूलना चाहिये कि पापो का बधन करने से तो अनेक गुना अच्छा पुण्य कर्मों का बधन करना है, किन्तु सबसे अच्छा है दोनो का ही बधन न करना। इसलिये हमे यही भावना रखनी चाहिये कि हम दोनो ही प्रकार के बधनो से मुक्त होकर सदा के लिये सच्चे सुख को उपलब्ध कर सके। तभी हमारा मनुष्य जन्म पाना पूर्णतया सार्थक हो सकेगा।



१३ | कहाँ निकल जाऊँ या इलाही !

धर्म प्रेमी बधुओ, माताओ एव वहनो !

आज अपने विचार आपके समक्ष रखने से पहले मैं एक गाथा आपके समक्ष रख रहा हूँ। इस वह प्रकार है—

पुरिसो ! रम पावकम्मुणा, पलियत मणुयाण जीविय ।
सन्ना इह काम मुच्छिया, मोह जति नरा असवुडा ।।

गाथा मे कहा गया है—हे पुरुष ! तुम पाप-कर्मों से विरत हो जाओ। काम-भोगो मे मूर्छित रहने से तथा मोह मे ग्रस्त रहने से तुम्हारा कल्याण नही हो सकेगा। असवृत्त जीवन त्याग कर तुम निरासक्त भाव अपनाओ, क्योकि मनुष्य का जीवन वहुत थोडा होता है।

आज के युग मे हमारे अनेक भाई इस वात पर ध्यान नही देते। वे कहते हैं—स्वर्ग और नरक किसने देखा है ? कही कुछ भी नही है। जो है वह यही जन्म है, खाओ, पीओ मौज करो। उनका कथन है।

लोकायता वदन्त्येव, नास्ति देवो न निवृत्ति ।
धर्माधर्मौ न विद्येते, न फल पुण्य-पापयो ।।
पचभूतात्मक वस्तु, प्रत्यक्षं च प्रमाणकम् ।
नास्तिकाना मते नान्यदात्माऽमुत्र शुभाशुभम् ।।

अर्थात् न तो कोई परमात्मा है न ही मुक्ति, न धर्म है और न अधर्म और न ही पुण्य या पाप का फल ही भोगना पडता है। यह समग्र ससार मात्र पाँच भूतो मे ही समाविष्ट है। यानी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के अलावा अन्य कोई भी वस्तु नही है। हम जो कुछ प्रत्यक्ष मे देखते हैं वस

वही प्रमाण है । अनुमान या आगम कोई विश्वस्त प्रमाण नही है । परलोक मे जाने वाली भी कोई आत्मा नही है ।

ऐसी विचारधारा रखने वाले व्यक्ति सासारिक विषय-भोगो मे ही सुख मानते हैं । तथा उन्हें जीवन में अधिक से अधिक भोग लिया जाय ऐसा प्रयत्न करते हैं । उनका जीवन-सूत्र ही यह होता है—

यावज्जीवेत्सुख जीवेद ऋण कृत्वा घृत पिवेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुत ?

क्या शानदार बात कहते हैं वे ? मनुष्य जब तक जीवित रहे खूब सुखसे रहे तथा पास मे पैसा न हो तो ऋण लेकर घी पिया करे । क्योकि जब यह देह भस्म हो जायेगी तो फिर किस प्रकार सुखो का उपभोग करेंगे ? पुन-पुन जन्म-मरण या परलोक तो कुछ है नही, भस्म होने के बाद पुन आना कैसा ? अत जिस प्रकार बने और जितना भी बने सुख भोगना ही बुद्धिमानी है । तथा इसी में इस शरीर का कल्याण है । उसके अलावा आत्मा और उसका कल्याण क्या ? न तो किसी ने आत्मा को देखा है और न परमात्मा ही दृष्टिगोचर हुआ है । परलोक जाकर भी कभी कोई वापिस नही आया जिसने वहाँ के बारे मे कुछ बताया हो । और इधर ससार तथा सास्सारिक सुख तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं । फिर इन प्राप्त सुखो को छोडकर कल्पित सुखो के लिये प्रयत्न करना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

पर बन्धुओ ! हमे बडी गभीरता और दूरदर्शिता से इस बात पर विचार करना चाहिये । परलोक को देख न पाने मात्र से ही उस पर सन्देह और अविश्वास करना बुद्धिमानी नही है । व्यक्ति अपने पिता, दादा या कभी-कभी परदादा को भी देख लेता है । किन्तु अपनी पाँचवीं, छठी, सातवी और उससे पहले की पीढियों मे हुए पूर्वजों को तो कभी नही देख पाता, पर वह उनके होने से इन्कार नही कर सकता है । क्या वह यह कह सकता है कि मैंने उन्हें देखा नही । नही, ऐसा वह नही कह सकता क्योकि अगर वे नही हुए होते तो वह स्वय कैसे जन्म लेता ?

इससे स्पष्ट हो जाता है कि न देख सकने मात्र से ही किसी वस्तु के अस्तित्व को मिटाया नही जा सकता । भविष्य के सहारे तो इस ससार मे सभी व्यापार होते ही हैं । किसान भविष्य मे फसल प्राप्त करने की आशा से खेतो मे बीज बोता है, व्यापारी भविष्य मे अर्थ लाभ की आशा से व्यापार मे पूँजी लगाता है और मानव वृद्धावस्था मे सुख पाने की आशा से पुत्र का लालन-पालन करता है । अगर ये सब भविष्य की आशा न रखकर अपने कार्य छोड दें तो फिर ससार की स्थिति क्या हो जायेगी ?

हमे ऐसी भूल नही करनी है तथा सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी प्रभु की वाणी पर विश्वास करते हुए आत्मा, परमात्मा तथा जीव और जगत के रहस्य को समझ कर वही करना है जिससे आत्मा का कल्याण हो सके। हमे जीवन की नश्वरता तथा अल्पकालीनता को भी भली-भाँति जान लेना है।

मनुष्य का जीवन अधिक से अधिक कितना है? तीन पल्योपम का। यह परिमाण अकर्मभूमि के जीवो के जीवन का है। आप सभवत पल्योपम का अर्थ नही समझ पाये होगे अतः सक्षिप्त मे आपको बताता हू।

कल्पना कीजिये कि एक चार कोस लम्बा, चार कोस चौडा और चार कोस ही गहरा कोई कुआ है। उसमे बारीक बाल इस प्रकार ठसाठस भरे हुए हैं कि उन पर से चक्रवर्ती की सेना भी अगर गुजर जाय तो वे दब न सकें। तो बालो से ठसाठस भरे हुए कुए मे से एक-एक बाल बाहर निकाला जाय और उन सबको निकालने मे जितना समय लगे उसे एक पल्योपम कहते हैं। ऐसे तीन पल्योपमो का आयुष्य जैसा कि मैंने अभी बताया अकर्म भूमि के जीवो के अनुसार होता है।

आप सोचेंगे कि ऐसी अजीब उपमा क्यो दी गई है? इसका उत्तर यही है कि भगवान् ने जहाँ तक हो सका गिनती बता दी और जब गिनती होना असभव हो गया तो उपमा के द्वारा समझाया। यह बात सही है कि ऐसा कुआ किसीने भरा नही और भरना सभव ही नही है किन्तु समय की अधिकता को समझाने के लिये ऐसी उपमा दी गई है।

आप स्वय भी समझ सकते हैं कि एक बोरी मे नारियल भरे हैं, उन्हें गिना जा सकता है। दूसरी बोरी मे अखरोट भरे हैं उन्हें भी गिन लिया जा सकता है। तीसरी बोरी मे सुपारियाँ हैं, किसी तरह वे भी गिनती मे आ सकती हैं किन्तु चौथी बोरी में खसखस के दाने भरे हैं तो बताइये आप उन्हे गिन सकते हैं क्या? नही, उन्हें गिनना सभव नही है अत उनके लिये केवल तौल या माप ही काम आता है। इसी प्रकार आयुष्य के वर्षों की गिनती हो सकनी जब सभव नही रही तो भगवान् ने पल्योपम के रूप मे समय का अन्दाज करने के लिये माप बता दिया। इस प्रकार हम जान सकते हैं कि माप का काम माप से वजन का तौल से, और गिनती का गिनती से करना चाहिये।

पल्योपम के आधार पर समय का अदाजा लगाना अविश्वासनीय नही है। भगवद् गीता मे भी एक श्लोक के द्वारा समय के माप को दूसरे तरीके से बताया है। श्लोक की एक लाइन है —

"चतुर्विद सहस्राश ब्रह्मणो एक विदं।"

अर्थात्—चार युग निकल जाने पर ब्रह्मा जी का चार प्रहर का एक दिन होता है ।

चार युगो मे सबसे छोटा कलियुग है । पचाग मे वताया गया है कि कलियुग चार लाख वत्तीस हजार वर्षों का है । द्वापर युग इससे दुगने समय का, यानी आठ लाख चौसठ हजार वर्षों का । द्वापर से दुगने युग का त्रेता युग था और त्रेता युग से दुगने का सतयुग । इस प्रकार चार युगो के वीत जाने पर चार पहर ब्रह्माजी की रात्रि होती है । ऐसे तीन दिनो का महीना, वारह महिनो का वर्ष और सौ वर्ष की ब्रह्माजी की आयु वतायी गई है ।

तो ब्रह्माजी की आयु की भाति अकर्मभूमि के मनुष्यो की आयु इसीप्रकार अधिक से अधिक तीन पल्योपम की हमारे शास्त्र वताते हैं । किन्तु इस कलियुग के अथवा आज के मनुष्यो की आयु देखते ही हैं कि अधिक से अधिक सौ वर्ष कुछ ही ऊपर, सौ या इससे भी वहुत कम होती है । सौ वर्ष भी मनुष्य जीवित नही रह पाते, उससे वहुत पहले ही उनकी आयु समाप्त हो जाती है ।

इसलिये प्रारम्भ मे वोले गए श्लोक मे भगवान् महावीर का उपदेश वताया गया है कि—"हे पुरुष ! मनुष्य जीवन वहुत थोडा है और इतने अल्प समय मे ही तुम्हे आत्म-कल्याण का प्रयत्न करना है अत पापो से विरक्त हो जाओ ।"

क्रोध, मान, माया, मत्सर, मोह तथा ईर्ष्या-द्वेप आदि पापो के जनक हैं । इनके कारण ही जीव कर्म-वधनो मे जकडता जाता है और जन्म-जन्मान्तर तक भी उनसे छुटकारा नही पाता । अतः इनसे विरक्त होना मानव के लिये आवश्यक है और वही धर्म है । सस्कृत का एक श्लोक देखिये—

यस्य न राग द्वेषौ, नापि स्वार्थो ममत्वलेशो वा ।
तेनोक्तो यो धर्म, सत्य पथ्य हितम् मन्ये ॥

जिनके न राग है, न द्वेप है, न स्वार्थ है और न ही लेश मात्र भी ममत्व है । ऐसे वीतराग के वताये हुए धर्म को मैं सत्य, उपयुक्त और हितकर मानता हूँ ।

वीतराग का अगर कोई आदर सम्मान करे और उनकी पूजा उपासना करे तो वे प्रसन्न नही होते और कोई उनका अपमान करे या डडो से पीटे तव भी वे नाराज नहीं होते । भगवान् महावीर के एक पैर का अगूठा चडकोशिक सर्प के मुँह में था और दूसरे पैर पर इन्द्र का मस्तक । फिर भी दोनो के लिये भगवान् के नेत्रो से समान स्नेह-सुधा प्रवाहित होती रही थी ।

गौतम स्वामी भगवान् महावीर के सवसे वडे शिष्य थे लेकिन उनके लिए भी भगवान् के हृदय मे कही पक्षपात नहीं था ।

आनद श्रावक को अवधिज्ञान हुआ था किन्तु जब गौतम स्वामी उनके यहाँ गए और उन्हें आनन्द जी ने यह बात बताई तो गौतम स्वामी ने विश्वास नही किया और कहा—"श्रावक जी ! गृहस्थ को इतना बडा अवधिज्ञान नहीं हो सकता, अत अपनी इस गलत बात के लिये आपको प्रायश्चित्त करना चाहिये। आनद श्रावक जी ने गौतम स्वामी की बात को बुरा नही माना केवल विनम्रता से पूछा—"भगवन् ! प्रायश्चित दोषी को आता है या निर्दोषी को ?"

गौतम स्वामी कुछ उत्तर नही दे पाये और सीधे भगवान् के समक्ष आ उपस्थित हुए तथा अपनी शका बताए हुए आनन्द श्रावक के विषय मे पूछा—"भगवन् ! आनन्द जी कहते हैं कि उन्हे अवधिज्ञान हो गया है तो क्या यह यथार्थ है ? गृहस्थ को अवधिज्ञान होना सभव है क्या ?

भगवान् ने उत्तर दिया - "आनन्द श्रावक को अवधि ज्ञान हुआ है यह सत्य है। और गृहस्थ को केवल ज्ञान भी हो सकता है।"

अब समस्या सामने आई कि गौतम स्वामी के आनन्द श्रावक जी को जो गलत साबित किया था उस भूल का सुधार कैसे हो ? आनन्द श्रावक जी गृहस्थ थे और गौतमस्वामी भगवान् के पट्टधर शिष्य।

बधुओ ! आज हमारे जैसा कोई सत होता तो यही कह देता—"कोई बात नही है, मैं श्रावक जी को बुलाकर समझा दूँगा।"

किन्तु भगवान् ने अपने प्रिय शिष्य का भी मुलाहिजा नही रखा। स्पष्ट कह दिया—"गौतम ! आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान हुआ है यह तो सत्य है। और उसने तुम्हारे समक्ष जो बात प्रकट की यह भी ठीक ही है। उसकी कही भूल नही हुई। पर तुमने उसे झूठा साबित किया अत गलती तुम्हारी है। तुम्हारे शब्दो की प्रतिष्ठा भी गृहस्थ के शब्दो से अधिक है, अत तुम स्वय जाकर आनन्द के समक्ष अपनी भूल स्वीकार करो। और खमतखामना करो।"

कितनी उदारता और न्याय प्रियता थी भगवान् के हृदय मे ? अहं का लेश भी उनमे नही था।

आज तो थोडा सा धन भी किसी के पास अधिक हो जाता है तो वह सीधे मुँह किसी से बात नही करता। अपने गुरु के पास भी स्वय न जाकर उन्हें अपने वहाँ बुलवाता है, और तो और, घर मे साधु-साध्वी आहार-पानी के लिए आ जायँ तो उन्हें अपने हाथ से आहार देने मे भी लज्जा का अनुभव करता है तथा यह कार्य रसोईदार के जिम्मे छोड दिया जाता है। धन के नशे मे चूर होने के कारण अपने से तिगुनी उम्र वाले अपने मुनीम-गुमाश्तो को भी

अपमानित और तिरस्कृत करने मे नही चूकता । बुजुर्गों की कोई कद्र उसके हृदय मे नही रह जाती ।

किन्तु इसका परिणाम आखिर क्या होता है ? यह जीवन तो थोडे समय मे समाप्त हो जाता है पर अह के कारण जो क्रोध और कपाय की भावनाएँ उसकी आत्मा पर कर्मों की तहें चढा देती हैं वे उसके साथ ही चलती हैं । कैसी अजीव वात है कि जिस धन के लिए वह जिदगी भर खटता रहता है और उसके नशे मे चूर होकर अन्याय, अनीति, वेईमानी, धोखा सभी कुछ करता है, वह तो यही रह जाता है और जिनकी वह चाह भी नही करता तथा जिन्हें पाने का प्रयत्न नही करता वे कम स्वय ही उससे जुडकर उसके साथ जाते हैं । यह सब राग, द्वेष और अहकार के कारण ही होता है ।

किंतु वीतराग मे इनका लेश भी नही होता । भगवान् महावीर के दर्शन करने एक वार महाराज श्रेणिक अपनी सेना और लाव-लश्कर के साथ आया था । साथ ही एक ओर से एक मेढक भी दर्शन करने के लिये आया । पर भगवान् की प्रेम भावना श्रेणिक राजा और उस लघु शरीरधारी मेढक पर समान रही । जवकि एक मनुग्य था और एक छोटा-सा जानवर ।

आज तो व्यक्ति मानव-मानव मे ही जमीन आसमान का अन्तर कर देता है । आपके यहाँ अगर कोई रईस या ओहदेधारी स्थानक मे प्रवचन सुनने आता है तो आप उसे मवसे आगे लाकर वैठाते हैं, किन्तु कोई गरीव आए तो ? उसकी ओर दृष्टि भी डालने की इच्छा नही करते जवकि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी वीतराग के मुकावले मे हमारे पास है ही क्या ? उनके ज्ञान के समक्ष हमारा ज्ञान क्या है, सागर के जल मे एक वूद के जितना भी नही । जिन चक्रवर्तियो ने अपनी अथाह दौलत छोडकर अपने आपको सयम मार्ग पर डाल लिया था, उन सगर चक्रवर्ती भरत चक्रवर्ती आदि की दौलत के मुकावले मे आपकी दौलत भी कितनी है ? कुछ भी नही, इसी प्रकार शारीरिक वल और मौन्दर्य की भी वात है । कुछ ममय पहले ही मैंने वताया था कि चक्रवर्ती की जूठन अर्थात् खारचन-खुरचन खाने वाली दासी भी अपनी चुटकी मे मसल कर वज्र-हीरे का चूरा कर देती थी ।

कहने का अभिप्राय यही है कि उन महामानवो का मुकावला हम किसी दृष्टि से रच-मात्र भी नही कर सकते फिर अह किस वात का ? हम किस वात का गर्व करते हुए राग-द्वेष और मोह के वशीभूत होकर अपने छोटे से जीवन को वर्वाद करते हैं ?

गुजराती भाषा के एक कवि ने अपने भजन मे भी कहा है—

आवो रे रूडो, मनुष्य जन्म शीद खुवे ।
ससारी जन कहे अमे छीए सुखिया,
धन पुत्र ने जुवे । आवो रे
हैते हलावे ने प्रीते परणावे,
मूआ पच्छी घसकी । आवो रे
मूलचन्द कहे भोली दुनिया,
देखी परखी ने पडे कूवे । आवो रे

क्या कहा गया है ? यही कि ऐसा उच्च मनुष्य-जन्म पाकर उसे तू कहाँ खोये दे रहा है ? जप, तप भक्ति, साधना कुछ भी तो नही करता । क्या इन सवके न करने पर तू भविष्य मे सुखी हो सकेगा ?

पर ससारी पुरुष अपने आपको तो धोखा देते ही हैं, सन्त महापुरुपो को भी धोखा देने का प्रयत्न करते हुए कहते हैं—"हम कहाँ अपने जीवन को व्यर्थ गँवा रहे हैं ? वहुत सुख और आराम से रहते हैं । घर मे वहुत धन है, परिवार है, पुत्र है और चाहिए भी क्या ?

अरे भाई ! मैं मानता हूँ कि आपके यहाँ सात पीढियो तक चल सकने वाली दौलत है, स्वजन परिजन पुत्र-पुत्रियाँ मभी हैं । और तुम इन सवको लेकर जिसे सुख मानते हो वह तुम्हे मिला हुआ है । किन्तु यह सव कितने दिन का है ? जीवन के पचास-साठ या सत्तर साल ही तो तुम इनसे सुख का अनुभव कर सकते हो । पर उसके वाद ? फिर भी तो तुम्हारी आत्मा विद्यमान रहेगी और कहाँ वह रहेगी । क्या तुम इन सव सुखके साधनो को अपने साथ रख सकोगे ? कही नरक, निगोद और तिर्यंच योनि मे पहुँच गए तो फिर क्या होगा ? इस सम्पत्ति और परिवार का सुख कैसे भोगोगे ?

स्पष्ट है कि तव तुम्हारे साथ यह कुछ नही रहेगा केवल रहेगे कर्म, जैसे भी तुम यहाँ उपार्जन कर लोगे । पर ऐश्वर्य के मद मे भूखे रहकर तुम शुभ कर्मों का उपार्जन भी तो नही करते हो, फिर स्वयं ही सोच लो कि कैसे कर्मों को साथ लेकर यहाँ से जाओगे ।

अभी तो तुम पुत्र-जन्म की खुशी से पागल हो जाते हो । वडे लाड-प्यार से उसका पालन-पोपण करते हो और फिर उसका विवाह करके समझते हो कि हमे सुख की चरम सीमा प्राप्त हो गई है । किन्तु कुछ वर्ष वाद ही जब तुम्हारी आयु पूरी हो जाएगी, तुम्हारे ये पुत्र ही एक पल भी तुम्हे अपने घर मे न रखकर निकाल वाहर करेंगे । और तुम्हारे सारे सुख आँखें वन्द करते ही तुम्हारे लिये विलीन हो जायेंगे ।

इसीलिये कवि कहता है—"बडे दुख की बात है कि इस दुनिया के भोले प्राणी देख-परख कर भी कुए मे जा गिरते हैं। यह नही सोचते कि वैसे भी हमे जीवन मे जो क्षणभगुर सुख प्राप्त हुए हैं, पिछले जन्मो मे सचित किये पुण्य कर्मों के बल पर मिल सके हैं। पर अगर इस जीवन मे कुछ नही किया तो आगे फिर क्या होगा ? पिछला कमाया हुआ तो समझो कि इस जीवन मे भोग ही लिया है पर अब कमाई नही की तो अगले जन्म मे क्या पाओगे ?

श्री भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक मे कहा है —

यावत्स्वस्थमिद कलेवरगृह, यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुष ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्य प्रयत्नो महान्,
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखनन प्रत्युद्यम कीदृश ॥

श्लोक मे मानव को यही प्रेरणा दी है कि—जब तक तुम्हारा शरीर निरोग और तन्दुरुस्त है, बुढापा दूर है तथा इन्द्रियो की शक्ति बनी हुई है तब तक आत्मा की भलाई के लिये प्रयत्न कर लो ! अन्यथा जब तुम्हारे इस सुन्दर और सशक्त सरीर को रोग जर्जर और कुरूप बना देंगे, इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी और वृद्धावस्था तुम्हे अपग बना देगी तब फिर क्या कर सकोगे ? कुछ भी नही, और कुछ करने का प्रयत्न करोगे भी तो क्या तुम्हारी दशा उस अज्ञानी व्यक्ति के समान नहीं होगी जो घर मे आग लग जाने के पश्चात कुआ खोदना प्रारम्भ करता है ?

इसलिये भाई ! जो बीत गई सो तो बीत ही गई, पर जितनी बाकी है उसको ही सार्थक करने के लिये आज ही, बल्कि अभी ही से प्रयत्न चालू कर दो। आज का काम कल पर मत डालो। क्योकि मृत्यु तो हर समय घात लगाये ही रहती है। कहते भी हैं—

मौत तभी से ताक रही जब जीव जन्म लेता है।

तो बन्धुओ , जब वह सामने आजायेगी, फिर कुछ करते-धरते नही बनेगा। न उस समय मुँह से परमात्मा का नाम ही निकल सकेगा और न ही हाथो से दान-पुण्य ही हो सकेगा। आज तो अगर दरवाजे पर कोई दीन-दुखी या भिखारी आ जाता है तो तुम तुरन्त कह देते हो—"आगे जाओ !" तुम्हारे पास अपनी सन्तान के लिये तो धन है। कहते हो सात पीढ़ियाँ खा लेंगी, किन्तु भिखारी को खाने के लिए एक रोटी भी देने मे हिचकिचाते हो, उसे दुतकार कर आगे जाने को कह देते हो। कभी कह देते हो—"कोई है नही देनेवाला।" अरे तुम स्वय तो बैठे ही हो और नही तो घर भी भरा है खाली तो है नही। चाहने पर जो चाहो दे सकते हो। किन्तु इच्छा ही नही

होती अत बहाने बना लेते हो। पर अगर उस समय कोई लेन-देन वाला आ जाय तो ? तो उसी समय उठकर बहीखाता सम्भाल लेते हो। भिखारी को कुछ देने के लिए भले ही न उठो पर पैसे का जहाँ काम आया फौरन सुस्ती उड जाती है चाहे बीमार ही क्यो न होओ।

पर भाई ! ऐसे काम चलने वाला नही है। अभी तो तुम्हारी बहानेबाजी और धाधली चल जाएगी किन्तु आगे जाने पर जब तुम्हारे सुकर्म और कुकर्म का हिसाब होगा उस समय धाधली नही चलेगी। दूध का दूध और पानी का पानी हो जायगा। उस समय फिर पश्चात्ताप और दु ख आडे नही आएगा।

इसलिये अगर बाद मे पश्चाताप नही करना है और कुछ पूँजी इकट्ठी करनी है तो अभी समय है। और कुछ किया जा सकता है। अत मन के विकारो को नष्ट करके धर्माराधन करो। सासारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति हटाकर मन को विरक्ति की ओर उन्मुख करो। तृष्णा तो कभी शान्त होती नही। यह वह अग्नि है जिसमे चाहे जितनी धन-दौलत डाली जाय अधिक से अधिक धधकती है। इसलिये इसे तृप्त करने की इच्छा रखने वाला अज्ञानी है। ज्ञानी वह है जो अपनी तृष्णा को खुराक न देकर उसे मूल से ही नष्ट कर देता है।

कवि सुन्दरदासजी ने भी ज्ञानी उसी को कहा है जो —

कर्म न विकर्म करे, भाव न अभाव धरे,
शुभ न अशुभ परे, यातें निधडक है।
बस तीन शून्य जाके, पापहु न पुण्य ताके,
अधिक न न्यून बाके, स्वर्ग न नरक है।
सुख दु ख सम दोऊ, नीचहु न ऊँच कोऊ,
ऐसी विधि रहे सोऊ, मिल्यो न फरक है।
एक ही न दोय जाने, बन्ध-मोक्ष भ्रम मानै,
'सुन्दर' कहत, ज्ञानी ज्ञान मे रहत है।

अर्थात्-ज्ञानी वही है जो आजीविका के लिये भी कभी हाय-हाय नही करता और न ही किसी की खुशामद या आजीजी ही करता है। वह तो भिक्षा के द्वारा रूखा-सूखा प्राप्त करके भी आनन्द से अपनी पेट-पूर्ति कर लेता है। न वह भाव को धारण करता है और न अभाव की परवाह करता है। उसके लिये शुभ और अशुभ कोई महत्त्व नही रखते इसलिये वह बेधडक होकर अपना समय ईश-भक्ति मे व्यतीत करता है।

अच्छा पहनने को मिल जाय तब भी यह खुश, नही होता और चिथडो की गुदडी ओढना पडे तब भी दुखी नही होता। मान-अपमान और सुख-दुख

उसके लिये समान होते हैं। न वह किसी से कुछ लेता है और न किसी को कुछ देता है। अपने वन्धु-वान्धवो मे रहकर भी उनमे ममत्व नही रखता और उनके न होने पर तनिक भी दुखी नही होता। वह न किसी को नीचा समझता है और न किसी को ऊँचा। चाहे जैसी स्थिति मे रहे, मस्त रहता है। सभी प्राणियो को वह समान दृष्टि से देखता है क्योकि सभी की आत्मा को एक ही परमात्मा का अश मानता है।

सच्चा ज्ञानी शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक को कोई चीज नही समझता तथा बन्धन और मोक्ष को भी मन का सकल्प या भ्रम मानता है। ब्रह्मज्ञान मे वह ऐसा डूबा रहता है कि दीन-दुनिया की उसे कोई खवर नही रहती।

एक बार मे एक ही काम

एक महात्मा किसी वन मे एक छोटी सी कुटिया बनाकर रहते थे। रात-दिन वे भगवान की भक्ति करते और मस्त पडे रहते थे। न उन्हे खाने की सुधि रहती न पीने की। जव कभी ध्यान आ जाता तो पास के एक गाँव की ओर चल देते तथा जो कुछ भी मिल जाता उसे खा लेते। उनकी लगन एक परमात्मा से ही थी, वाकी और कोई कार्य उनके लिये महत्त्व नही रखता था।

एक वार कई दिन वाद वे गाँव मे आये और किसी गृहस्थ के द्वार पर पहुँचे। गृहस्थ ने उन्हे वडे आदरपूर्वक आसन पर विठाया और खाने के लिए थाली मे हलुआ परोस दिया।

ठीक उसी समय गाँव का कोई व्यक्ति अत्यन्त जरूरी काम से उस गृहस्थ को वुलाने आ गया अत अपने पुत्र को महात्माजी का ध्यान रखने को कहकर वह घर से वाहर चला गया।

महात्माजी अनमने भाव से हलुआ खा रहे थे। गृहस्थ का पुत्र पास ही बैठा था, उसके मन मे अचानक कुछ विचार आया और महात्माजी की थाली मे उसने वाहर से लाकर गोवर परोस दिया। पर महात्माजी का ध्यान उधर गया ही नही और हलुआ खाते-खाते वे गोवर भी उसी प्रकार खाने लगे जिस प्रकार हलुआ खा रहे थे।

यह देखकर वह लडका वडा ही चकित हुआ और महात्माजी के चरणो पर गिर पडा तथा उनसे अपने अपराध की क्षमा माँगने लगा। महात्माजी तव कुछ चोके और वोले—"क्या हुआ भाई ?"

"भगवन् ! मैंने आपको हलुए के स्थान पर गोवर परोस दिया था पर आप उसी भाव के साथ वह खाते रहे ऐसा कैसे हो सका ?"

"बेटा ! अगर मैं खाते समय हलुए का और गोबर का अन्तर ही समझता रहूँ तो फिर भगवान को किस प्रकार स्मरण रखूं ? काम तो एक बार में एक ही होता है। या तो भगवान को याद करना या अन्य सासारिक व्यापारो को निपटाना।"

वस्तुत भगवान के प्रति ऐसी तन्मयता होने पर ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। कोई व्यक्ति यह चाहे कि मैं ससार के सुखों का उपभोग भी करता रहूँ और आत्मा का कल्याण भी कर लूं, तो यह कदापि सम्भव नही है। भोग और योग परस्पर विरोधी हैं। प्राणी इनमे से एक को ही अपना सकता है। अगर वह ससार से मुक्त होना चाहता है तो उसे ससार से विरत होना पडेगा। और अगर वह ससार के सुखो को भोगना चाहता है तो मुक्ति उसके पास भी नही फटक सकती। मुक्ति का अधिकारी वही बन सकता है जो ससार से ऊब कर उनसे छुटकारा पाने के लिये छटपटाता हो, जिस प्रकार उर्दू के कवि दाग ने घबराकर कहा है

भरे हुए हैं हजारो अरमां,
फिर उस पै है हसरतों की हसरत।
कहा निकल जाऊं या इलाही,
मैं दिल की वसअत से तग होकर ॥

कवि का कथन है—मेरे मन मे हजारो वासनाएँ तो विद्यमान हैं और वासनाओ के पूरे न होने का दुख और भी अधिक है। हे ईश्वर ! मैं तो अपने हृदय की उलझनो से परेशान हो गया हू। लगता है कि दिल के इस झमेले से पीछा छुडाकर कही दूर भाग जाऊँ।

बन्धुओ, साधक के हृदय मे जब ऐसी ही छटपटाहट ससार मे रहकर होने लगती है, तभी वह इससे मुक्त होने का प्रयत्न कर सकता है। अन्यथा नही। मैं पूछता हूँ कि क्या आपका दिल भी इस दुनियादारी से तग नही हो गया है तो फिर इससे मुक्ति पाने के प्रयत्न मे ढील क्यों ? आपको तो इसी क्षण मे **'शुभस्य शीघ्रम्'** को चरितार्थ करना चाहिये।

१४ | छः चंचल वस्तुएँ

धर्मप्रेमीवधुओ, माताओ एव वहनो !

इस ससार मे हमे जितनी भी वस्तुएँ दिखाई देती हैं, सव नाशवान हैं। प्रत्येक वस्तु धीरे-धीरे परिवर्तित होती जाती है, अन्त मे नष्ट होती है। काल का स्वभाव है कि वह नई चीज को पुरानी और पुरानी को नष्ट कर देता है। किसी भी वस्तु को वह एक सा नही रहने देता। भले ही हमारे नेत्रो से यह परिवर्तन शीघ्र दिखाई नही देता किन्तु वस्तु मे प्रतिपल परिवर्तन आता रहता है और उसे कोई रोक नही सकता। गीता मे कहा गया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।

असत् का अस्तित्व नही है और सत् का नाश नही है।

अर्थ स्पष्ट है कि जो शाश्वत है वह कभी नाश को प्राप्त नही हो सकता और जो असत् है वह कोटि प्रयत्न करने पर भी शाश्वत नही हो सकता। हमारा शरीर अशाश्वत है और इसीलिये इसमे नित्य परिवर्तन आता रहता है। वालक के जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक हम इस परिवर्तन को होते हुए देखते हैं। शैशवावस्था मे शिशु कितना भोला, नाजुक और शक्तिहीन दिखाई देता है, युवावस्था मे वही शिशु सव तरह से शक्तिशाली वन जाता है। क्योकि उसकी मानसिक एव शारीरिक दोनो ही शक्तियाँ वढ जाती है। जिस प्रकार इसका शरीर पुष्ट होता है, उसी प्रकार साहस और आत्म-विश्वास भी वढ जाता है। दूसरे शब्दो मे हम यह भी कह सकते हैं कि जवानी, जोश, वल, साहस आत्म-विश्वास एव गौरव का ही दूसरा नाम है। किन्तु वह भी कभी स्थायी नही रह सकती। किसी ने सुन्दर शब्दो मे इसकी अनित्यता वताते हुए कहा है—

रहती है कब, बहारे जवानी तमाम उम्र,
मानिन्द बूये गुल, इधर आई उधर गई।

यानी, युवावस्था की बहार तमाम उम्र एकसी कहाँ रह सकती है? वह तो पुष्प की खुशबू के समान है जो एक तरफ से आती है और दूसरी तरफ चली जाती है।

इसप्रकार इस विश्व मे कोई भी वस्तु सदा एक सी नहीं रहती, वह प्रत्येक क्षण बदलती रहती है और अन्त मे नष्ट हो जाती है। किन्तु कुछ चीजें तो और भी अधिक चचल हैं। जो कि अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक बदल जाती हैं। उनके लिये कहा जा सकता है- आज है और कल नहीं।

सस्कृत के एक श्लोक मे ऐसी ही छ वस्तुओ के लिये बताया गया है जो कि अन्य वस्तुओ की अपेक्षा शीघ्र परिवर्तित हो जाती हैं अर्थात् अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक चचल हैं। श्लोक मे बताया है :—

यौवन जीवित चित्त, छाया लक्ष्मी च स्वामिता।
चचलानि षडेतानि, ज्ञात्वा धर्मरतो भवेद्॥

(१) युवावस्था

श्लोक मे छ प्रकार की चचल वस्तुओ मे पहला नबर यौवन का आया है यौवनावस्था, जो कि अपने साथ असीम बल, सौन्दर्य, उत्साह, साहस एव गर्व लेकर आती है बहुत थोड़े समय मे ही वृद्धावस्था मे बदल जाती है। जिस प्रकार बरसाती नदी मे बाढ आती है पर शीघ्र ही पुन समाप्त हो जाती है उसी प्रकार युवावस्था भी बड़े जोश और शोरगुल के साथ आती है किन्तु शीघ्र ही चली भी जाती है।

जब यह शरीर मे विद्यमान रहती है, तब तक मनुष्य मारे घमड के मस्तक ऊँचा रखकर, गर्दन अकड़ाकर और आँखे लाल करके चलता है। न किसी की परवाह करता है और न किसी का लिहाज। वह भूल जाता है कि यौवन आता हुआ दिखाई देता है पर जाता हुआ नहीं। पवन की अपेक्षा भी अधिक तेज चाल से दिन-रात बीतते हैं और जवानी समाप्त हो जाती है। जब तक वह रहती है, व्यक्ति किसी से सीधे मुह बात नहीं करता तथा दया, करुणा एव सेवा आदि के गुण उससे दूर भागते हैं। उसके हृदय मे केवल अह, निर्दयता एव विलास का निवास रहता है।

जवानी के नशे मे चूर रहनेवाले व्यक्ति को शील और सदाचार का नाम ही नहीं सुहाता। उसका ध्येय केवल यही रहता है कि किस प्रकार इन्द्रियो को अधिक से अधिक सुख दिया जाय तथा भोगो का उपभोग किया जाय। बड़ो की सीख और गुरु की शिक्षा भी उसे रुचिकर नहीं लगती।

किन्तु जब बुढापा आने को होता है तो उसकी सारी उछल-कूद, अकड-तकड, जोश, चेहरे की चमक और सुर्खी सब न जाने कहाँ गायब होने लगती है। उस समय उसे ध्यान आता है कि मैंने अपने जीवन का अमूल्य भाग विषय-भोगो मे और अशुभ कृत्यो मे गँवा दिया) उस समय पश्चाताप करते हुए वह कहता —

बाले लीला मुकुलितममी मन्थरा दृष्टिपाता ।
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ॥
सप्रतन्ये वयमुपरत बाल्यमास्था वनान्ते ।
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयाम ॥

हे बाले ! अब तू अपने अर्धनिर्मित नेत्रो से क्यो मेरी ओर कटाक्ष-बाण चलाती है ? अब इस दृष्टि को रोकले, क्योकि इस परिश्रम से तुझे कोई लाभ नही होगा। अब हम पहले जैसे नही रहे। हमारी युवावस्था जा चुकी है और हमने मोह का त्याग कर वन मे रहने का निश्चय कर लिया। अब हम विषय-सुख को तृण से भी निकम्मा समझते हैं।

(वास्तव मे ही वृद्धावस्था आने पर मनुष्य को होश आता है और वह अपनी युवावस्था मे किये गए कुकृत्यो पर पश्चात्ताप करता है। पर फिर इतना समय और शक्ति उसके पास नही रह जाती कि वह अपने बिगडे हुए कार्यों को सुधार सके और नये सिरे से जीवन-यापन कर सके) कहने का अभिप्राय यह है कि युवावस्था बडे से बडे बुद्धिमानों की बुद्धि भी इस प्रकार मलिन कर देती है, जिस प्रकार वर्षाकाल मे निर्मल नदी का जल भी अत्यन्त मलिन हो जाता है।

मर्यादापुरुषोत्तम राम ने महामुनि वशिष्ठ जी से कहा था—"हे मुनि-वर ! जिस महासागर मे अनन्त और अगाध जलराशि है तथा लाखो करोडो बडे-बडे मगर, मच्छ और घडियाल हैं, उसका पार करना बडा कठिन है। पर मैं उसको पार करना उतना मुश्किल नही समझता जितना कि युवावस्था को पार करना कठिन समझता हूँ। युवावस्था विषयो की ओर ले जाने वाली, महाअनर्थकारी और लोक-परलोक को नष्ट करनेवाली है। जिस प्रकार आकाश मे वन का होना आश्चर्य की बात है, उसी प्रकार युवावस्था मे शाश्वत सुख के मूल वैराग्य, विवेक, सन्तोष और शाति का होना आश्चर्य है।"

इसलिये कहा गया है कि युवावस्था चचल होने के साथ ही मनुष्य के जीवन को अपने दुर्गुणो से मलिन बनानेवाली है। अत इसको सयमित रखते हुए धर्माराधन की ओर भी लक्ष्य रखा जाय। ताकि कुछ सूत्र व्यक्ति के पास ऐसे रहें जिससे मन भान न भूले और भटक न जाय।

(२) आयुष्य—

ससार की मुख्य-मुख्य चचल वस्तुओ मे से आयुष्य भी एक है। आयुष्य की चचलता से कोई भी अजान नही है। सभी जानते हैं कि अनेक जीव जन्म लेते ही मर जाते हैं और उससे पहले माता के गर्भ मे ही कई स्वर्गस्थ हो जाते हैं। अगर वहाँ बच गए तो जन्म के समय या उसके पश्चात् भी कब काल आ जाय और प्राणी को इस पृथ्वी पर से उठालें, कुछ कहा नही जा सकता। जीवन-एक स्वप्न के समान है। जिस प्रकार हम स्वप्न देखते हैं और उसमें न जाने कितनी क्रियाएँ करते हैं हास-विलास, परिहास आदि। किन्तु आख खुलते ही उन सबका चिन्ह भी कही दिखाई नही देता। इसी प्रकार यह जीवन है। अभी बैठे हैं, हँस रहे हैं, गीत सुन रहे हैं और भी जीवन के सुखो का उपभोग कर रहे हैं पर अगले क्षण ही लुढक कर निष्प्राण हो सकते हैं। और भोगा हुआ सब स्वप्न के समान ही विलीन हो सकता है। कबीर कहते हैं कि इस जीवन को अनित्य मानकर परमात्मा की भक्ति भी करते रहो ताकि अत मे पश्चाताप न करना पडे। उनके सुन्दर पद्य इस प्रकार हैं—

तन सराय मन पाहरू, मनसा उतरी आय।
को काहू को है नहीं, सब देखा ठोक बजाय॥
कबिरा रसरी पाँव मे, कह सोवे सुख चैन ?
स्वास नकारा कूच का, बाजत है दिन रैन॥
इस चौसर चेता नहीं पशु ज्यों पाली देह।
राम नाम जाना नहीं, अन्त परी मुख खेह॥

कहा है—यह शरीर एक सराय के समान है, मन यहाँ चौकीदार है तथा आत्मा इसमे मुसाफिर के समान आकर अल्पकाल के लिए ठहरा हुआ है। जिस प्रकार सराय मे ठहरे हुए अन्य मुसाफिर किसी का साथ नही देते तथा अपने-अपने समय पर अपने गन्तव्य को चल देते हैं। इसी प्रकार इस शरीर रूपी सराय मे भी जो आत्मा है उसका भी कोई अपना नही हैं, यह अच्छी तरह जाच-पडताल करके जान लिया है।

कबीर जी कहते हैं—"अरे जीव! तेरे पैरो मे तो मृत्यु की रस्सी बँधी हुई ही है। जिसके द्वारा किसी भी पल यमराज तुझे खीच ले जाएगा। फिर भी आश्चर्य की बात है कि तू चैन की नीद सो रहा है। क्या तू जानता नही कि इस दुनिया मे कुछ करने के लिए श्वास रूपी नगाडा दिन-रात बजता रहता है।"

इस जीवन को कवि ने चौपड का खेल बताया है। कहा है कि इस खेल मे भी तू नही जीतेगा यानी इस जन्म मे भी नही चेतेगा और पशु के समान

खाने, पीने और सोने की क्रियाएँ करता हुआ इस देह को पालेगा तथा राम के नाम को नही जानेगा तो अन्त मे तेरे मुँह पर धूल ही पडेगी।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो अज्ञानी व्यक्ति ससार की अनित्यता को समझकर इस अल्पकालीन जीवन से लाभ नही उठाते तथा ससार के असली तत्व को न समझकर इसके मोह मे फसकर नष्ट हो जाते हैं वे पतिगे के समान मूर्ख कहलाते हैं। यह ससार भी दीपक की लौ के समान माना जा सकता है और प्राणियो को पतिगो के समान। मूर्ख पतिगे दीपक के मोह मे पडकर उसीके आसपास मडराते रहते हैं तथा उस पर गिरकर भस्म हो जाते हैं। वे यह नही जानते कि दीपक से प्रेम करने मे मेरे हाथ तो कुछ लगेगा नही उलटे प्राणो का नाश होगा।

उसी प्रकार ससार मे आसक्त व्यक्ति यह नही समझ पाते कि ससार की इन आकर्षक विषय-वासनाओ मे फँसने से तथा इनमे मोह रखने से मेरी आत्मा कर्म-बन्धनो मे जकडकर अनन्त काल तक महा भयानक दु ख भोगेगी। जो बुद्धिमान् और विचारवान् हैं वे इस सत्य को समझते हैं और केवल समझते ही नही उससे पूरा लाभ उठाते हैं। अर्थात् वे ससार को अनित्य और सर्वनाश का कारण मानकर समय रहते ही चेत जाते हैं तथा दान, शील, तप एव भाव का आराधन करते हुए अपने जीवन को सार्थक कर लेते हैं।

उर्दू के कवि ने भी लिखा है—

दुनिया से जौक रिश्तये उल्फत को तोड दे।
जिस सर का है यह बाल उसी सर मे जोड दे॥

छोटे से इस पद्य मे बडी गम्भीर बात कही गई है—"हे प्राणी! इस दुनिया से तूने जो प्रेम का रिश्ता कायम कर लिया है उससे तुझे लाभ नही होगा वरन् हानि ही होगी। अर्थात्—इसके मोह मे पडकर तू अपने जन्म-मरण बढा लेगा और परमात्मा से दूर होता चला जाएगा।"

इसलिये तेरे हक मे अच्छा यही है कि इससे तो अपने झूठे नाते को तोड दे और—'यह बाल जिस सर का है उसी मे जोड दे'। यानी जिस परमात्मा का अश है उसी मे ले जाकर मिला दे।"

पर यह होगा कैसे? क्या इच्छा करते ही प्राणी सीधा चलकर परमात्मा के पास पहुच जाएगा? नही, उसके लिये बडे पापड बेलने पडेंगे। पजाबी-कवि नत्थासिंह ने परमात्मा के पास पहुचने का उपाय बताया है—

बिना प्रभु दे तूँ होर नाल प्यार न करीं—
ओ मना याद रखीं।
जे तू नेडे जाना चाहे भगवान दे।
पजा बैरिया नू नेडे भी न आन दे।

काम क्रोध मोह लोभ ते हङ्कार न करीं—
ओ मना याद रखीं।

प्रभु के पास पहुचने की पहली शर्त तो कवि ने यह रखी है कि प्रभु के अलावा अन्य किसी से भी मोह न रखा जाय। वे कहते हैं—"भाई! अगर तुम्हे प्रभु को पाना है तो मेरी यह बात याद रखो कि तुम्हारा प्रेम भगवान के अलावा और किसी से भी नही होना चाहिये।"

अगर तुम्हें प्रभु के नजदीक जाना है तो अपने दुश्मनो को अपने पास मत आने दो। ये दुश्मन कौन हैं? काम, क्रोध, मोह, लोभ एव अहकार आदि। कवि का कहना है कि अपनी आत्मा के इन दुश्मनो से वचो, इन्हें समीप मत फरकने दो, तभी तुम परमात्मा के पास पहुच सकोगे। मेरी यह वात सदा याद रखो भूलो मत।"

तो वन्धुओ, मूल वात यही है कि यह जीवन चचल चपला के समान ही चपल है। कुछ कहा नही जा सकता किस क्षण आयुष्य की डोर टूट जाएगी। चाहे वचपन हो, जवानी या वृद्धावस्था। काल को किसी का लिहाज नही है और न किसी का भी पक्षपात है। उसके लिए वच्चे, युवा और वूढे सव समान है। वह जव चाहे जिसको भी सहज ही ले जा सकता है और ले जाता भी है। हम अपने नेत्रो के समक्ष ही किसी भी आयु के प्राणी को काल गाल मे समाते हुए देखते हैं अत इसका तनिक भी भरोसा न रखते हुए हमे जितना आयुष्य मिला हुआ है उसमे ही अपने आत्म-कल्याण का प्रयत्न कर लेना चाहिए। अगर हम अपने समय को वर्वाद करेंगे तो अन्त मे वह हमे ही वर्वाद कर देगा। इसलिये समय रहते ही चेत जाना वुद्धिमानी है। ईश्वर ने हमें ससार के अन्य असख्य प्राणियो की अपेक्षा वुद्धि इसीलिये प्रदान की है कि इसका हम उपयोग करें। अगर हम ईश्वर की इस महान् सहायता से भी लाभ नही उठाते हैं तो वुद्धि का होना न होना समान ही है।

(३) चित्त

युवावस्था और आयुष्य के पश्चात् चित्त को चचल वताया गया है। और यथार्थ मे ही केवल इन दोनो से नही, अपितु ससार की समस्त चचल वस्तुओ की अपेक्षा चित्त यानी मन चचल है। वह पलभर भी एक सी स्थिति मे नही रह पाता। चाहे आप सामायिक करें, प्रतिक्रमण करने वैठें, शास्त्र श्रवण करलें चाहे या कि अपने सासारिक व्यापार और व्यवसाय सवधी मसलो को सुलझाने की कोशिश कर रहे हो, पर आपका मन कभी एकाग्र होकर आपका सहायक नही वन सकता। जिसमे सासारिक कार्यों मे तो वह फिर भी कुछ काल तक एक जगह टिक भी सकता है किन्तु धर्म-कार्य मे वह कभी नही टिकता। उसे

स्थिर करने मे विरले ही महा-मानव समर्थ हो पाते हैं जो कि दृढ सयम के द्वारा अपनी इन्द्रियो को मारे, साथ ही मन को कब्जे मे रखते हैं।

साधारण व्यक्ति की विसात ही नही है कि वह अपने मन को अपनी इच्छानुसार एक ही स्थान पर कुछ समय के लिये टिकाये रख सके। क्योंकि मन की चचलता पारे के समान होती है। जिस प्रकार पारा एक जगह स्थिर नही रहता उसी प्रकार महान योगियो के अतिरिक्त किसी का भी मन एक ही वस्तु या विचार पर स्थिर नही रह सकता।

भगवद्गीता मे मन को पवन के समान चपल वताया है। यह एक क्षण मे यहाँ है तो दूसरे ही क्षण मे न जाने कहाँ चला जाता है। इसे वश मे करने की दुष्करता वताते हुए कहा—

चञ्चल हि मन कृष्ण ! प्रमाथि वलवद् दृढम्।
तस्याह निग्रह मन्ये, वायोरिव सुदुष्कर।।

अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं—"यह मन वडा चचल और प्रमथन स्वभाव वाला है। अत्यन्त वलवान और दृढ है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इसको वश मे रखना वायु को वश मे रखने के समान दुष्कर है।"

वस्तुत मन की दौड का कोई ठिकाना नही है कि यह किस समय कहाँ रहता है और किस समय कहाँ चला जाता है। पर इसका यह भी अर्थ नही है कि इसे वश मे किया ही नही जा सकता।

अगर मन का निग्रह करना सभव ही नही होता तो शास्त्रो मे इसके निग्रह करने के उपायो का वर्णन भी नही किया जाता। हमारे तीर्थंकर वीतरागो ने तथा अनेक महापुरुषो ने इन्ही शास्त्रोक्त उपायो से अपने मन का निग्रह किया है और तभी वे सयम-साधना करके अपने कर्मों को चूर कर पाए है। जव जव भी उसके मन ने अपनी चपलता दिखाई, उन्होने उसे तिरस्कृत करते हुए कहा है—

पाताल विशसि यासि नभो विलघ्य,
दिड्मण्डल भ्रमसि मानस चापलेन।
भ्रान्त्यापि जातु विमल कथमात्मलीन,
तद्ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन।।

—भर्तृहरि

हे चित्त ! तू अपनी अत्यधिक चचलता के कारण पाताल मे प्रवेश करता है, आकाश के भी परे जाता है, दसो दिशाओ मे घूमता है, या भूल से भी तू उस विमल परम ब्रह्म को स्मरण नही करता, जो तेरे हृदय मे ही मौजूद है, जिसके याद करने से ही तुझे परमानन्द रूपी मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

वास्तव, मे इस मन की बडी अद्भुत लीला है। यह कभी आकाश मे उडता है, कभी पाताल मे जाता है और कभी विभिन्न दिशाओ मे भटकता फिरता है किन्तु भूलकर भी वहाँ नही जाता, जहाँ इसे सच्चे सुख की उपलब्धि हो सकती है। वह सच्चे सुख का स्थान आत्मा है। आत्मा मे आनन्द का असीम सागर लहरा रहा है, आपके नजदीक भी यह नही भटकता। अगर यह आत्म-स्वरूप को समझने का प्रयत्न करे तथा उसमे स्थित परमात्मा का चिंतन करे तो सहज ही समस्त पापो से मुक्त हो सकता है और सदा के लिए ससार मे आवागमन से बच सकता है, किन्तु उसकी अस्थिरता उसे टिकने नही देती।

पर जो महा-मानव इसे वश मे करने का दृढ सकल्प कर लेते हैं वे कुछ उपायो के द्वारा इसे वश मे करते हैं। वे उपाय हैं—मन को स्वाध्याय मे लगाना तथा अनित्यता, अशरणता आदि वारह भावनाओ के तथा शुभ और अशुभ कर्मों के फलो के चिन्तन मे लगाना। मन का स्वभाव हर समय कुछ न कुछ विचार करने का होता है। वह पलभर के लिए भी खाली नही रह सकता। अत इसे इन क्रियाओ मे उलझाए रहने से यह प्रशस्त क्रियाओ मे लगा रहेगा तो विषय-वासनाओ की ओर जाने का अवकाश नही पाएगा। और धीरे-धीरे जव इसकी आदत शुभ परिणति मे रहने की हो जाएगी तव वह स्वय ही विपय-विकारो से विरक्त होता हुआ आत्मा मे स्थिर हो जाएगा। मुनिजन इसे स्थिर करने के लिए ही शान्त और एकान्त स्थान मे रहकर चिंतन, मनन, स्वाध्याय एव साधना करते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि यद्यपि मन अत्यन्त चचल, दुष्ट और उद्दण्ड होता है। किन्तु फिर भी वह आत्मा का स्वामी नही है अपितु आत्मा ही उसका स्वामी है, अत प्रयत्न करने पर आत्मा निश्चय ही उसे नियत्रण मे ला सकता है। जव वह आत्मा द्वारा प्राप्त की हुई शक्ति से इतना वलवान वनता है तो आत्मा निश्चय ही उसे अपने अधीन कर सकती है और करती भी है।

(४) छाया

छाया की गणना भी चचल वस्तुओ मे आती है। यह भी एक जगह कभी स्थिर नही रह सकती। घडी मे यहाँ और घडी मे वहाँ चली जाती है। प्रात काल जव सूर्य अपनी किरणो को पृथ्वी पर फेंकता है तो यह वडी लम्वी रहती है पर धीरे-धीरे मध्यान्ह का सूर्य मस्तक पर आता है त्यो-त्यो यह छोटी होती जाती है। छाया को पकड सकना सरल नही है। अगर व्यक्ति इसे छूने दौडे तो यह भी उतनी ही तेजी से आगे दौडती चली जाती है। पर इसे पकड़ने का उपाय भी हमारे शास्त्र वताते हैं—

'आचारागसूत्र' मे एक दृष्टात मैंने पढा था—एक वालक ने अपने अज्ञानपने के कारण यह विचार किया कि मैं अपनी छाया को पकडूँ । यह सोचकर वह छाया को पकडने के लिये जल्दी-जल्दी चलने लगा। किन्तु छाया भी उतनी ही तेज उससे आगे चलती रही।

तव वह बालक दौडने लगा कि दौडकर उसे पकड ले, किन्तु वह जितना तेज दौडा, उसकी छाया भी ठीक उतनी तेजी से दौडती रही। वच्चा थक गया और जोर-जोर से हाँफने लगा। सयोगवश उसी समय एक मुनि उधर आ निकले और वच्चे की दशा देखकर उन्होने उसका कारण पूछा—वालक ने अपनी परेशानी बता दी।

सत मुस्कराने लगे और वोले—'वत्स ! तू छाया के पीछे इस प्रकार मत दौड, मेरे साथ चल।' मुनिराज ने जिधर छाया पडती थी उससे विपरीत दिशा मे अपना रुख किया और उस बालक को अपने साथ चलाने लगे। बालक ने देखा कि इस प्रकार चलने मे छाया उसके पीछे-पीछे चली आ रही है। इस बीच ही मध्याह्न भी हो गया और बालक ने छाया को बिलकुल अपने साथ देखा तो वह अत्यन्त प्रसन्न हो गया।

यह उदाहरण शास्त्रकार धनके लिए, लालच और विकारी भावनाओ के लिए भी देते है। वे बताते हैं कि जिस प्रकार वह बालक छाया के पीछे दौडा तो उसे नही पा सका और जव छाया की ओर से मुँह मोडकर चला तो छाया उसके पीछे-पीछे आने लगी।

इसी प्रकार जो व्यक्ति सुख प्राप्त करने के लिये सासारिक सुखो के पीछे दौडते हैं, उन्हें कभी सुख की प्राप्ति नही होती, क्योकि ज्यो-ज्यो सासारिक सुख भोगे जाते हैं, उन्हे अधिकाधिक भोगने की लालसा वढती हैं। किन्तु जो व्यक्ति ससार के इन सुखो से मुँह मोडकर विरक्ति की ओर चल देते है, उसे असीम सन्तोप का अनुभव होता है और सतोप के द्वारा सच्चे सुख का। आचार्य चाणक्य ने भी कहा है—

सतोषामृततृप्ताना यत्सुख शान्तचेतसाम् ।
न च तद्धनलुब्धानामित श्चेतश्च धावताम् ॥

अर्थात्—सतोप रूपी अमृत से जो लोग तृप्त होते हैं, उनको जो शाति और सुख होता है वह धन के लोभियो को, जो इधर-उधर दौडा करते हैं, नही प्राप्त होता।

(५) लक्ष्मी

पाँचवी चचल वस्तु लक्ष्मी है। लक्ष्मी की चचलता के विपय मे सभी जानते हैं। हम आए दिन देखते हैं कि कल ऐश्वर्य मे लौटने वाला व्यक्ति

आज दाने-दाने को मोहताज बना हुआ है और भिखारी लाटरी का एक टिकिट खुलते ही श्रेष्ठि बना घूमने लगा है। लक्ष्मी आज किसी के पास है तो कल किसी के पास। किसी को व्यापार मे घाटा लगा तो वह अन्यत्र चली गई। और किसी को राह चलते ही प्राप्त हो गई। लक्ष्मी किसी की नही होती और उसको लेकर गर्व करने वाला व्यक्ति अज्ञानी ही साबित होता है। पुण्य का उदय हो तो वह किसी को मिल जाती है। और पाप का उदय होने पर हाथ मे आई हुई भी सरक जाती है।

दो पैसे मे जवाहिरात बेच दिए

बहुत पहले लखनऊ का नवाब आसिफुद्दौला था। वह बडा उदार और दानी था। कहा जाता है कि उसके यहाँ से कोई भी अभावग्रस्त व्यक्ति खाली हाथ नही लौटता था।

एक बार वह दरबार मे बैठा हुआ था कि उसके कानो मे एक फकीर के ये शब्द पडे—

जिसको न दे मौला,
उसको दे आसिफुद्दौला।

यह सुनकर नवाब बडे गर्व से भर गया उसने समझा कि लोग उसकी उदारता से बडे प्रभावित हैं और यह कहते हैं कि भगवान भी जिसको नही दे पाता उसे मैं देता हू। इस प्रकार मैं भगवान से भी बढकर हू। अपनी प्रशस्ति से खुश होकर नवाब ने उस फकीर को बुलाया और उसे एक तरबूज प्रदान किया।

फकीर बहुत असन्तुष्ट हुआ। उसने सोचा था कि नवाब के यहाँ से बहुत कुछ मिलेगा पर केवल एक तरबूज पाकर वह बडा खिन्न हुआ पर कहता क्या, मन मारे हुए वहाँ से चल दिया।

मार्ग मे उसे एक दूसरा फकीर मिल गया। वह भूखा था अत उसने पहले वाले से पूछा—"बाबा, यह तरबूज बेचोगे क्या ?" तरबूज लाने वाला फकीर उदास तो था ही, उसने केवल दो पैसे मे ही तरबूज माँगनेवाले दूसरे फकीर को दे दिया। और उस खरीदने वाले ने जब घर आकर तरबूज काटा तो उसमे से हीरे, मोती और माणिक निकल पडे। दो पैसे की खरीदी मे इतना धन पाकर फकीर निहाल हो गया और छप्पर फाड कर देने वाले अल्लाह को लाख-लाख दुआएँ देने लगा।

इधर कुछ दिन बाद ही पहले फकीर ने पुन राज-दरबार मे आकर आवाज लगाई—

"जिसको न दे मौला, उसको दे आसिफुद्दौला।

नवाव ने फकीर को पुन. राजदरवार मे देखा तो वडा चकित हुआ और उससे पूछ लिया—क्यो साईं वावा ! वह तरवूज खाया था क्या ?"

"नही हुजूर ! मैंने तो उसे दो पैसे मे किसी और फकीर को वेच दिया था।"

सुनकर नवाव आसन से उछल पड़े और बोले—अरे ! तुम तो वडे वदनसीव निकले। उस तरवूज मे तो जवाहिरात भरे हुए थे।

यह सुनकर फकीर ने तो सिर पीट लिया और नवाव को अपने अहकार पर वडा दु ख हुआ। उसने फकीर से कहा—"वावा ! अव कभी झूठी हांक मन लगाना। क्योकि जिसे खुदा देना नही चाहता उसे मैं किस प्रकार दे सकता हू ? लक्ष्मी वडी चचल है अत उसी के पास जाकर रहेगी जिस के पल्ले मे पुण्य होगा। अगर ऐसा नही होता तो तुम तो लाखो का धन दो पैसे मे कैसे दे देते ?

उदाहरण से स्पष्ट है लक्ष्मी वडी चपल है और विना पुण्य के लाखे प्रयत्न करने पर भी टिक नही सकती। सागर मे जिस प्रकार तरग उठती है और विलीन हो जाती है, उसी प्रकार लक्ष्मी आती है और चली जाती है फिर भी मनुष्य न जाने क्यो माया के लिए पागल वना रहता है। वह जानता है कि इस ससार से मुझे खाली हाथ आना है, साथ मे धन-दौलत नही, केवल पाप-पुण्य जाता है। फिर भी वह धन के लिए अठारहो पापो का सेवन करने से नही चूकता। धन के लिए वह चोरी करता है, झूठ वोलता है हत्या करता है अधिक क्या कहा जाय कोई वडा या छोटा पाप करने से भी नही हिचकता। पर जिस चचल लक्ष्मी के लिए वह यह सव करता है, क्या उसके पास वह टिकी रहती है ? नही, वह या तो उसके जीवित रहते ही किसी दूसरे के हाथो मे चली जाती है या फिर मरने पर स्वय ही यहाँ पडी रहती है। अत उसके लिये गर्व करना और अनेकानेक पापो का वधन करना व्यक्ति की वडी भारी भूल और अज्ञानता है।

(६) स्वामित्व

स्वामित्व माने अधिकार। यह भी चचल है। सत्ता कभी एक के हाथो मे नही रहती। ससार में वडे-वडे राजा-महाराजा और वादशाह हुए हैं जिनका चद क्षणो, मिनिटो या घटो मे ही तख्ता वदल गया है। इतिहास हमे ऐसे अनेक उदाहरण वताता है, जिनमे सत्ता के लोभी व्यक्तियो ने भाई, वाप या मित्र को षड्यन्त्र रचकर कत्ल किया और राज्य का स्वामित्व अपने हाथ मे ले लिया। एक राजा का दूसरे पर आक्रमण करके उसे हराना और राज्य को अपने हस्तगत कर लेने के उदाहरण तो इतने है कि जिनकी गणना भी नही हो

सकती। ससार मे अनेको क्रातियाँ ऐसी हुई हैं जबकि एक मामूली सैनिक या व्यक्ति भी अल्पकाल मे ही सत्ताधारी बना दिखाई दिया है। स्पष्ट है कि एक दिन पहले जो पेट भरने का भी मुहताज दिखाई देता था वही अगले दिन सम्राट बन गया था और जो राजगद्दी का मालिक था वह अगले दिन भूखा-प्यासा और ऊपर से अपनी जान बचाने को व्याकुल मारा-मारा फिरा था। उसकी सत्ता, उसका राज्य और अधिकार मे रही हुई लम्बी-चौडी पृथ्वी भी अल्पकाल मे ही दूसरे की होती देखी गई है।

राजा भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक मे कहा भी है कि अपने राज्य, ऐश्वर्य और पृथ्वी पर के स्वामित्व का गर्व करना पूर्णतया निरर्थक है। क्योंकि —

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपशतं—
भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभुजाम्।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो,
विषादे कर्तव्ये विदधति जडा प्रत्युतमुदम्॥

अर्थात्—सैकडो-हजारो राजा इस पृथ्वी को अपनी-अपनी कहकर चले गये, पर यह किसी की भी न हुई। तब फिर राजा लोग इसके स्वामी होने का घमण्ड क्यो करते हैं? खेद की बात है कि छोटे-छोटे राजा, पृथ्वी के छोटे से छोटे टुकडे के मालिक होकर ही अपने स्वामित्व के लिए फूले नही समाते। असल मे जिस बात से दुख होना चाहिए, मूर्ख उससे उलटे खुश होते हैं।

वस्तुत इस पृथ्वी पर आज तक असख्य व्यक्तियो का स्वामित्व हुआ लेकिन अपनी चचलता के कारण वह किसी के पास भी स्थिर नहीं रह सका। कभी वह सत्ताधारी के जीवित रहते ही बदल गया और नही तो उसकी मृत्यु होने पर दूसरे के पास गया। लकेश्वर रावण, जिसने यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और देवताओ तक को अपने अधीन कर लिया था और त्रिलोकी को अपनी अगुलि पर नचाता हुआ कहता था—मेरी बराबरी का प्राणी इस विश्व मे कही नहीं है। क्या उसका स्वामित्व कुछ काल मे ही राम के पास नही चला गया था? और वह राम जिन्होने समुद्र पर भी सेतु बाधकर रावण का मान मर्दन किया था वह भी आज कहाँ हैं? रावण के मस्तक पर चिराग रखकर उसे जलाने वाला सहस्रबाहु जीवित नही रहा तथा अपने भुजबल से वीरता का सिक्का चारो दिशाओ मे जमानेवाले भीम व अर्जुन, महादानी हरिश्चन्द्र, कर्ण और बलि से दानी भी अपने स्वामित्व को स्थिर नही रख सके।

कहने का अभिप्राय यही है कि स्वामित्व और प्रभुता अति चंचल है। जिस प्रकार बिजली की चमक और बादल की छाया चपलता के कारण क्षण-क्षण मे परिवर्तित हो जाती हैं, उसी प्रकार स्वामित्व अथवा अधिकार भी

किसी एक के पास नही रहता। वह कभी किसी के हाथ मे आती है और कभी किसी के। अत अहकार वृथा है।

अहकार महा अनर्थों का मूल है तथा आत्मगुणो का सर्वथा नाश करने वाला है। अहकारी के हृदय मे कभी परमात्मा का निवास नही हो सकता और जिससे परमात्मा दूर रहता है उसके दुखो का अन्त भी कैसे हो सकता है ? इसीलिए पूर्व मे हमारे कहे गये श्लोक मे मनुष्य को सीख दी गई हैं कि यौवन, आयुष्य, चित्त, छाया, लक्ष्मी एव स्वामित्व, ये सब अति चचल है अत इन छहों की चचलता को भली-भाँति जानकर इनके लिए कभी गर्व मत करो तथा अपनी आत्मा को कर्मरत बनाओ। धर्माराधन के लिए किसी विशेष वस्तु की आवश्यकता नही है। उसके लिए न राज्य चाहिए, न सत्ता। न शारीरिक बल चाहिए और न ही धन, जो कि सभी अनर्थों का मूल है। उत्तराध्ययन सूत्र' मे कहा है—

धणेण किं धम्मधुराहिगारे ?

धर्म की धुरा को खीचने के लिये धन की क्या आवश्यकता है ?

आशय स्पष्ट है कि धर्म के लिये धन की नही वरन आत्मिक गुणो की आवश्यकता है, जिन्हें अपनाने पर इस लोक मे तो प्रतिष्ठा प्राप्त होती ही है, परलोक मे भी शाश्वत सुख हासिल होता है।

सस्कृत के एक श्लोक मे भी बडे सुन्दर ढग से बताया है कि शाश्वत सुख की प्राप्ति के मार्ग क्या हैं ?—

प्राणाघातान्निवृत्ति परधनहरणे सयम सत्यवाक्य,
काले शक्त्या प्रदान युवतिजनकथा मूकभाव परेषाम्।
तृष्णास्रोतो विभगो गुरुषु च विनय सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्य सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधि श्रेयसामेष पथा ॥

अर्थात्—किसी भी जीव की हिंसा न करना, दूसरे के धन को न चुराना सत्य बोलना, समय पर सामर्थ्य के अनुसार दान करना, पर-स्त्रियो की चर्चा न करना और कोई करता हो तो स्वय मूक रहना, गुरुजनो के सामने नम्र रहना, सभी प्राणियो पर दया करना तथा भिन्न-भिन्न शास्त्रो मे समान विश्वास रखना—ये सब नित्य एव सच्चे सुख की प्राप्ति के अचूक मार्ग हैं।

बधुओ, आपने समझ लिया होगा कि श्लोक मे बताए गए, गुणो से धर्म भिन्न नहीं है। आत्मा को निर्मल बनाने वाले इन गुणो का सामूहिक नाम ही धर्म है जो व्यक्ति इन गुणो को अपने जीवन मे उतार लेता है वह इस ससार रूपी घोर अटवी मे आधि व्याधि एव उपाधि रूप दुखो से परितप्त नही होता तथा इस दुखमय ससार मे पुन नही आता। उसकी आत्मा सपूर्ण कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध-स्थान को प्राप्त करती है तथा अक्षयसुख की अधिकारिणी बन जाती है।

●

१५ | मुक्ति का द्वार-मानवजीवन

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

आज हम अपने वेगवान मन की ओर दृष्टिपात करेंगे। आप और हम सभी अनुभव करते हैं कि मन की गति बडी विचित्र और तीव्र है। यह इतना चचल है कि समय मात्र के लिये भी एक स्थान पर नही टिकता। कभी तो यह आकाश की ओर उडान भरता है और कभी पाताल मे प्रवेश कर जाता है। इसकी दौड का कोई ठिकाना नही है। अपनी असाधारण चपलता के कारण यह प्रतिपल इधर-उधर भटकता रहता है। बडे-बडे साधको के लिये भी इसे स्थिर करना बडा कठिन हो जाता है। किसी से भी इसे डर नही लगता। माला फेरते समय, स्वाध्याय करते समय, पूजा-पाठ करते समय अथवा चिंतन-मनन के समय भी यह अपने शरण-दाता जीव की परवाह न करता हुआ निर्भय होकर इतस्तत विचरण करता रहता है। इसलिये मुमुक्षु प्राणी सर्वप्रथम इसे ही वश मे करने का प्रयत्न करते हैं। कबीर का कथन है—

कबीर मन मरकट भया, नेक न कहु ठहराय।
सत्त नाम बाधे बिना, जित भावे तित जाय ॥

अभिप्राय यही है कि साधक को अपनी साधना प्रारम्भ करने से पहले ही मन की गति का निरन्तर निरीक्षण करना चाहिये तथा इसे स्थिर रखने का अभ्यास करना चाहिये। क्योकि यह चपल है और इसका निग्रह करना कठिन है किन्तु फिर भी असभव नही है। अगर यह कार्य असभव होता तो हमारे शास्त्रो मे इसके निग्रह करने के उपायो का वर्णन ही न किया जाता। प्राचीन काल के महा-मानवो ने इसका निग्रह किया है तथा शास्त्रोक्त उपायो का अव-लबन करने से आज भी इसे वश मे किया जा सकता है।

भगवान महावीर ने फरमाया है—

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।
त सम्म तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कथग ।।

—उत्तराध्ययन सूत्र २३-५८

अर्थात् मन बडा साहसी और उद्दड है, वह दुष्ट घोडे के समान इधर-उधर दौडता है। मैं उसको धर्मरूप शिक्षा की लगाम से अच्छी तरह वश मे किये हुए हू।

गाथा से स्पष्ट है कि भले ही मन बन्दर के समान चपल तथा दुष्ट घोडे के समान उद्दड और वेगवान होता है, फिर भी इसे चिंतन, मनन, स्वाध्याय एव अन्य धर्म क्रियाओ मे लगाकर वश मे किया जा सकता है। इसका स्वभाव है कि यह क्षण भर के लिये भी खाली नही रह सकता। अत इसे विचारो से रोकना तो सभव नही है, और ऐसी चेष्टा करना भी निरर्थक है। किन्तु स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रशस्तक्रियाओ मे उलझाए रखने से इसे विषय-वासनाओ की ओर जाने का अवकाश नही मिलेगा और धीरे-धीरे जब यह इन्ही मे रमण करने का अभ्यासी बन जाएगा तो अन्य विषयो की ओर से विरक्त होकर यह आत्म-स्वभाव मे लीन बना रहेगा यानी आत्मा मे स्थिर हो सकेगा।

मन की उलटी गति— जब तक मन पर काबू नही किया जाता तब तक वह उलटा चलता है। आप यह सुनकर आश्चर्य करेंगे और विचार करेंगे कि मन के लिये उलटा और सीधा रास्ता कौन-कोनसा है? इसका उत्तर ध्यान पूर्वक समझने की आवश्यकता है।

जीवन का वह व्यवहार या क्रियाएँ जो आत्मा को कर्म बन्धनो से जकडती हैं वह उल्टा मार्ग है और जो प्रशस्त अथवा शुभ क्रियाएं आत्मा को कर्म-मुक्त करती हैं, वह सीधा मार्ग है। तो मन को जब तक सीधा मार्ग बताया न जाय और उस पर प्रयत्न पूर्वक चलाया न जाय, वह स्वय तो उलटे मार्ग पर ही चलता है। आप और हम सभी जानते हैं कि इन्द्रियो के विषय मे इतना आकर्षण है कि वे सहज ही बिना प्रयत्न के मन को अपनी ओर खीच लेते हैं। और मन स्वत ही उनमे आनन्द का अनुभव करता हुआ उन्ही मे लीन रहता है। स्पष्ट है कि विकार और वासनाओ की पूर्ति जो कि कर्मों के बधनो का कारण है, उलटा मार्ग कहलाता है तथा मन उस मार्ग पर बिना चलाए और बिना प्रयत्न किये ही चलता रहता है। धर्म-क्रियाओ के अथवा शुभ कामो के करने मे तो मन सदा पीछे रहता है किन्तु पाप कार्यों मे बिना कहे भी प्रवृत्त हो जाता है।

होना तो यह चाहिये कि वह धर्म कार्यों मे आगे रहे और पाप कार्यों मे

मे पीछे। किन्तु वैसा न होकर उलटा ही होता है। यानी जो कार्य करने लायक होते हैं, उन्हे तो मन करता नही और जो कार्य नही किये जाने चाहिये, उन्हे करने के लिये बावला रहता है। इस विषय मे शास्त्रकारो ने कहा है कि मन उस हरिण के समान है जो शका करने लायक स्थानो मे तो शका नही करता किन्तु शका न करने वाले स्थान पर आशकित होता है। आपके हृदय मे भी इस बात पर शका होगी कि ऐसा क्यो ? उत्तर मे सूयगडाग सूत्र की एक गाथा आपके सामने रखता हू। गाथा इस प्रकार है—

जविणो मिगा जहा सता, परिताणेण वज्जीया।
असकीयाइ सकन्ती, सकीयाइ असकिणो॥
परियाणियाणि सकता, पासिताणी असकिणो।
अन्नाणभय सविग्गा, समिति तहि तहि॥

गाथा बडे मर्म की है। इसमे भगवान महावीर फरमाते हैं—जविणो मृग अर्थात् वेगवानी हरिण को शिकारी अपने जाल मे फसाने का प्रयत्न करते हैं। वे चारो तरफ जाल डाल देते हैं तथा जहा रास्ता होता है वहा थोडा सा कपडा बिछा देते हैं।

तीव्र गति से भाग कर आने वाला हरिण जो कि बहुत दौड-धूप करने से क्लात हो चुकता है, वह समझ नही पाता कि किधर भाग कर प्राण बचाया जाय। वह जहाँ शका करनी चाहिये वहाँ शका नही करता और जहाँ शका नही करनी चाहिये वहाँ शका करता हुआ शिकारी के पास मे जा फँसता है। नाना प्रयत्न करके भी वह उससे छुटकारा नही पा सकता।

यही हाल मनुष्य का भी है। वह सदा दुनियादारी के प्रपचो मे पडा रहता है। धर्म-कार्य जो कि उसकी आत्मा को पवित्र बनाते है उनसे तो वह दूर रहता है और पाप-कार्य, जो आत्मा को पतन की ओर ले जाते हैं उनमे प्रवृत्त रहता है। खेल-तमाशे, नाटक या सिनेमा आदि देखने के लिये जाने मे तो उसे कोई सकोच नही होता। किन्तु सत महात्माओ की सगति का लाभ उठाने के लिये जाने मे शकित होता है कि लोग कहेगे —"साधु बनने का इरादा है क्या ?" तात्पर्य यह है कि इन्द्रियो की खुराक जुटाने मे तो उसे लज्जा नही आती किन्तु आत्मा की खुराक जुटाने मे वह लज्जित और सकुचित होता है। माया-मोह मे फसे रहने मे उसे कोई झिझक नही होती पर सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध अथवा स्वाध्याय आदि करने मे उसे बडी कठिनाई और झझट महसूस होती है।

यद्यपि हमारे पूर्वजो ने सत्सगति करने की, शास्त्र श्रवण की तथा धर्मोपदेशो को अगीकार करने की परिपाटी कायम की है। किन्तु आज के अधिकाश

व्यक्ति सत मुनिराजो के समीप भी नही फटकना चाहते। वे सोचते हैं—"प्रथम तो सत पूछेंगे, माला फेरते हो? सामायिक करते हो? चिन्तन, मनन, या भजन करते हो? तो उत्तर मे केवल लज्जित होना पड़ेगा। दूसरे अगर उन्होंने इन सवमे से किसी चीज का नियम दिलवा दिया तो उसका पालन करना भी एक मुसीवत हो जाएगी।

ऐसा विचार करता हुआ उनका मन आत्मा का कल्याण करने वाले धर्म मार्ग पर नही चलता और आत्मा को अधोगति की ओर ले जाने वाले पाप मार्ग पर चलता है। दूसरे शब्दो मे धर्म मार्ग पर चलने मे मन सकुचित व शकित होता है किन्तु पाप मार्ग पर निश्शक वढता चला जाता है। धर्म का फल मिलेगा या नही, इस पर चलने से सुख की प्राप्ति होगी या नही इसमे तो उसे शका या सदेह वना रहता है। किन्तु दुनियादारी के पाप मार्ग पर चलने से तुरन्त उमे सुख का अनुभव होता है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

वह दीर्घदृष्टि से गभीरता पूर्वक यह नही सोच पाता है कि इन्द्रियो के विपयो की तृप्ति करने पर जिस सुख का अनुभव होता है, वह सुख सच्चा और स्थायी सुख नही है, केवल सुखाभास और क्षणभगुर है। तथा इसके विपरीत धर्ममार्ग पर चलने से भविष्य मे जो सुख मिलेगा वह शाश्वत तथा अव्यावाध होगा। मन की ऐसी ही विचित्र गति हैं। जिन धार्मिक और पवित्र विचारो को हृदय मे स्थान देने से तथा उनके अनुसार शुभ एव उत्तम क्रियाएँ करने से एक पैसे का भी अपव्यय नही होता उन्हें तो वह अपनाता नही। किन्तु नाटक, सिनेमा एव कदाचार को अपनाने मे वह पैसे का अपव्यय, और शरीर की क्षति भी वर्दाश्त कर लेता है। अपना समस्त चैन, धन और नीद गँवाकर भी वह पापो के वीज वोता है।

इसका कारण यही है, वह दीर्घदृष्टि से अपने भविष्य का विचार नही करता, केवल वर्तमान के सुख को देखता है। उसका मन गम्भीरता पूर्वक यह नही सोचता कि यह जीवन तो क्षणिक है, इसके वीत जाने पर फिर आत्मा का क्या होगा? थोडे से जीवन मे भी पाप-कर्मों की भारी गठरी वाँध लेने पर उस वोझ को कव तक ढोना पडेगा और कितने जन्मो तक इस जीवन के थोडे से सुख के वदले असह्य दुख भोगने पडेंगे?

वधुओ, यह मानव जन्म हमे इसलिये नही मिला है कि हम इसके द्वारा अपने भविष्य को विगाडें और दुखो के सागर मे जा पडें। अगर व्यक्ति ऐसा करता है तो उसका मनुष्य होने के वजाय तो पशु-पक्षी होना ज्यादा अच्छा होता। क्योकि पशु-पक्षी वुद्धिहीन होने के कारण तथा पापो को वढाने वाले

सासारिक साधनो का उपयोग करना न जानने के कारण मनुष्यो की तुलना मे बहुत कम पाप करते हैं। पर मनुष्य ससार की प्रत्येक वस्तु को अपने कर्म-बधन मे सहायक बना लेता है तथा पापो का अबार लगाकर अनन्तकाल के लिये उन मे उलझ जाता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि पशु, पक्षी अथवा अन्य प्राणी बनने की बजाय मनुष्य इसलिए ही मनुष्य बना है कि वह इस जीवन का सर्वोत्तम लाभ उठाए और वह लाभ है आत्मा को कर्म-मुक्त करते हुए उसके असली स्वरूप मे लाना। नियति ने इसीलिए उसे इस पृथ्वी पर मनुष्य बनाकार भेजा है। किसी कवि ने मानव को ताडना देते हुए कहा भी है—

भलाई खल्क के खातिर, तुझे, भेजा था मालिक ने,
मगर अफसोस उलटा ही, चला तू जानकर गोया।
अरे मतिमद अज्ञानी ! जन्म प्रभु भक्ति बिन खोया ॥

क्या कहा है कवि ने ? यही कि—"अरे मूर्ख और अज्ञानी मनुष्य ! तुझे तो भगवान् ने इस ससार मे भलाई करने के लिए भेजा था। मालिक ने सोचा था कि तू इस सर्वोत्तम योनि को प्राप्त करके अपनी आत्मा का भी भला करेगा और अन्य प्राणियो का भी। यानी जिस प्रकार जल मे पडा हुआ जहाज स्वय तैर जाता है तथा अपने आश्रय मे आए हुए प्राणियो को भी सागर पार करा देता है, उसी प्रकार तू भी स्वय सन्मार्ग पर चलकर अपनी आत्मा का कल्याण करेगा तथा अपने सपर्क मे आने वाले अन्य प्राणियो को भी उसी मार्ग पर चलाकर उनके उद्धार मे भी सहायक बनेगा।"

किन्तु खेद की बात है कि तू सब कुछ जानने और समझने की क्षमता रखते हुए भी जानबूझ कर उलटा चला यानी कुमार्ग पर चलने लग गया। भलाई को छोडकर तूने बुराई से गठजोड बाँध लिया और भक्ति को भूलकर आसक्ति मे बध गया। तू भूल गया कि आत्मा का कल्याण करने वाली एक-मात्र भक्ति है—'**भक्ति श्रेयोऽनुबंधिनी।**'

अर्थात्—भक्ति ही मनुष्य के लिये श्रेयस्कर और आत्मा को पावन करने करने वाली है। परमात्मा की भक्ति के अलावा और कोई भी ऐसी वस्तु ससार मे नही है जो आत्मा के मैल को धो सके और उसे कर्म-भार से रहित बना सके। किन्तु उसको अपनाने मे शर्त एक ही है कि उसके साथ-साथ सासारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति नही चल सकती। भक्ति के मार्ग पर चलने वाला आसक्ति के मार्ग पर नही चल सकता और आसक्ति के मार्ग पर चलने वाला भक्त नही बन सकता। भक्ति और आसक्ति का आकडा छत्तीस का होता है।

महात्मा कबीर ने भी कहा है—

जव लग नाता जगत का, तव लग भक्ति न होय।
नाता तोडै, हरि भजै, भक्त कहावै सोय ॥

यानी जव तक मनुष्य का जगत से लगाव रहता है तव तक वह ईश्वर की भक्ति कदापि नही कर सकता। जग से ममत्व त्याग देने पर ही वह सच्चा भक्त वन सकता है। और उसकी भक्ति मे असाधारण शक्ति आ सकती है।

भक्ति की शक्ति—

भक्ति की शक्ति के विषय मे अधिक कहने की आवश्यकता नही है क्योकि हम इतिहास को देखें तो सहज ही मालूम हो जाता है कि किस प्रकार भक्तो ने भगवान् को भी अपने वश मे कर लिया था।

भक्त मीरावाई के विषय मे आज सारा ससार सुन चुका है कि उसने अपनी भक्ति के वल पर निस्सकोच होकर जहर का प्याला पी लिया और भगवान् को स्वय आकर उस जहर को अमृत वनाना पडा। चीर-हरण के समय द्रौपदी ने आपने आपको भगवान् के भरोसे छोड दिया और इसलिए भगवान् को दौडकर उसकी लाज वचानी पडी। भक्त प्रल्हाद को स्वय उसके पिता हिरण्यकश्यप के अत्याचार से अनेक वार वाल-वाल वचाना पडा।

हमारे धर्म ग्रथो में भी ऐसे अनेक उदाहरण भरे पडे हैं, जिनमे भक्तो की शक्ति के विषय मे वताया गया है। कामदेव श्रावक की भक्ति ने उन्हे अनेक सकटो से वचाया। चदनवाला की भक्ति ने हथकडियो और वेडियो को तिनके के समान टूक-टूक कर दिया तथा सेठ सुदर्शन की भक्ति और शील की शक्ति ने सूली को भी सिंहासन बना दिया।

वस्तुत भक्ति मे असीम शक्ति होती है। अगर वह अन्तर्मन से की जाती है। इसके विपरीत अगर व्यक्ति दुनिया को दिखाने के लिये और ससार के द्वारा ख्यातिप्राप्त करने के लिये दिखावटी भक्ति या भक्ति का ढोग करता है तो वह भले ही कुछ काल के लिये लोगो की आँखो मे धूल झोक दे, किन्तु उससे कोई भी शुभ फल प्राप्त नही कर सकता। उलटे उसकी आत्मा पतित हो जाती है और भविष्य मे उसे दुष्परिणाम भोगना पडता है। भक्ति का ढोग करनेवाला व्यक्ति अपने मानव-जन्म का लाभ कभी नही उठा पाता और उसका यह जन्म प्राप्त करना न करना समान हो जाता है।

ऐसे व्यक्ति को तिरस्कृत करते हुए ही किसी पजावी कवि ने कहा है—

कि होया जे जन्म लिया तै, कदर जन्म दा पाया ना।
जिनेश्वर दी भक्ति वाला, सच्चा रग चढाया ना ॥
काम, क्रोध, मद, लोभ लुटेरे, अन्दर घाट मचाई ए।
भेद ए ना दा किसे नूं नाहीं, तै भी पता लगाया ना ॥

कवि का कहना है—अरे मानव ! तेरे मानवजन्म पाने से क्या लाभ हुआ, अर्थात् तूने जन्म लेकर क्या फायदा उठाया जबकि इस जन्म की कद्र नही समझी और अपने मन पर जिन भगवान् की भक्ति का सच्चा रग नहीं चढाया ।'

'क्या तू नही देखता कि तेरे अन्दर सद् विचारो और सद्गुणो को लूटने एव नष्ट कर देने वाले काम, क्रोध, मान, लोभ आदि लुटेरो ने डाका डाल दिया है और भयानक मार-काट मचादी है । यद्यपि अज्ञानी व्यक्ति तो इनके कुकृत्यो को समझ नही पाता और भविष्य मे ये क्या परिणाम लायेंगे, इस भेद को नही समझ सकता । किन्तु बुद्धि और ज्ञान का अधिकारी बनने पर भी तूने इस रहस्य का पता क्यो नही लगाया ? घर मे आग लगी हुई जानकर भी जो व्यक्ति कपट निद्रा मे सोता रहता है । उससे बढकर मूर्ख और कौन होता है ? क्या तू भी ऐसा ही मूर्ख है जो कि इन विकारो और कषायो का आत्मा पर आक्रमण होते हुए देखकर भी चुप बैठा है ? जरा समझ और ध्यानपूर्वक विचार कर कि मुझे क्या करना है और क्या नही—

फिरे भटकता दर-दर वन्दे, खोज अन्दर दी कीती ना,
प्रीतम तेरे कोल सी वसदा, नजर तैनू पर आया नाँ ।
बिना दाग सी चोला मिल्या, दागोदाग लगाए ने,
कभी लगाकर ज्ञान का साबुन, इक वी दाग मिटाया नाँ ।।

कवि आगे कह रहा है—'अरे भोले प्राणी ! तू भगवान की खोज मे दर-दर भटकता रहा । कभी मन्दिर मे गया, कभी मसजिद मे । कभी गिरजाघर गया और कभी गुरुद्वारे मे । कभी तू तीर्थस्थानो मे पहुचा और कभी गगा मे नहाया । इस प्रकार भगवान की खोज मे इधर से उधर घूमता रहा । किन्तु उस प्रभु की खोज तूने अपने अन्दर कभी नही की । कभी यह नही सोचा, वह तो घट-घट मे निवास करता है । जिसकी आत्मा शुद्ध, पवित्र और सरल है ईश्वर का निवास वही है, उससे अलग कोई उसका स्थान नही है ।

इस प्रकार निश्चय ही तेरा आराध्य सदा से तेरे समीप ही रहा है किन्तु तूने उसकी अपने अन्दर खोज नही की अत वह तुझे नजर नही आया । कस्तूरी हिरण की नाभि मे होती है किन्तु वह उसे पाने के लिये इतस्तत दौडता रहता है । ठीक यही हाल तेरा भी हुआ है । और होता भी क्यो नही ? इसका कारण यह है कि तूने अपनी आत्मा को एव अपनी दृष्टि को मलिन बना लिया है, ईश्वर ने तुझे इस ससार मे पूर्णतया दाग रहित शरीर, मन और आत्मा के साथ भेजा था किन्तु तूने कुसस्कारो को तथा दुर्गुणो को ग्रहण करके धीरे-धीरे

उन पर अनेकानेक काले धब्बे लगा लिये हैं और कभी भी उन्हें मिटाने का प्रयत्न नही किया ।

जिस प्रकार साबुन और पानी के द्वारा वस्त्रो पर पडे हुए दाग धुल जाते हैं और वह स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार किये हुए पापो को भी पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त के द्वारा निर्मूल करके आत्मा को पवित्र बनाया जा सकता है । अगर व्यक्ति ज्ञानरूपी साबुन काम मे लेता रहे तथा समय-समय पर विकारो के द्वारा पडे हुए आत्मा के धब्बो को धोने का प्रयत्न करता रहे तो कोई कारण नही है कि वे धुल न सके और आत्मा शुद्ध न बन सके । आगे कहा है—

भले जना दा सग न कीता, जिनवाणी नूँ सुनयां नां,
मानुषते बेअकली कीती, शरण गुरां दी आया ना ।
सतगुरु शिक्षा लीती नाहीं, हीरा जन्म अमोल गया,
मिट्टी विच रुला के हीरा, हीरे नूँ तैं पाया नां ।।

कहते हैं—अरे अबोध ! तूने कभी भले व्यक्तियों की सगति नही की, सदा ही कुसग मे पडा रहा फिर कैसे तुझे आत्म-कल्याण का सही मार्ग मिलता ? कहा भी है—

आप अकारज आपनो, करत कुसगति साथ ।
पाय कुल्हाडा देत है, मूरख अपने हाथ ।।

अर्थ स्पष्ट है कि मूर्ख व्यक्ति कुसगति मे पडकर अपने हाथ से मानो अपने पैर मे ही कुल्हाडी मार लेता है । अर्थात् बुरे व्यक्ति की सगति मे रहने से वह कुविचारो को अपनाता है और स्वभावत कुविचारो के कारण अनाचार का पालन करता हुआ अपनी आत्मा को पापो मे जकडकर अपना ही अहित करता है ।

इसीलिये कवि कहता है—अरे नादान ! तूने न तो कभी सज्जन पुरुषों की सगति की, न कभी भगवान की वाणी का श्रवण किया और न ही कभी सद्गुरु की शरण मे आकर उनसे आत्म हितकारी शिक्षा भी ग्रहण की । इस प्रकार तूने जीवन भर बेअकली ही की है । अगर तुझमे तनिक भी अकल और समझ होती तो तू अपने जीवन को इस प्रकार गुण रहित और दाग-दार नही बनाता । तथा अपने मानव-जन्म रूपी हीरे की कद्र करता । किन्तु तूने तो उस अबोध बालक के समान कार्य किया है, जो हीरे की कद्र न जानने के कारण उससे घडी भर खेलकर मिट्टी मे डाल देता है और भूल जाता है कि हीरे जैसी अमूल्य वस्तु मुझे प्राप्त हुई थी ।

जिस प्रकार हीरा अपनी कीमत पहचान भी जाने पर व्यक्ति को निहाल कर देता है और कद्र दान के अभाव मे मात्र एक ककर बनकर रह जाता है ।

उसी प्रकार जो व्यक्ति मानव-जन्म के महत्त्व को समझ लेता है, वह उससे इतना लाभ उठा लेता है कि पुन कभी जन्म लेने की उसे जरूरत ही नही पडती। किन्तु उसी मनुष्य-जन्म की कीमत न समझने वाला मूर्ख व्यक्ति उससे लाभ उठाना तो दूर उलटे इतने कर्म बाध लेता है कि अनन्तकाल तक पुन पुन जीता और मरता रहता है।

जीवन की सार्थकता

वधुओ, हमे इस वात को कभी नही भूलना चाहिए कि एक मानव-जीवन वृथा चला जाय तो पुन उसका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन हो जाता है। यह नही कहा जा सकता कि पुन इसकी प्राप्ति कब होगी। अतएव ऐसे जन्म को यो ही नष्ट कर देना महान् मूर्खता का लक्षण है। और इसलिये प्रतिपल यह स्मरण रखते हुए कि मृत्यु न जाने किस क्षण आ जायगी हमे जीवन के एक-एक क्षण का लाभ उठा लेना चाहिए।

अव प्रश्न यह है कि जीवन का लाभ किस तरह उठाया जा सकता है अथवा आत्म-कल्याण किस तरह किया जा सकता है? आत्म-कल्याण का अर्थ है आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाना। यह तभी हो सकता है कि मन के विकारो को दूर किया जाय और इन्द्रियो के विषयो से वचा जाय। जो मनुष्य इन्द्रिय-विजयी हो जाता है वह ससार मे रहता हुआ भी सासारिक पदार्थों से उदासीन रहता है तथा अनासक्तभाव से खाना, पीना, पहनना, सुनना और देखना आदि समस्त क्रियाएँ करता है। किसी भी पदार्थ या प्राणी के प्रति उसका राग भाव नही होता। चिकने कर्मों का वन्धन राग और द्वेष की भावना से होता है। अत जो व्यक्ति इनसे वच जाता है वह ससार मे रहते हुए और सासारिक सुख-साधनो का उपभोग करते हुए भी कर्म वधनो से वच जाता है। अतएव आसक्ति, लोलुपता एव वृद्धि का त्याग कर देना ही वास्तव मे आत्म-कल्याण का मार्ग है। इनका त्याग जितनी-जितनी मात्रा मे होता जाता है आत्मा विशुद्ध होती जाती है तथा वह अपने निज स्वरूप को प्राप्त होने लगती है।

इस ससार मे होने वाले समस्त अनर्थो का मूल केवल विपयासक्ति है। विपयो मे ऐसा आकर्पण है कि ज्यो-ज्यो इनका सेवन किया जाता है त्यो-त्यो भोग लालसा वढती चली जाती है। किन्तु महापुरुप अपने कठिन आत्म-सयम के द्वारा इस लिप्सा पर भी विजय प्राप्त कर ही लेते हैं।

'दशवैकालिक सूत्र' मे कहा गया है—

सद्देसु अ रुवेसु अ, गधेसु रसेसु तह य फासेसु।
न वि रज्जइ न वि दुस्सइ, एसा खलु इ वियप्पणिही।

अर्थात्—शब्द, रूप, रस, गध एव स्पर्श मे जिसका चित्त न तो अनुरक्त होता है और न द्वेप करता है, उसी का इन्द्रिय-निग्रह प्रशस्त होता है।

यद्यपि, आसक्ति का त्याग करना चाहिये यह कहना तो सरल है किन्तु इसको व्यवहृत करना वहुत कठिन है। विषयो का सेवन करते जाना और उनमे आसक्त न होना वडी कठिन साधना से ही सभव हो सकता है। क्योकि मधुर और स्वादिष्ट भोजन करने पर भी उसके प्रति राग भाव न होना साधारण वात नही है अत साधक के लिये उचित यही है कि वह राग-भाव पैदा करने वाले आहार का त्याग कर दे। अन्यथा कदम-कदम पर उसे कठिनाई उपस्थित हो सकती है राग और आसक्ति से बचने का प्रयत्न करने पर भी वह भावनाओ के प्रवाह मे वह सकता है और बहुत काल तक की हुई उसकी साधना अल्पकाल मे ही मिट्टी मे मिल सकती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो यह मानव अपने चित्त की भूमि से विपय-लालसा को मूल से ही उखाड डालते हैं वे ही निराकुल होकर परमार्थ की साधना करते हैं और सच्चे सुख का आनन्द उठाते हैं। किन्तु जो व्यक्ति अपने मन पर सयम नही रख पाते तथा उसे अपनी इच्छानुसार चलने देते हैं वे अपने जीवन का अन्त तक भी कोई लाभ नही उठा पाते और उसे निरर्थक कर देते हैं।

इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु के लिये आवश्यक है कि सदा अपने जीवन का निरीक्षण करता रहे और विचार करता रहे कि मुझे क्या करना चाहिये और क्या नही, अन्य व्यक्ति मुझमे क्या क्या दोष देख रहे है और मै उनके निवारण का प्रयत्न कर रहा हूँ या नही ? इस प्रकार सम्यक् रीति से अपने दोपो को देखने वाला व्यक्ति निश्चय ही भविष्य मे ऐसा कोई कार्य नही करता, जिससे उसकी आत्मा का अहित होता हो वह कभी यह नही भूलता कि मनुष्य जन्म ही वह द्वार है जिसमे प्रवेश करके अपने लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् मुक्ति महल मे पहुचा जा सकता है।

जिस मानव ने अपनी आत्मा को कर्म-मुक्त करने का पवित्र उद्देश्य वना लिया है वह कभी भी ससार के प्रपचो में पडकर, विषय वासनाओ के आधीन होकर और भोगोपभोगो मे आसक्त होकर अपने जीवन को निष्फल नही बनाता। वह पूर्ण समभाव धारण करके ससार के समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझता हुआ कपायो और विकारो से अपनी आत्मा की रक्षा करता है तथा अपने अनमोल जीवन का लाभ उठाता है। ऐसा धर्म परायण व्यक्ति वीतराग की वाणी को न केवल सुनता है अपितु उसकी सहायता से अपने जीवन को निखारता है, आत्मा को विशुद्ध वनाता है और अन्त मे परमात्मपद की प्राप्ति करके अक्षय एव अव्यावाध सुख को हासिल कर लेता है।

१६ शास्त्रं सर्वत्रगं चक्षुः

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

मनुष्य जीवन मे चातुर्य लाने के लिए कई साधन हैं, किन्तु उनमे से सर्व प्रथम साधन है—शास्त्रो का अध्ययन। शास्त्र किसे कहते है, इस विषय मे कहा गया है—

'शासयति जनान् इति शास्त्रम्।'

अर्थात्—जो लोगो पर शासन करे अथवा उन्हे हुक्म दे वह शास्त्र है।

शास्त्राज्ञा क्या है ?

प्रश्न होता है कि शास्त्र किस प्रकार लोगो पर शासन करता है, और उन्हे क्या आज्ञा देता है ? वह कहता है—

धर्मं चर अधर्मं मा कुरु।
सत्यं वद् असत्य मा ब्रूहि।

यानी—धर्म का आचरण करो, अधर्म का आचरण मत करो। सत्य बोलो, असत्य मत बोलो।

इस प्रकार विधि और निषेध दोनो का ही शास्त्रो मे विधान है। वह करने योग्य कार्य के लिए आज्ञा देता है और न करने योग्य का निषेध करता है। आत्म-कल्याण के लिये जो पथ्य है अर्थात् आवश्यक है उसे करने के लिए कहना और जो उसके लिए कुपथ्य है यानी त्याज्य है, उसे त्याग करने की आज्ञा देना शास्त्र का कार्य है। वह बताता है कि किन कारणो से आत्मा बँधती है और किन कारणो से बधन मुक्त होती है।

जिस प्रकार वैद्यक-शास्त्र शरीर मे होने वाली बीमारी के समय रोग को बढाने वाली वस्तुओ का त्याग एव रोग को घटाने वाली वस्तुओ का उपभोग करने की आज्ञा देता है उसीप्रकार आध्यात्मिक शास्त्र आत्मा को हानि पहुँचाने वाले उपायो का त्याग और उसे लाभ पहुचाने वाले उपायो का प्रयोग करने की प्रेरणा देता है। कहा भी है—

यस्माद् रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे।
सत्रायते च दुखा-च्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भि ॥

—प्रशमरति १८७

अर्थ है—राग-द्वेष से उद्धत चित्त वालो को धर्म मे अनुशासित करता है एव उन्हे दुख से बचाता है, अतएव वह सत्पुरुषो के द्वारा शास्त्र कहलाता है।

शास्त्र शब्द मे दो धातुएँ मिली हुई हैं—'शाशु और 'त्रेङ्'। इनका क्रमश अर्थ है- अनुशासन करना और रक्षा करना। शास्त्र मनुष्य की आत्मा को मलिन होने से बचाने के लिये अनेक उपयोगी कार्यों को करने की आज्ञा देकर मनुष्य पर शासन करता है और उसे विषय-विकारो से बचाकर अध पतन की ओर ले जाने से बचाता है। शास्त्र वह चीज है जो मनुष्य का अतर और बाह्य ही नही, वरन् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अवलोकन करने की क्षमता रखता है। कहा भी है—

शास्त्र सर्वत्रग चक्षु।

शास्त्र सभी स्थानो पर पहुँचाने वाली आँख है।

जिस प्रकार हम और आप अपने नेत्रो से भौतिक पदार्थों को देखते हैं, उसी प्रकार शास्त्र रूपी नेत्र से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बध तथा मोक्ष आदि सभी को देखा जाता है यानो सभी का अध्ययन किया जाता है। और इसीलिये उसे सम्पूर्ण स्थानो पर पहुँचाने वाला नेत्र बताया गया है।

आपके मन मे विचार आएगा कि ऐसा कैसे सभव हो सकता है? पहाड के पीछे, दीवाल के पीछे, परदे के पीछे क्या है, यह शास्त्र कैसे जान सकता है? पर बधुओ, अवधिज्ञान, मन पर्यय एव केवलज्ञान जिन्हे हो जाता है वे इस लोक की वस्तुओ को तो क्या, तीनो लोको की वस्तुओ को देख लेते हैं। नरक और स्वर्ग मे क्या हो रहा है इसे भी वे जान लेते हैं। आनन्द श्रावक का अवधिज्ञान हुआ था तो वे देख लेते थे कि स्वर्ग और नरक मे क्या हो रहा है। ऐसा मूल पाठ शास्त्रो मे है। तो यह कृपा शास्त्रो की ही है। शास्त्र-ज्ञान के अभाव मे ऐसा विलक्षण ज्ञान प्राप्त होना कदापि सभव नही है।

यहाँ एक प्रश्न और उठ सकता है कि हमारे यहा शास्त्र तो अनेक हैं जैसे व्याकरणशास्त्र, न्यायशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र तथा वैद्यकशास्त्र आदि। तो क्या इनमे से किसी का भी अध्ययन कर लेने से गभीर ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। और आत्मकल्याण हो सकता है।? नही, सभी शास्त्र समान फल प्रदान नही कर सकते। व्याकरण शास्त्र शब्दो की शुद्धि करके भाषा को

निर्दोष और सुन्दर बनाता है, न्यायशास्त्र बुद्धि को तीक्ष्ण बनाता है, ज्योतिष शास्त्र यहा बैठे-बैठे बता देता है कि सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण कब होगा तथा साहित्य शास्त्र कहता है—इस प्रकार बोलो और इस प्रकार शब्दो का प्रयोग करके भाषा को अलकारमय बनाकर सुन्दरता प्रदान करो ।

पर भाइयो ! ये सभी शास्त्र हमे इह-लौकिक सफलता ही प्रदान कर सकते हैं तथा हमारे इस जीवन को ही भिन्न-भिन्न प्रकार से सवार सकते हैं, किन्तु इनमे कोई भी हमारे परलोक को नही सुधार सकता तथा आत्मा का कल्याण नही कर सकता । इस दृष्टि से केवल आध्यात्मिक शास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जो यह बताता है कि आत्म उद्धार कैसे होता है, और आत्मा पापो से लिप्त कैसे होती है ? इसके अलावा केवल इतनी जानकारी देकर ही यह चुप नही हो जाता वरन् यह भी बताता है कि पापो से छुटकारा कैसे मिलता है । ? कैसी साधना कर्मों का नाश करती है, और उस साधना का किस प्रकार अभ्यास किया जाता है ? शास्त्र ही हमे बताता है कि दान, शील, तप और भाव रूप धर्म की आराधना करने से आत्मा विशुद्ध बनती है ।

जैन शास्त्र धर्म के इन चार मुख्य रूपो मे भावना को बहुत महत्त्व देते हैं, यो तो चारो ही धर्म के अग हैं । किन्तु भाव रूप मे धर्म, प्राण के समान माना गया है । जिस प्रकार शरीर का महत्त्व प्राणो से ही है, जब तक प्राण विद्यमान हैं शरीर टिका रहता है तथा उससे लाभ उठाया जा सकता है, उसीप्रकार भाव के होने पर ही दानादि धर्म फलप्रद बनते हैं । कहा भी है—

यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या ।

यानी भाव के अभाव मे केवल शरीर से की जाने वाली क्रियाएँ निष्फल साबित होती हैं ।

आध्यात्मिक शास्त्रो मे भावना को लेश्या का नाम दिया गया है तथा उसका बडा विशद और गूढ विवेचन किया है । प्रसग आ जाने मे सक्षेप मे आपको लेश्या के विषय मे बता रहा हूँ । लेश्या के छ भेद हैं—

(१) कृष्ण लेश्या (१) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीत लेश्या (५) पद्म लेश्या तथा (६) शुक्ल लेश्या ।

इन छहो मे से प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ निष्कृष्ट होती है और अतिम तीनो श्रेष्ठ । किन्तु पहली से लेकर छठी तक ये क्रमश' एक दूसरी से श्रेष्ठ होती जाती हैं । अर्थात् कृष्ण की अपेक्षा नील, नील की अपेक्षा कपोत, कपोत की अपेक्षा पीत, पीत की अपेक्षा पद्म और पद्म की अपेक्षा शुक्ल लेश्या श्रेष्ठ और विशुद्ध होती है ।

इनकी तरतमता को भलीभाति समझाने के लिये शास्त्रो मे उदाहरण भी दिया गया है। वह इस प्रकार है।

एक वार छ व्यक्ति एक आम के वगीचे मे पहुँचे। आमो से लदे एक वृक्ष को देखकर उनकी इच्छा आम खाने की हो गई। अत. उनमे से एक वोला— "भाइयो! अगर इस आम्र-वृक्ष को हम जड से काट ले तो इच्छानुसार भर पेट आम खा सकते हैं।" उस पुरुष की इस निकृष्ट भावना को कृष्ण लेश्या कहा जा सकता है।

उन व्यक्तियो मे से दूसरा वोला—'अरे, वृक्ष को मूल से मत काटो, जिस डाल मे अधिक आम लगे हैं उसी को काटकर नीचे गिरा लो तो हमारा सवका काम वन जायेगा और हम भरपेट आम खा लेंगे।," इस द्वितीय पुरुष की भावना भी यद्यपि निकृष्ट थी किन्तु पहले व्यक्ति की अपेक्षा विशुद्ध होने से नील लेश्या कही जा सकती है।

अव छहो मे से तीसरा व्यक्ति वोला—"अरे! इतनी मोटी और पूरी की पूरी शाखा काटने से क्या लाभ है? केवल वही टहनियाँ काटो जिनमे आम लगे हुए हैं।" तीसरे व्यक्ति की यह भावना दूसरे की अपेक्षा अधिक शुद्ध है अत उसे कापोत लेश्या कहा गया है।

चौथा व्यक्ति वोला—"भाइयो! वृक्ष की टहनियाँ भी व्यर्थ काटने से क्या फायदा? हमें फल ही तो खाने हैं अत पत्थर मार-मार कर फल ही न गिरा ले? पके-पके हम सव खा लेंगे और कच्चे-कच्चे छोड देंगे।" इस चौथे पुरुप की विचारधारा तीसरे से कुछ श्रेष्ठ है अत उसे पीत लेश्या कहा है।

अव पाँचवे व्यक्ति की वारी आई। उसने कहा—"जव हमे कच्चे फलो को नही खाना है तो उन्हे व्यर्थ गिराने से क्या लाभ होगा? अच्छा हो कि हम सावधानी से केवल पके-पके आम ही गिराएँ और उन्हे खालें।" इस पुरुप की भावना काफी विशुद्ध रही अत वह पद्म लेश्या कहलाई।

छठा व्यक्ति अभी चुपचाप वैठा सभी की वातें सुन रहा था। अव वह वोला—"वृक्ष को काटना या उस पर पत्थर मार-मार कच्चे-पक्के फलो को गिरा लेना ठीक नही है। सवसे अच्छा यही है कि कुछ देर इस वृक्ष के नीचे वैठकर प्रतीक्षा करो और जो पके फल स्वय गिरें उन्हे सेवन करो।" छठे व्यक्ति की यह भावना सर्वश्रेष्ठ है। इससे सावित होता है कि वह व्यक्ति अपने पेट भरने के लिए अन्य किसी को तनिक भी कष्ट पहुचाना नही चाहता। उसकी इस सुन्दर और करुणामय भावना को शुक्ल-लेश्या कहा गया है।

कृष्ण-लेश्या रखने वाला यानी सवसे निकृष्ट भावना रखने वाला व्यक्ति जिस प्रकार वृक्ष को मूल से काट देना चाहता था, उससे स्पष्ट हो जाता है

कि वह समय पडने पर अपने थोडे से स्वार्थ के लिए भी किसी की बडी से वडी हानि करने से नही चूकता, किन्तु सबसे विशुद्ध और शुक्ल-लेश्या र वाला व्यक्ति किसी भी प्राणी को रचमात्र भी कष्ट दिये बिना अपना जीव यापन करता चला जाता है। परिणाम स्वरूप कृष्ण-लेश्या वाला व्यक्ति नरको की यातनाएँ भोगता है और शुक्ल-लेश्या रखने वाला व्यक्ति स्वर्ग सुखो का उपभोग करता है।

हम प्राय देखते है कि व्यक्ति निरर्थक ही अपनी भावनाओ को अ और कलुपित वना लेते हैं। जवकि उन भावनाओ के होने से उनका क लाभ नही होता और न होने से कोई हानि नही होती। उदाहरणस्वरूप क उदार श्रीमान् खुले हाथो से दान देता है तथा द्वार पर आए हुए प्रत्ये याचक को सतुष्ट करके भेजता है किन्तु उसका मुनीम सेठ को धन देते हु देखकर कुढता है और जलता रहता है। मौका मिलने पर लेने वालो क तिरस्कृत करने से भी नही चूकता।

गभीरता पूर्वक सोचने की बात है कि सेठ जो धन दूसरो को देता उससे मुनीम को कौन सा घाटा जाता है और अगर न दे तो उसे क्या ला हासिल होता है? कुछ भी नही, फिर भी वह दान देते हुए मालिक को देख कर अपनी भावनाओ को विकृत वनाकर अपने अन्तराय कर्मों का बधन क लेता है। इसीप्रकार व्यक्ति औरो का बुरा सोचता रहता है, पर उस सोचने से क्या दूसरो का बुरा हो जाता है? उसका अहित या बुरा होना होना तो उनके भाग्य पर निर्भर होता है किन्तु बुरा सोचनेवाले व्यक्ति क बुरी भावनाओ से स्वय उसका बुरा तो हो ही जाता है। इससे स्पष्ट है कि मनुज्य को अपनी भावनाओ को सदा सात्विक और पवित्र रखना चाहिए। निरर्थक बुरे विचार व्यक्ति के जीवन के लिए घातक होते हैं।

इसीलिए शास्त्र मे हमे अपनी भावनाओ को शुद्ध रखने का, समभाव मे रमण करने का तथा अनासक्त भाव वनाए रखने का आदेश देते है। अगर व्यक्ति इनका महत्त्व समझ लेता है तो वह चाहे गरीवी मे जीवन गुजारे या वैभव मे लोट-पोट होता रहे, अपनी आत्मा को निश्चय ही विशुद्ध वना लेता है। भगवान् ऋपभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती के विपय मे आपने अनेक वार सुना और पढा भी होगा कि असीम ऋद्धि के स्वामी होते हुए भी उन्हे अपनी भावनाओ के वल पर केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई थी। उनके विपय मे एक श्लोक कहा गया है—

पट्खण्डराज्ये भरतो निमग्न—
स्ताम्बूलवक्त्र सविभूपणश्च।

आदर्शहर्म्ये जटिते सुरत्नै—
ज्ञान स लेभे वरभावतोऽत्र ॥

अर्थात्—महाराज भरत छ खण्ड के अधिपति थे। उनके मुख में सदा पान का वीडा रहता था और शरीर बहुमूल्य आभूषणो से विभूपित रहता था। सुन्दर-सुन्दर रत्नो से जटिल महल मे वे निवास करते थे, फिर भी उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

ऐसा क्यो और किसके प्रभाव से हुआ ? केवल उनके सुन्दर विचारो से ही तो। उनके हृदय मे अनासक्ति की भावना अत्यन्त प्रवल थी और चक्रवर्ती होकर भी वे सदैव समभाव मे रमण किया करते थे। इसीलिए जो परम लाभ घोरतर तपस्या से भी उपलब्ध होना कठिन होता है वह उन्हे विना तपस्या किये महल मे वैठे ही प्राप्त हो गया।

वस्तुतः शुद्ध एव अनासक्त विचार जीवन पर वडा भारी प्रभाव डालते हैं तथा आत्म-कल्याणकारी वनते हैं। अतएव शास्त्र का आदेश मानते हुए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह कुविचारो को विपधर नाग के समान समझकर उनका त्याग करे। नाग तो फिर भी डस लेने पर केवल एक ही जीवन का अन्त करता है, किन्तु दूषित विचारो के नाग डस लेने पर अनेक जन्मो तक अपने विष का प्रभाव वनाये रखते हैं। इसके कारण ही जीव पुन पुन॰ जन्म लेता है और मरता है। इनसे वचने के लिए हमे शास्त्रो का अध्ययन करना और उसमे वताए हुए निर्देशो को अपने जीवन मे उतारना चाहिये।

वैष्णव धर्म-ग्रथो मे श्रुति और स्मृति, दो प्रकार के शास्त्र आते है। श्रुति मे आते हैं उपनिषद्, जो तात्विक ज्ञान प्रदान करते हैं और स्मृति मे स्मरण रखने वाली वातो का निर्देशन होता है जिन्हें जानकर मनुष्य यह समझ सकता है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। हमारे जैन शास्त्र यही विषय ज्ञान-क्रिया के रूप मे वताते हैं। तो श्रुति और स्मृति अथवा ज्ञान और क्रिया दोनो को ही जीवन मे उतारना आवश्यक है।

कुछ व्यक्ति कहते हैं—व्यवहार मे क्या रखा है असली चीज तो मन की शुद्धि है। अगर हमारा मन ठीक है तो हमारी आत्मा का कल्याण हो ही जाएगा। ऐसा कहने वाले वडी भारी भूल करते हैं। उन्हे जानना चाहिए कि केवल किसी वस्तु का ज्ञान मात्र हो जाने से ही वह लाभदायक नही वन जाती। उदाहरण स्वरूप आपके रसोई घर मे क्या-क्या वना है, कितना वना है और उनमे से खट्टी, मीठी तथा चरपरी चीजें कौन-कौन सी हैं इसकी जानकारी कर लेने से ही कभी पेट नही भरता। पेट तभी भरेगा जवकि उन्हे हाथों से उठाकर मुँह मे डाला जायेगा और उदरस्थ किया जायेगा। इसी प्रकार दान,

शील, तप, दया, अहिंसा, सत्य तथा क्षमा आदि समस्त सद्गुणो का ज्ञान कर लेने से और उनकी विशेपताओ को जान लेने से ही उनका शुभ फल नही मिलेगा अपितु उन्हें अपने व्यवहार मे उतारने पर उनका लाभ, पुण्योपार्जन या कर्मों की निर्जरा के रूप मे मिल सकेगा। हम मानते हैं कि मन की पवित्रता और उसमे रहे हुये सुन्दर विचार श्रेष्ठ हैं। किन्तु उन्हे उपभोग मे न लाने पर उनका लाभ कैसे हासिल हो सकता है? जिस प्रकार तिजोरी मे रखा हुआ धन जो सदा ताले मे वद रहता है। उसे खर्च नही किया जाता, व्यवसाय मे नही लगाया जाता या व्याज पर नही दिया जाता तो वह अपना उत्तम फल कैसे प्रदान कर सकता है?

एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी कहा है—

"Wahlth is not his that has it, but his that enjoys it"

—फ्रैंकलिन

धन उसका नही है, जिसके पास है वल्कि उसका है जो उसका उपयोग करता है।

वास्तव मे ही यह कथन विलकुल सत्य है। धन उसी के लिए लाभदायक है जो उसका उपयोग दान देने मे, दीन-दुखियो के अभावो को दूर करने मे, ज्ञान प्राप्ति की सस्थाओ का निर्माण करने मे अथवा ऐसे ही उत्तम कार्यों मे करता है। शुभ कार्यों मे लगाया हुआ धन पुण्य रूपी फल के रूप मे उसे पुन मिलता है। पर गाडकर रखा हुआ अथवा ताले मे वद किया हुआ धन व्यक्ति के लिये सर्वथा निरर्थक सावित होता है। उसे कभी कोई छीन लेता है, चोर चुरा ले जाते हैं और अगर ऐसा न हुआ हो तो फिर व्यक्ति के मरने पर स्वय ही यही छूट जाता है। अत उसे सदुपयोग मे लेना चाहिए ऐसा शास्त्र कहते हैं—

लक्ष्मी कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते,
प्रीतिश्चुम्वति सेवते सुभगता नीरोगताऽऽलिंगति।
श्रेय ससृतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थिति,
मुक्तिर्वाञ्छति य प्रयच्छति पुमान् पुण्यार्थमर्थंनिजम्॥

अर्थात्—जो पुरुप श्रेयस्कर कार्यो मे अपने धन का व्यय करता है, उसे स्वय लक्ष्मी चाहती है, सद्बुद्धि खोजती फिरती है, कीर्ति उसकी ओर टकटकी लगाये रहती है, प्रीति उसका चुम्वन करती है, सुभगता उसकी सेवा करती है, नीरोगता उसका आलिगन करती है, कल्याण परस्पर उसके सम्मुख आता है, स्वर्ग के उपभोग की स्थिति उसका वरण करती है और मुक्ति उसकी अभिलापा करती है।

इतने उत्तम फलो की प्राप्ति व्यक्ति को तभी होती है जबकि वह अपने धन का पहले सदुपयोग करता है तथा उसे उत्तम कार्यों मे व्यय करता है। अगर वह ऐसा न करे तो वह धन उसको कोई लाभ नही पहुँचा सकता।

बघुओ, प्रसगवश धनके विषय मे काफी बता दिया गया है। अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार का सदुपयोग करने पर वह अनेक उत्तम फल प्रदान करता है, उसीप्रकार मन में रहे हुए ज्ञान और उत्तम विचार भी क्रियान्वित करने पर ही फल प्रदान करते हैं अन्यथा तिजोरी मे रखे हुए धन के समान वे भी व्यक्ति के लिए सर्वथा निरर्थक साबित होते हैं।

अब हमारे सामने दूसरी बात आती है व्यवहार अथवा क्रिया की। कुछ व्यक्ति कहते हैं 'मन मे कुछ भी रहे उससे क्या आता-जाता है? ऊपरी व्यवहार ठीक होना चाहिये।'

उनकी यह बात भी ठीक नही है। मन मे कपट रखते हुए किसी स्वार्थवश दूसरे से प्रेम का व्यवहार रचना, दुनिया मे पूजनीय बनने के लिये भगवान् की भक्ति एव पूजा-पाठ का ढोंग करना तथा अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति को देखकर मन मे ईर्ष्या, जलन और उसकी अवनति की भावना रखते हुए उसकी झूठी सराहना करना, ये सब क्रियायें अर्थात् प्रेम, भक्ति, पूजा या प्रशसा जो कि मन से न की जाकर केवल शरीर से की जाती हैं उनका क्या महत्त्व है? कुछ भी नही। शरीर की क्रिया के साथ-साथ जब तक मन की भावनाएँ भी न जुडी हो तब तक कोई क्रिया फलवती नही हो सकती। कहा भी है—

"दान - शील - तप सम्यग्भावेन भजते फलम्।"

भावना पूर्वक किया जाने वाला दान, शील और तप ही अपना श्रेष्ठ फल प्रदान करता है।

अभी मैंने आपको बताया भी था कि शरीर मे जिस प्रकार प्राणो का महत्त्व है, उसीप्रकार दान, शील एव तप के लिये भावना का महत्त्व है। इसके अभाव मे ये सब निष्फल साबित होते हैं।

यह तो स्पष्ट साबित होता है कि हमारे जीवन मे ज्ञान और क्रिया दोनो का ही समान उपयोग होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे निश्चय और व्यवहार दोनो ही जीवन मे उतरने चाहिए। आपने एक अघे और एक लगडे की कहानी सुनी होगी। एक बार जबकि वे एक जगल मे थे वहाँ आग लग गई। दोनो को जान बचाने की पडी। किन्तु अधा देख नही पाता था इसलिये चलने मे असमर्थ था और लगडा यद्यपि देख तो सकता था किन्तु चल नही पाता था। अतएव दोनो बडी कठिनाई मे पड गये और उधर दावाग्नि बढने लगी। पर अचानक ही उन्हें एक उपाय जान बचाने का सूझ गया और उनके

अनुसार लगडा अधे के कधे पर बैठकर मार्ग बताने लगा और उसके सकेत पर अधा चल पडा। परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे दोनो सुरक्षित स्थान पर पहुच गए।

बधुओ, निश्चय और व्यवहार अथवा ज्ञान तथा क्रिया का भी यही हाल है। ज्ञान यद्यपि देख सकता है, अनुभव कर सकता है किन्तु वह केवल जानने समझने वाला है, स्वय क्रियात्मक रूप धारण नही कर सकता। और क्रिया कार्य सम्पन्न कर सकती है पर वह उचित अनुचित का ज्ञान नही कर सकती अत निष्फल साबित हो जाती है। बिना ज्ञान के कार्य करना बालू मे से तेल निकालने और पानी को बिलोकर मक्खन पाने की आकाक्षा करने के समान हो जाता है। सक्षेप मे ज्ञान लगडा होता है और क्रिया अधी। अलग-अलग रहकर ये दोनों ही मानव-जीवन को सफल नही बना सकते। मानव का जीवन तभी सफल बन सकता है, जबकि मनुष्य ज्ञान के द्वारा सही मार्ग को समझे और क्रिया के द्वारा उस पर चले। इन दोनो के सुमेल से ही वह आत्म-उत्थान के सही पथ पर बढ सकता है।

यही बात श्रुति शास्त्र और स्मृति शास्त्र बताते हैं। आवश्यक है उनका अध्ययन और उन पर मनन करना अथा सतो के द्वारा जिनवाणी का श्रवण करना। जो व्यक्ति सद्गुरु की सगत नही करता और उनके उपदेशो पर अमल नही करता वह अज्ञानी व्यक्ति न ज्ञान ही हासिल कर पाता है, और न अपना आचरण ही शुद्ध बना सकता है। सत-जीवन तो स्वय ही एक खुली हुई पुस्तक के समान होता है जिसका अवलोकन करके भी व्यक्ति कुछ न कुछ हासिल कर सकता है।

मराठी भाषा मे एक प्रश्न और उसका उत्तर दिया गया है—

सताप हा शात कशा प्रकारे ?
सता पहा शात कशा प्रकारे !

पहली लाइन मे किसी पण्डित ने पूछा है—'हाय ! मेरा सताप किस प्रकार शात होगा ?' उत्तर अगली लाइन मे बडे सुन्दर तरीके से उन्ही शब्दो मे समझाया है—'सतो को 'पहा' यानी देखो, वे किस प्रकार शात रहते हैं।'

अभिप्राय यही है कि दुख और सताप तब तक कम नहीं होते, जब तक कि शान्ति धारण न करली जाय। कष्ट के समय हाय-हाय करने मे और आर्त ध्यान करने से उस समय भी दुख कम नहीं होता और कर्म-बधन हो जाने से भविष्य मे भी दुख उठाना पडता है। किन्तु जो व्यक्ति पीडा और सताप को शाति मे सहन करते हैं वे उस समय भी अपने मन की व्याकुलता मे बच जाते हैं और भविष्य के लिए निर्भय हो जाते हैं।

स्कदक ऋषि के शरीर की चमडी उतार ली गई पर वे पूर्णतया शाति से कष्ट को सहन करते रहे और मुनि गजसुकुमाल ने सिर पर धधकते अगारे रख दिये तब भी वे पूर्ववत शात रहे। क्या उनके शरीर को उस समय सताप नही हुआ होगा ? अवश्य ही हुआ होगा किन्तु समभाव रखने की उनमे वडी भारी शक्ति थी जो सतो मे पाई जाती है।

वहुत समय पहले की वात है कि किसी शहर मे एक सत सेवाराम रहते थे। उनकी ख्याति से जलकर एक दुष्ट व्यक्ति ने उसे चोरी के झूठे इलजाम मे पकडवा दिया। राज्य के कर्मचारियो ने उन्हे चोरी के अपराध को कवूल करने का आदेश दिया किन्तु झूठे अपराध को वे कैसे कवूल करते ? उन्होने स्पष्ट इनकार कर दिया।

इस पर पुलिस आफीसर ने उन्हें कोडे से पीटने की आज्ञा दी और उनके शरीर पर कोडे वरसने लगे। किन्तु वृद्ध महात्मा पूर्ववत शाति से और अपनी मधुर मुस्कान के साथ कोडो की मार सहते रहे। अत मे तग आकर राज्याधिकारियो ने उन्हे छोड दिया।

सत का शरीर लहूलुहान हो रहा था और यह देखकर कई व्यक्ति उनके पास दौडे आए और उनका उपचार करने लगे। उन्होने आश्चर्य से देखा कि महात्माजी के चेहरे पर दु:ख या सताप के कारण एक शिकन भी नही पडी है और वह प्रसन्नता से खिला हुआ है।

एक व्यक्ति से नही रहा गया अत उसने कहा—"भगवन् ! आप इतने वृद्ध और दुर्वल हैं फिर भी इतनी कडी मार को कैसे सहन करते रहे ?"

महात्माजी ने उत्तर दिया—"भाई, सताप को शाति से सहन किया जाता है। मेरे मन मे असीम शांति है अत मुझे तनिक भी दु:ख महसूस नही हुआ।"

तात्पर्य यही है कि सत जीवन से ही व्यक्ति को समभाव की शिक्षा मिलती है और उनके सदुपदेशो से शास्त्रो मे रहा हुआ गूढ-ज्ञान हासिल होता है। जो व्यक्ति शास्त्र-श्रवण एव उसका अध्ययन करने मे रुचि रखते हैं उन्हे दोहरा लाभ प्राप्त होता है। आप सोचेगे ऐसा क्यो ? उत्तर मे कहा जा सकता है कि शास्त्र के पठन-पाठन मे रुचि रखने से प्रथम तो व्यक्ति सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करता है, जीवन और जगत के रहस्य को जान लेता है। दूसरे उसका वह समय सुन्दर ढग से व्यतीत होता है।

सस्कृत के एक श्लोक मे कहा भी गया है—

काव्यशास्त्रविनोदेन, कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन तु मूर्खाणाम्, निद्रया कलहेन वा।

बुद्धिमान व्यक्तियो का समय काव्य एव शास्त्र से विनोद करते हुए बडे उत्तम तरीके से बीतता है तथा मूर्खो का व्यसनो मे, झगडो मे या निद्रा लेने मे निरर्थक चला जाता है।

काव्य के विषय मे कहा है--'कवेर्भाव काव्यम्।' कवि के जो भाव बाहर आते हैं वही 'काव्य' कहलाता है। कवि का समग्र जीवन उपकार से भरा हुआ होता है। वह गिरे हुए उत्साह को उठाता है, रोती हुई आँखो के अश्रु सुखाता है, निराश प्राणियो के समक्ष आशा का दिव्य चित्र खीचता है, सोई हुई जाति को जगाता है तथा मरे हुए देश मे भी पुनर्जीवन भर देता है। इस प्रकार वह दिलो को जीतता हुआ सबका प्रिय बन जाता है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक प्रेमचन्द जी ने एक स्थान पर लिखा है—

''कवि वह सपेरा है, जिसकी पिटारी मे सर्पो के स्थान पर हृदय बन्द रहते हैं।''

कवियो की विशेषता यही है कि वे गभीर और शिक्षाप्रद बातो को भी बडे मनोरजक ढग से जगत के सामने रखते हैं। इसीलिये उनकी बात का प्रभाव लोगो पर अधिक पडता है। अभी अभी मैंने आपके सामने मराठी भाषा की दो लाइनें रखी थी—

सताप हा शात कशा प्रकारे?
सता पहा शात कशा प्रकारे।

देखिये, दोनो लाइनो मे वे ही शब्द हैं, उनमे से कोई भी बदला नही गया है किन्तु कवि की चतुराई से दो दोनो का अर्थ अत्यन्त मनोरजक तरीके से बदल गया है जिसे मैं बतला चुका हू। वे कवि ही होते हैं जो अपने काव्य द्वारा सरस ढग से अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मनुष्य को प्रदान करते हैं। कवि की महत्ता बताते हुए कहा गया है—

कविर्मनीषी परिभू स्वयभू।
यथातथ्यतोर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्य. समाभ्य।

—ईशावास्योपनिषद्

कवि मन का स्वामी, विश्व प्रेम से भरा हुआ, आत्मनिष्ठ यथार्थभाषी और शाश्वत काल पर दृष्टि रखने वाला होता है।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि ससार को विनोद ही विनोद मे अनेक प्रकार की शिक्षाएँ प्रदान करने वाले कवियो के काव्य द्वारा बुद्धिमान् व्यक्ति अपना समय सुन्दर ढग मे बिताते हैं। तथा उनसे कुछ न कुछ हासिल करते

हैं। साथ ही शास्त्र का अध्ययन, चिंतन और मनन करते हुए अपनी आत्मा को शुद्ध एव सुन्दर विचारो से परिपूर्ण बनाते हैं। इसीलिये श्लोक मे कहा गया है— **काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।'**

यह तो बुद्धिमानो के समय व्यतीत करने की बात हुई। पर मूर्खों का समय कैसे बीतता है यह भी श्लोक मे आगे बताया है--**'व्यसनेन तु मूर्खाणाम् निद्रया कलहेन वा ।'**

अर्थात मूर्ख व्यक्तियो का समय जुआ खेलने, शराब पीने, या अन्य ऐसे ही व्यसनो मे गुजरता है। किन्तु सारा समय जब उसमे भी नही बीतता तो वे अपने परिवार के सदस्यो से, पडौसियो से अथवा मित्रो से किसी न किसी बहाने उलझ पडते हैं और व्यर्थ के झगडे खडे कर लेते हैं। पर झगडे भी सारे दिन नही किये जाते और समय बचता हैं तो फिर क्या किया जाय ? जैसा कि श्लोक मे बताया गया है, आराम से सो जाते हैं । बस इसीप्रकार व्यसन मे, कलह मे अथवा निद्रा लेने मे धीरे-धीरे उनका अनमोल जीवन समाप्त हो जाता है और वे जैसे इस ससार मे आते हैं उसी प्रकार खाली हाथ चल देते हैं। वे परलोक के लिये कुछ भी नही कर पाते, उलटे पाप-कर्मों का बधन कर लेते हैं जो भविष्य मे उन्हे अनेक जन्मो तक कष्ट पहुचाने का कारण बनते हैं।

इसीलिये बधुओ, हमे चेत जाना चाहिये तथा मूर्खों के समान व्यसन, कलह और निद्रा मे ही अपना अमूल्य समय गँवाकर काव्य और शास्त्र के पठन-पाठन मे लगाना चाहिये। ऐसा करने पर ही हमे हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञान हो सकेगा। अर्थात् जीवन के लिये क्या-क्या हेय होने के कारण छोडने योग्य है, क्या जानने योग्य है और क्या उपयोग मे लाने योग्य है इसका पता चल सकेगा। जब तक व्यक्ति को इन बातो का पता नही चलेगा, जब तक वह आत्मोन्नति के सही मार्ग पर नही चल सकेगा तथा उसे मानव-जीवन का लाभ नही मिलेगा। अत प्रत्येक मुमुक्षु व्यक्ति को शाश्वत सुख पाने के लिये शास्त्रो का अध्ययन करना और उनमे दिये गए आदेशो का पालन करना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेगा।



१७ उत्तमपुरुष के लक्षण

धर्म प्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

आज मैं आपको सच्चे पुरुष के लक्षण बताने जा रहा हूँ। संस्कृत के एक श्लोक के अनुसार पुरुष के पाच लक्षण होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

पात्रे त्यागी, गुणे रागी, भोगी परिजनै सह।
शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा, पुरुष पचलक्षण ॥

अर्थात्— जो व्यक्ति सुपात्र को दान देता हो, सद्गुणो के प्रति अनुराग रखता हो, अपने परिजनो के साथ ही आनन्द का अनुभव करता हो, शास्त्रो का जानकार हो तथा युद्ध के समय शूरवीरता से लडता हो वही सच्चा पुरुष कहलाता है।

(१) पात्रे त्यागी—

श्लोक मे सत्पुरुष का प्रथम लक्षण बताया गया है कि वह सुपात्र के लिए त्याग करने वाला हो, अर्थात् सुपात्र को दान देने वाला हो। दान देने के लिए मनुष्य को त्याग अवश्य करना होगा। इसके बिना धन के प्रति उसकी आसक्ति कदापि कम नही होगी। फिर भी त्याग और दान मे अन्तर है, जिसे सावधानी से समझना चाहिए।

त्याग और दान को साधारणतया लोग एक ही अर्थ मे ले लेते हैं पर बारीकी के जाँच करने पर दोनो मे जो फर्क है वह मालूम पड जाता है वह फर्क इसप्रकार है कि त्याग मनुष्य के अत करण की चीज है और दान ऊपरी। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि त्याग पीने की दवा है और दान शरीर पर लेप करने की। त्याग मे आत्मा की सतुष्टि है और दान मे कुल और नाम का लिहाज। त्याग पापो की जडो को नष्ट करने वाला है और दान पुण्योपार्जन का साधन। त्याग से पाप का मूलधन चुकता है और दान से पाप का व्याज।

इस प्रकार त्याग और दान समान दिखाई देने पर भी एक दूसरे से भिन्न होते और दोनो मे से त्याग अपना अधिक महत्त्व रखता है। त्याग के अलावा ससार मे ऐसी कोई शक्ति नही है जो आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाकर परमात्म पद की प्राप्ति करा सके। इस ससार मे आज तक किसी ने भी अपने कर्म से, धन से, सतान से या शिक्षा से मोक्ष प्राप्त नही किया, अगर प्राप्त किया है तो केवल त्याग से। कहा भी है—

"स्वय त्यक्ता ह्य ते शमसुखमनन्त विदधति।"

इन सासारिक भोगोपभोगो का अपनी इच्छापूर्वक परित्याग कर देने से अनन्त सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार त्याग का जीवन मे अतुलनीय महत्व है। किन्तु बधुओ, दान भी कम महत्व नही रखता। जैसा कि अभी मैंने बताया था—दान अतरग की वस्तु हैं और आत्मा को अपने शुद्धरूप मे लाने वाली है तथा दान बाह्य गुण है, किंतु यह बाह्य गुण भी कम महत्वपूर्ण नही है क्योकि त्याग जहाँ आत्मा को लाभकारी होता है वहाँ दान ससार के अनेकानेक प्राणियो को सुख, सतोप और शाति पहुचाने वाला बनता है।

कोई व्यक्ति भले ही कितना भी त्यागी हो किन्तु अपने सामने आए हुए भूखे और नगे व्यक्ति को रोटी और कपडा न दे तो वह मानवता से हीन ही माना जा सकता है। भगवान् महावीर का मुख्य उपदेश भी यही है कि—गरीबो पर अनुकम्पा रखते हुए उनके दुखो का निवारण करो। अनुकम्पा मनुष्य के अन्त करण मे सात्विकता की ज्योति जगाती है। इसीसे प्रेरित होकर चौबीसों तीर्थंकरो ने दीक्षा ग्रहण करने से पहले एक वर्ष तक निरतर दान दिया था। तीर्थंकर प्रतिदिन एक करोड और आठ लाख सोनैय्या दान मे देते थे।

आप यह सुनकर आश्चर्य करेंगे और इस बात पर सदेह भी करने लगेंगे कि इतना धन उनके पास कहाँ से आता था? इसका कारण यही है कि आज के युग मे बुद्धिवाद एव तर्क-वितर्क की शक्ति बढ गई है और इन्होंने श्रद्धा को धूमिल कर दिया है किन्तु जिन वचनो पर श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति शास्त्र-ज्ञान से जान सकते हैं कि तीर्थंकर अनन्त पुण्य लेकर ही जन्म लेते थे तथा उनकी सेवा मे अनेक देव रहा करते थे। दीक्षा ग्रहण करने से पहले जब वे दान देना प्रारम्भ करते थे, देवता इधर-उधर पडे हुए या लावारिसो के धन को भी उनके खजाने मे लाकर डाल देते थे ताकि वे मुक्त हस्त से दान दे सकें।

ध्यान देने की बात है कि जिनके पल्ले मे पुण्य होता है वही उस धन को

रख सकता था, अन्यथा पुण्यहीन और कुमार्गगामी के धन का तो वे उलटे अपहरण कर लेते थे ऐसा भी वर्णन आता है।

तो दान देना मनुष्य जीवन की सार्थकता है और जिन्हें धर्म की तनिक भी पहचान होती है, वे इससे मुँह नही मोडते। क्यो कि दया ही धर्म का सबसे बडा लक्षण है। धर्म के विपय मे किसी ने प्रश्न करते हुए लिखा है—

कथमुत्पद्यते धर्म, कथं धर्मो विवर्धते ?
कथ च स्थाप्यते धर्मो, कथ धर्मो विनश्यति ?

पहला प्रश्न यह है कि—धर्म की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? दूसरा प्रश्न यह है—धर्म की वृद्धि कैसे होती है ? तीसरा प्रश्न है—धर्म किस प्रकार स्थिर रहता है और चौथे प्रश्न मे पूछा है—धर्म का नाश कैसा होता है ?

उत्तर मे कहा गया है—

"सत्येनोत्पद्यते धर्मे दया दानेन वर्धते।"

अर्थात्—धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है, दूसरे शब्दों मे जहाँ सत्य होता है, वही धर्म निवास करता है।

आप लोग कहेगे कि—'सदा सत्य ही बोलेंगे तो हमारा काम कैसे चलेगा ? भूखे मर जायेंगे, खाने को भी नही मिल पायेगा।' लेकिन ऐसी वात नही है। यह हमारे दिल की कमजोरी है। आज भी हम देखते हैं कि बम्बई मे जिनका लाखो रुपयो का व्यापार है वे सच्चाई से अपना काम करते हैं। ग्राहक देखकर वे वस्तुओ का मोल घटाते बढाते नही वरन् एक ही दाम रखते हैं। तो क्या वे भूखे मरते हैं ? नही, पर आज ऐसे सच बोलनेवाले कम हैं और झूठ बोलने वाले अधिक हैं। इसलिए सच बोलने वालो का भी दुनिया विश्वास नही करती। एक दृष्टान्त है—

"है सौ रुपयों की थैली, खोटा जो एक निकले।
फिर से सभी को परखे, शका तभी मिटेगी।
उज्ज्वल धरम मे हरगिज, कुछ पोल ना चलेगी॥

आपके सामने एक थैली है जिसमे सौ रुपये हैं। अगर उनमे से एक भी रुपया खोटा निकल आता है तो आप बाकी निन्यानवे को अच्छी तरह ठोक-पीटकर देखते हैं, तव कहीं उन्हें पुन रखते हैं। इसी प्रकार थैली मे निन्यानवे रुपये खोटे हो और एक असली हो तो उसे भी मार खानी पडती है।

तात्पर्य यही है कि सत्यवादी को सदा ही कठिन सकट मे से गुजरना पडता है किन्तु अगर वह सच्चा है तो परीक्षाओ मे से गुजरने के बाद भी वह सच्चा रहता है और उसका लोहा सभी को मानना पडता है।

इसके अलावा उसके शुद्ध एव निष्कपट हृदय मे धर्म स्थिर रहता है। सच्चे व्यक्ति को कोई भी सकट डिगा नही सकता और अत मे वह खरा साबित हो जाता है इसीप्रकार धर्म मे भी पोल नही चलती पर वह 'कठिन परीक्षाओ मे से गुजर कर अपनी उज्ज्वलता का सिक्का लोगो के हृदयो पर जमा लेता है।

तो बन्धुओ, जहाँ सचाई है, वही धर्म का निवास है। अनेक व्यक्ति जिन्हे हम अनार्य या म्लेच्छ कहते हैं अपनी सत्यवादिता के कारण हमसे उच्च साबित होते हैं। वे चालीस गज का थान ग्राहको को देते हैं, उसमे से एक अगुल भी कपडा कम नही होता पर आप पाँच गज कपडा किसी को देते हैं तो उसमे भी एक या दो अगुल कम नही हुआ तो आपने व्यापार ही क्या किया। यह देखते हुए मुझे कहना पडेगा कि वे लोग अनार्य कहलाते हुए भी आर्यों के उपयुक्त कार्य करते हैं और आप आर्य होते हुए भी अनार्यों के समान व्यवहार रखते हैं। पर आप अच्छे कुल, गोत्र और क्षेत्र मे जन्म लेने से ही आध्यात्मिक जगत मे आर्य नहो कहला सकते और वे लोग निम्न जाति, कुल एव क्षेत्र मे जन्म लेने पर भी आर्यों से कम नही माने जा सकते, कारण केवल यही है कि उनके हृदय मे सत्य है और सत्य मे धर्म का स्थान होता है।

दूसरा प्रश्न है—**कथ धर्मो विवर्धते** ? यानी धर्म को वृद्धि कैसे होती है ? जिस प्रकार शिशु के जन्म लेने के पश्चात् उसके पोषण के लिये खुराक देनी पडती है उसी प्रकार धर्म के जन्म लेने के पश्चात् भी उसकी पुष्टि के लिये खुराक जुटानी पडती है और वह खुराक है—दया एव दान।

दया एव दान से धर्म की वृद्धि होती है। जिस व्यक्ति के हृदय मे दया या करुणा की भावना होती है वह ससार के समस्त प्राणियो को आत्मवत् मानता है। पर जिसके हृदय मे यह भावना जागृत नही होती और देशवासियो को भाई मानना तो दूर अपने सगे भाई को भी भाई न मानकर दुश्मन मानता है तथा मेरा और तेरा करता हुआ कलह मे जीवन गुजार देता है, वहाँ धर्म की वृद्धि कैसे हो सकती है ?

हम मानव है। भाग्य ने हमे बुद्धि दी है और ज्ञान-प्राप्ति के शुभ सयोग भी जुटाये हैं तो हमे उनसे लाभ अवश्य उठाना चाहिये। अगर हम मे शक्ति है, हम सम्पन्न हैं तो गरीबो पर दया करना तथा अभावग्रस्त प्राणियो के अभावो को दूर करना हमारा कर्तव्य है। इसके अलावा दान करके हम औरो पर एहसान नही करते क्योकि जितना हम दूसरो को देते हैं उससे कई गुना

महान् दार्शनिक शेक्शपियर ने भी कहा है—

"Mercy is turice blessed, it blessed him that gives, and him that takes"

दया की कृपा दुतरफी होती है। यह दाता पर भी कृपा करती है और पात्र पर भी।

दान का महत्व प्रत्येक धर्म मे बहुत अधिक माना जाता है। केवल जैन शास्त्र ही नही वरन अन्य सभी शास्त्र एक स्वर से दया करने और दान देने का आदेश देते हैं। भगवद्गीता मे कहा गया है—'देशे, काले च क्षेत्रे च।' अर्थात्—देश, काल और क्षेत्र के अनुसार कहाँ कैसी जरूरत है यह देखकर व्यक्ति दान करे। दान देने से कभी व्यक्ति को हानि नही होती। मैंने अभी आपको वताया था कि दान का फल अनेक गुना पुण्य के रूप मे पुन लौट आता है। कहा भी है—

व्याजे स्यात् द्विगुण वित्त, व्यापारे च चतुर्गुण।
क्षेत्रे शतगुण प्रोक्त, पात्रेऽनन्तगुण भवेत्॥

अर्थात्—रुपया दान देने पर दुगुना, व्यापार मे लगाने से चौगुना, खेती से सौ गुना हो सकता है किन्तु पात्र मे देने से वह अनन्तगुना हो जाता है।

सत तुकाराम जी ने भी अपने धन को दान मे काम न लेने वाले लोभी व्यक्ति को धिक्कारते हुए कहा है—

"धिक जीर्णे त्याचे, लोभावरी मन।
अतिथी पूजन घडेचि ना।

यानी—उस व्यक्ति के जीवन को धिक्कार है जिसका हृदय पूर्णतया लोभ से ग्रस्त है। जो अपना ही पेट और अपनी ही तिजोरी भरता है किन्तु कभी दान या परोपकार की ओर ध्यान नही देता तथा घर आये हुए अतिथि का भी सम्मान और आदर नही करता। प्राचीन काल के ब्राह्मण समाज के विपय मे सुनते हैं कि वे अकेले कभी भोजन नही करते थे वरन् किसी न किसी को साथ लेकर ही खाते थे।

हमारे जैन शास्त्रो मे भी अनेक उदाहरण ऐसे आते हैं जिनके वारे मे पढकर आश्चर्य होता है। स्रणक श्रावक को सार्थवाह की पदवी मिली थी। वह क्यो? इसलिये कि जव वे व्यापार करने जाते थे तो सम्पूर्ण नगर के लोगो को सूचित करवा देते थे कि—'जिस किसी को भी हमारे साथ परदेश मे व्यापार करने चलना हो, खुशी से चल सकता है। साथ मे चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति के खाने-पीने का, कपडे-लत्ते का तथा आवश्यकतानुसार औपधोपचार का प्रवन्ध हम करेंगे। साथ ही हमारे साथ व्यापार करने पर

अगर व्यापार मे घाटा हुआ तो हम वहन करेंगे पर नफा होने पर सबको हिस्सा मिलेगा।"

कितना बडा हृदय होता था उन सार्थवाहो का ! पर आज सार्थवाह कोई नही है। सभी स्वार्थवाह हो गए हैं। गरीबो को लेकर चलना और अपने व्यापार मे हुए नफे का भाग देना तो दूर, वे गरीबो को खाने के लिये दो पैसे तथा तन ढकने के लिए एकाध वस्त्र देने की भी परवाह नही करते। भले ही अपने घर शादी-व्याह अथवा अन्य कोई अवसर होने पर हजारो ही नही लाखो रुपये भी खर्चा कर देते हैं किन्तु गरीबो के लिये उसका शताश भी उनसे खर्च नही किया जाता।

इसीलिये एक श्लोक मे कहा गया है—

"शतेषु जायते शूर सहस्रेषु च पडित.।
वक्ता दशसहस्रेषु दाता भवति वा न वा।",

अर्थात्—सैकडो व्यक्तियो मे एक शूरवीर निकल सकता है और हजारो मे एक सच्चा पडित। दस हजार मे एक वक्ता हो सकता है पर दाता तो इतनो मे से भी हो या न हो कुछ कहा नही जा सकता।

इसीलिये हमारे शास्त्र कहते हैं कि भाग्य मे हमे मनुष्य जन्म प्राप्त हो गया है और धर्म के लक्षण समझने की बुद्धि भी मिल गई हो तो इसका उपयोग करते हुए हमे धर्म को अपनाना चाहिए तथा अपनाने के बाद उसे स्थिर और मजबूत बनाने के लिये दया एव दान का अवलबन लेना चाहिये। इनके द्वारा ही धर्म स्थिर होता है तथा उसकी प्रभावना होती है।

क्रिश्चियन धर्म का प्रसार इसीलिये अधिक हुआ, क्योकि इन लोगो ने करोडो रुपये गरीबो मे बाँटे और उन्हें भोजन, वस्त्र आदि अनेक प्रकार की वस्तुएँ आवश्यकतानुसार प्रदान की। पर हमारे समाज मे इतना प्रयत्न और परिश्रम करने वाले व्यक्ति कहाँ हैं ? वे परिश्रम करते जरूर है पर केवल अपनी सुख-सुविधाओ की पूर्ति करने के लिये और अपनी तिजोरियाँ भरने के लिये, और दान के रूप मे अगर कुछ देते हैं तो अपना नाम दानदाताओ की लिस्ट मे लिखवा कर नामवरी पाने के लिये। वे भूल जाते हैं कि दान तब दान कहलाता है, जबकि दाहिना हाथ जो कुछ दे उसे बाँया हाथ भी न जान सके। इसप्रकार दिया हुआ दान ही शुभ फल प्रदान करता है, ख्याति प्राप्ति के लिये दिया हुआ नही।

दान का महत्व मुस्लिम ग्रथ भी बहुत अधिक मानते हैं। वे कहते हैं—

"सखावत कुनद नेक बख्त इख्तियार—
के मर्द अज सखावत कुनद बख्तियार।

सखावत वसे ऐवरा कीमियास्त,
सखावत हमादर्दहारा दवास्त ॥"

—ऐ, अच्छे नसीव वाले ! तू दान कर, क्योकि फूटे नसीव वाले क्या दान देंगे ? ऐ, नेकवख्त ! तू ही सखावन यानी दान को अपना, क्योकि दान देने से मर्द भाग्यशाली वनते हैं। दान देना ही समस्त दर्दों को मिटाने वाली एकमात्र दवा है अत दान दिया कर।

इस प्रकार जैन व अजैन सभी धर्म दान को महत्व देते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को दान देने की प्रेरणा करते हैं। एक दोहे मे कहा भी है—

"सभी पथ और ग्रथ मे, वात वतावत तीन।
राम हृदय, दिल मे दया, तन सेवा मे लीन ॥

दुनिया मे जितने भी पथ और धर्म ग्रथ हैं उनमे तीन मुख्य वात वताई गई हैं। पहली है—हृदय मे सदा राम को रखो ! यह मत कहो—

God is no where

ईश्वर कही नही है।

अपितु Where का w पीछे सरका दो, उत्तर सही मिल जायगा—

God is now here

यानी भगवान अभी यहाँ अर्थात् हमारे हृदय मे ही है '

ईश्वर को चाहे गॉड, राम, अल्लाह या भगवान किसी भी नाम से पुकारे वात एक ही है। केवल आवश्यकता है श्रद्धा की। श्रद्धा के विना लिया हुआ भगवान का नाम केवल तोता रटन्त ही कहलायेगा, जिससे कोई लाभ नही होगा।

तो वधुओ, मैं आपको पुरुष के पाँच लक्षण वता रहा था उनमे से पहला है—सत्पात्र के लिए त्याग करना यानी उसे दान देना। त्याग और दान का महत्व अभी हमने समझा है और अव हम सत्पुरुष के दूसरे लक्षण पर आते हैं।

(२) गुणे रागी

सच्चे पुरुष का दूसरा लक्षण है—सद्गुणो के प्रति अनुराग रखना। जो व्यक्ति उत्तम गुणो के प्रति अनुराग रखता है वह उन्हे अपनाने का भी प्रयत्न करता है।

गुणो का महत्व शब्दो से वताना सभव नही है। ये मानव जीवन के ऐसे वहुमूल्य आभूषण हैं, जिनके द्वारा आचरण निर्मल और पवित्र वनता है। तथा जीवन निखर जाता है। गुणी व्यक्ति जहाँ भी जाता है, सर्वत्र आदर और सम्मान प्राप्त कर लेता है। गुणो की प्रत्येक स्थान पर पूजा होती है, धन-सम्पत्ति, कुल अथवा शरीर के सौंदर्य की नही।

कवि गिरिधर ने कहा है—

गुन के गाहक सहस नर, बिन गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय॥

कहा गया है—गुण के हजारो ग्राहक होते हैं, किन्तु उनके अभावो मे कोई किसी को नहीं पूछता। जिस प्रकार कौआ और कोयल रग मे समान होते हैं पर कोयल के मधुर स्वर को सब सुनते हैं। और उसकी सराहना करते हैं। कौए की कांव-कांव किसी को प्रिय नही लगती।

तात्पर्य यही है कि मनुष्य अपने गुणो से महान् बनता है। चाहे वह किसी भी जाति व कुल मे उत्पन्न क्यो न हुआ हो।

कठौती में गगा—

मीराबाई के गुरु, भक्त रैदास जाति के चमार थे और जूतियाँ गाठकर अपना जीवन-यापन करते थे।

एक बार एक ब्राह्मण यात्री गगा-स्नान के लिए निकला, पर उसके गाँव से गगा नदी बहुत दूर थी अत चलते-चलते उसके पैर की जूतिया फट गई। मार्ग मे चलते हुए उसे रैदास चमार दिखाई दिया अत उसने अपनी जूतियाँ रैदास को गाँठने के लिये दी।

रैदास ने थोडे समय मे ही ब्राह्मण की जूतियाँ ठीक करके दे दी और यह जानकर कि ब्राह्मण देवता गगा-स्नान के लिए जा रहे हैं। उन्हें एक सुपारी देते हुए कहा—"द्विज श्रेष्ठ, आप गगामाई के दर्शन करने तो जा ही रहे हैं, मेरी यह सुपारी भी गगा मैया को भेंट कर दीजियेगा।"

ब्राह्मण चकित होकर बोला—"भाई, गगाजी तुम्हारे यहाँ से तो थोडी ही दूर हैं, फिर तुम स्वय क्यों नही जाकर अपनी भेंट उन्हे चढाते हो?"

रैदास ने उत्तर दिया—"देख तो रहे हैं आप, मुझे समय ही नही मिलता। इतनी सारी जूतियाँ सदा ही सामने पडी रहती हैं ठीक करने के लिए आस-पास और कोई चमार तो है ही नही और मैं भी काम न करूँ तो बेचारे यात्रियो को बडी तकलीफ होगी।"

ब्राह्मण बोला—"कैसे आदमी हो जी तुम? दिन-रात पेट के धन्धे मे ही लगे रहते हो जरा सा समय निकाल कर गगा मैया के दर्शन भी नही कर सकते? मुझे देखो मेरा गाँव मीलो दूर है पर मैं उतनी दूर से भी कई बार गगा स्नान के लिए आया हूँ। और आज भी जा रहा हू। असल मे भगवान् के प्रति व्यक्ति की भक्ति होनी चाहिए वह तुममें आयेगी ही कहाँ से? जाति के चमार जो ठहरे।

ब्राह्मण के तिरस्कारपूर्ण वचनो को सुनकर भी रैदास के मुख पर क्रोध का तनिक भी भाव नहीं आया। वह अत्यन्त नम्रतापूर्वक बोला—"देव!

आप श्रेष्ठ हैं मैं कहाँ आपकी तुलना मे ठहर सकता हूँ। आप ठहरे नरश्रेष्ठ ब्राह्मण और मैं चमार। किन्तु कृपा करके मेरी यह सुपारी आप लेते जाइये और गगा मैया को दे दीजियेगा।"

"अच्छी बात है लाओ।" कहकर ब्राह्मण ने वह सुपारी अनिच्छा से जेव मे डाली और वहाँ से रवाना होने के लिए मुडा। इतने मे ही रैंदास ने पुन कहा "भगवन्! मेरी यह सुपारी आप गगा माता के हाथ मे ही दीजियेगा, व्यर्थ मत उछालियेगा अगर गगा मैया इसे अपने हाथो से न लें तो इस रास्ते से आप निकलेंगे ही, मुझे पुन लौटा दीजियेगा।"

ब्राह्मण रैंदास की यह वात सुनकर आपे से वाहर हो गया और तेज स्वर से बोला—"लो और सुनो, हम सैकडो वार गगाजी मे स्नान कर गये पर हमारी कोई भेंट गगा माता ने अपने हाथो नही ली, पर वे तुम्हारी इस सुपारी को जरूर अपने हाथो मे ले लेंगी जिसने आज तक कभी गगा का दर्शन नही किया और जाति के भी चमार हो। पर मेरा क्या नुकसान है देखता हूँ जाकर कि तुम्हारी भेंट गगा जी कैसे हाथो मे लेती हैं।"

रैंदास ने कुछ भी उत्तर नही दिया और अपनी स्निग्ध मुद्रा से ब्राह्मण को दूर से ही नमस्कार किया और पुन जूतियाँ गाँठने वैठ गया ?

ब्राह्मण थोडे समय मे ही गगा के किनारे पहुच गया जो कि वहाँ से अधिक दूर नही थी। निर्दिष्ट स्थल पर पहुचकर उसने गगा की पूजा-अर्चना की भक्तिभाव से स्नान किया और अपने वस्त्र पहन लिये। कुछ देर वाद जव वह वहाँ से चलने को हुआ तो उसका हाथ किसी कार्यवश जेव मे पहुच गया। जेव मे सुपारी थी जिसका स्पर्श होते ही उसे रैंदास का ध्यान आया और वह वडे तिरस्कार के भाव से सुपारी हाथ मे लेकर वोला—"गगा मैया! तुम्हारे वडे भागी भक्त मोची ने यह सुपारी तुम्हारे हाथो मे देने के लिए भेजी है और कहा है कि गगा माता के हाथ मे ही इसे देना।"

ब्राह्मण वडी नफरत और क्रोध से ये शब्द वोल ही रहा था कि उसे गगा की पवित्र और निर्मल धारा मे एक अपूर्व सुन्दर हाथ उठता हुआ दिखाई दिया। मारे आश्चर्य के ब्राह्मण की आँखें कपाल पर चढ गई और उसने थर-थर कापते हुए पुन गगा मे उतर कर वह सुपारी गगा के हाथ मे रख दी। तत्पश्चात् वह ज्योही लौटने को हुआ वही हाथ एक वार पानी के अन्दर जाकर वापिस वाहर आया और उसने एक देवी कगन ब्राह्मण के हाथो पर रख दिया तथा साथ एक स्पष्ट आवाज गूजी—'यह कगन मेरे भक्त रैंदास को देना।"

ब्राह्मण यह चमत्कार देखकर दिग्मूढ सा रह गया और कगन देखकर तो उसकी आँखें फटी सी रह गई। बडी कठिनाई से वह जल के बाहर निकला और उस अभूतपूर्व कगन को देखकर सोचने लगा—

"कितने आश्चर्य की बात है कि गगा—मैया ने एक चमार की भेंट अपने हाथो मे ले ली और बदले मे यह कगन उसे दिया है, ऐसा कगन तो मैंने जीवन मे कभी देखा ही नही! राजा-महाराजाओ के यहाँ भी ऐसा रत्न जटित कगन नही हो सकता। पर वह चमार इसका क्या करेगा? अच्छा हो कि मैं ही इसे घर ले चलूं। ब्राह्मणी इसे पाकर खुश हो जाएगी मैं दूसरे रास्ते से घर को चला जाऊँगा। और फिर रैदास चमार को पता भी क्या चलेगा कि गगा माता के उसकी सुपारी के बदले मे मुझे उसके लिये क्या दिया है?"

इस प्रकार विचार करते हुए ब्राह्मण के मन मे खोट आ गई और वह कगन लेकर रैदास चमार की ओर न जाने वाले दूसरे चक्करदार रास्ते से जल्दी-जल्दी घर की ओर बढा। कुछ समय पश्चात ही वह अपने घर के दरवाजे पर आ पहुचा।

पति को गगा स्नान से लौटा देखकर ब्राह्मणी दरवाजे पर आ गई और उसकी कुल क्षेम पूछने लगी। ब्राह्मण ने उसकी किसी बात का उत्तर न देते हुए अगरखे की जेब से कगन निकाला और पत्नी के हाथ पर रख दिया।

कगन देखकर ब्राह्मणी भी आश्चर्य से अभिभूत हो गई और बोली—"यह कहाँ से आया?" ब्राह्मण ने झूठे घमड से अकडकर कहा—"मैंने इतनी बार पैदल जा जाकर गगा स्नान किया है गगा माई प्रसन्न हो गई और मेरी भक्ति के फलस्वरूप उन्होने यह कगन मुझे भेंट किया है। लो तुम पहन लो इसे!"

पर ब्राह्मणी ने इनकार करते हुए कहा—

"नही, प्रथम तो मुझ दरिद्र के हाथ मे यह शोभा ही नही देगा, दूसरे लोग चोरी की चीज कहकर हमे पकडवा देंगे। इससे तो अच्छा यह है कि तुम सारी बात सही-सही बताकर इसे राजा को भेंट कर दो और इसके बदले मे राजा हमे जो देंगे उससे हमारा निर्वाह होगा।"

ब्राह्मण को पत्नी की बात पसद आई और कगन लेकर राज दरबार मे गया तथा राजा को भेंट कर दिया। राजा बहुत प्रसन्न हुए और उसके बदले मे ब्राह्मण को काफी द्रव्य इनाम मे दिया। इसके पश्चात जैसा कि स्वाभाविक था, कगन राजा ने महारानी जी को दिया और ब्राह्मण की सारी बात बताई।

यह सब सुनकर महारानी जी ने उत्तर दिया—

"महाराज! यह सब तो ठीक है किन्तु एक बात तो आपके ध्यान मे आई ही नही।"

"वह क्या ?" राजा ने आश्चर्य से कहा।

"मैं कगन एक हाथ मे कैसे पहनूँगी ? दोनो हाथो मे पहनने के लिये दो कगन होने चाहिये। आप कृपा करके ब्राह्मण से इसके जोड का दूसरा कगन भी मंगवा दीजिये।"

"पर यह कैसे हो सकता है ? ब्राह्मण के पास तो इसके जोड का कगन है नही, वह गगा मैया की भेंट है और उन्होने एक ही दिया था।"

"तो क्या हुआ ? ब्राह्मण देवता गगा के सच्चे भक्त हैं अत दूसरा भी उन्ही से मागकर ले आएँगे। जब वे एक कगन दे सकती हैं तो दूसरा क्यो नही दे सकती ?"

"ठीक है, मैं ब्राह्मण को बुलाकर कहूगा।" कहते हुए राजा रनिवास से आ गए और दूसरे दिन उन्होने ब्राह्मण को दरबार मे बुलाकर महारानी का आग्रह बताया तथा दूसरा कगन लाने का आदेश दिया।"

ब्राह्मण ने राजा की आज्ञा पर अपना कपाल पीट लिया और झीकते-झीकते घर आया। ब्राह्मणी ने पति की अवस्था देखकर उसका कारण पूछा तो वह क्रोध मे भरकर बोला—"औरतो की सलाह के अनुसार काम करने पर ऐसा ही होता है, अब बांधो बोरिया-बासना और निकलो इस राज्य मे।"

"आखिर बात क्या है, वह तो बताओ ?" ब्राह्मणी ने विनय से पूछा। ब्राह्मण ने उसे राजा की आज्ञा सुना दी।

बेचारी ब्राह्मणी क्या जानती थी कि वह कगन एक चमार की सुपारी के बदले उसे दिया गया था और ब्राह्मण धोखे से उसे अपना बनाकर ले आया है। अत वह भी पति से बोली—

"इसमे इतनी चिन्ता की क्या बात है ? पहला कगन हमने राजा को भेंट कर दिया है और दूसरा भी हमे तो रखना नही है। यह जान कर गगा-मैया अवश्य ही तुम्हें दूसरा कगन प्रदान कर देंगी। निश्चित होकर जाओ और गगा-माता से प्रार्थना करके दूसरा कगन ले आओ। आखिर तो तुम उनके इतने बडे भक्त हो कि सारी दुनिया को छोडकर तुम्हें ही उन्होने यह दैवी कगन दिया है।"

ब्राह्मण किस मुँह से पत्नी के सामने अपनी धोखेबाजी की बात कहता ? मन मार कर वहाँ से चल दिया। उसने सोचा कि जाकर गगा मे ही डूब मरूँ तो अच्छा और मन मे यही विचार करके चलता रहा। पर मौत किसे अच्छी लगती है ?

सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ।

ससार के जीव चाहे सभी दरिद्र हो, रोगी हो, या किन्ही कारणो से अत्यन्त दु खी हो, फिर भी मरना नही चाहते, जीवित रहने का ही प्रयत्न करते हैं।

यही हाल ब्राह्मण देवता का भी हुआ। मरने के लिए रवाना होते हुए थे, पर रास्ते मे ही उससे मुँह मोडकर रैदास चमार के पास आ गए और उसके चरणो पर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगे।

रैदास ने शीघ्रता से उन्हे उठाया और रोने का कारण पूछा। अब ब्राह्मण ने अथ से लेकर इति तक उसे सारी बात बतादी और कहा—"भक्त रैदास, अब तुम्ही मुझे इस मुसीबत से छुटकारा दिला सकते हो। अगर राजा को मैंने दूसरा कगन ले जाकर नही दिया तो मुझे जान से मरवा देंगे। मेरी लाज तुम्हारे ही हाथ मे है अत कृपा करके मुझे तुम एक और सुपारी दो ताकि मैं गगा मैया से माग कर दूसरा कगन ला सकूँ।

ब्राह्मण की बात सुनकर रैदास मुस्कराए और बोले—"ब्राह्मण श्रेष्ठ! तुम्हारी हालत बहुत खराब हो रही है अत तुम्हें पुन उतनी दूर जाकर गगा-मैया से कगन लाने की आवश्यकता नही है, मैं उस गगा-मैया से यही मांग कर दे देता हूँ।"

यह कहते हुए रैदास जी ने अपने सामने रखे हुए चमडा भिगोनेवाले मिट्टी के कुण्ड मे, जिसमे पानी भरा था हाथ डाला और उसी क्षण पहले वाले कगन के समान एक दूसरा कगन निकाल लिया और ब्राह्मण को देते हुए कहा—

"लो इसे, ले जाकर राजा को दे दो तथा अपनी मुसीबत से छुटकारा प्राप्त करो।"

चमडा भिगोने के अशुद्ध पानी से ही रैदास के द्वारा गगा माता का दान वह कगन निकालते देखकर ब्राह्मण मुँह बाये अवाक् खडा रह गया।

रैदास ने मुस्कराते हुए पूछा—"क्या सोच रहे हो? कगन ले जाओ न।"

ब्राह्मण ये शब्द सुनकर मानो तन्द्रा से जागा और पुन रैदास के चरणो पर गिरकर कहने लगा—

"रैदास जी! ईश्वर के और गगा-माता के सच्चे भक्त आप ही हैं। मैं तो महापापी और धोखेबाज हूँ। इसीलिए मैं सैंकडो बार गगा-स्नान करके भी जो नही पा सका वह आपने बिना एक बार भी गगा मे स्नान किये प्राप्त कर लिया। मुझे क्षमा करो! धन्य हैं आपके गुणो को, जिन्होने इतनी दूर से भी गगा-माता को प्रभावित करके वरदान देने को बाध्य कर दिया।"

इसीलिए कहा जाता है—

> गुणा. कुर्वन्ति दूतत्व दूरेऽपि वसता सताम् ।
> केतकी गन्धमाघ्राय स्वयमायान्ति षट्पदा ॥

सद्गुणी पुरुष चाहे दूर भी रहे पर, उनके गुण उनकी ख्याति-प्रसार के लिए स्वय ही दूत का कार्य करते है । केवडे के पुष्प की सुगन्ध से आकर्षित होकर भ्रमर स्वय उसके पास चले आते है ।

तो बन्धुओ, मनुष्य के रूप-रग, जाति और कुल का कोई महत्व नही है महत्व होता है केवल उसके गुणो का । भक्त रैदास चमार थे, किन्तु उनके भक्ति के असाधारण गुण के कारण ही स्वय गगा ने उन्हे वरदान दिया और आज भी लोग श्रद्धावत होकर उन्हें स्मरण करते हैं । इसलिये प्रत्येक पुरुष को अगर सच्चा पुरुष कहलवाना है तो उसे सत्य, अहिसा, शील, सेवा, क्षमा, करुणा एव आचरण को सुन्दर बनाने वाले समस्त गुणो को अपनाना चाहिए और यह गुणो के प्रति अनुराग रखने पर ही सभव हो सकता है ।

जो व्यक्ति गुणो का अनुरागी और पारखी होता है, वह यह नही देखता कि उसे गुण कहाँ से ग्रहण करने चाहिए । वे जहा कही भी मिले वह वहा से ग्रहण कर लेता है । इसका कारण यही है कि वह भली भाँति जानता है—

> कौशेय कृमिज सुवर्णउपलाद् दूर्वापि गोरोमत ।
> पंकात्तामरस शशाक उदधेरिन्दीवर गोमयात् ॥
> काष्ठादग्नि रहे. फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना ।
> प्राकाश्य स्व गुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किजन्मना ॥

रेशम कीडे से, सोना पत्थर से, नील-कमल गोबर से, से, चन्द्रमा समुद्र से, गोरोचन गाय के पित्त से, मणि सर्प के फन से, और दूब कहते है कि रोम से इन सब वस्तुओ के उत्पत्तिस्थान महा है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि म स्थान की नही ।

इसीलिये हमारा धर्म कहता है कि एक अक्षर भी जिससे सीखो उसे गुरु । वा कुल का क्यो न हो ।

(३) भोगी परिजनैः सह—

यह तीसरा गुण है; जो सच्चे पुरुष

है जो सुख और दुख मे समानभाव से अपने स्वजनो का साथ दे। यह नही कि सुख के दिनो मे तो वह अपने परिजनो को अपना माने और दुख के समय उनसे दूर भाग जाय। हम प्राय देखते हैं कि अपने सुख के दिनो मे भाई-भाई को भूल जाता है और वेटा बाप को पहचानने से भी इन्कार कर देता है। एक छोटा सा उदाहरण है—

मेरे पिता गुजर चुके—

किसी गरीव व्यक्ति के एक पुत्र था। उसने पुत्र का भविष्य सुधारने के लिए अपना पेट काट-काट कर उसे पढाया और स्वय दरिद्रता से भयानक सघर्ष करते हुए भी पुत्र को भरसक सुख-सुविधा के साधन जुटाये। इस प्रकार करते हुए अत मे पुत्र पढ लिख कर विद्वान् हो गया और उसकी उच्च सरकारी पद पर नियुक्ति हो गई।

वेचारे दरिद्र व्यक्ति ने यह सब इसलिये किया कि पुत्र पढ-लिखकर वडा आदमी वन जायेगा तो उसका बुढापा सुख से निकलेगा। घर मे और कोई है नही, पत्नी भी वहुत दिन हुए मर चुकी थी।

किन्तु पुत्र ने वडा आदमी वनते ही पिता की ओर से आखें फेर ली तथा उसे पत्र देना या अपने गांव जाना भी छोड दिया। गरीव वापने किसी तरह कुछ अर्सा दुख भोगते हुए विताया पर जव उसके हाथ पैर अत्यन्त शिथिल हो गये और और अपने पेट भरने के लिये वह थोडा भी श्रम करने लायक नही रहा तो गांव के हितचिन्तक निवासियो ने उसे सलाह दी—"वावा! तुम्ही अपने पुत्र के पास चले जाओ आखिर तो वह तुम्हारा खून है अत पसीजेगा और तुम्हारे बुढापे में काम आयेगा ही।"

वृद्ध व्यक्ति ने कोई उपाय न देखकर यही करना तय किया और वडी आशा से अपने जीर्ण-शीर्ण कपडो को एक पोटली में वांधकर अपने लडके के यहाँ जाने के लिये रवाना हो गया।

वहुत खोज-वीन करके वृद्ध पिता ने अपने पुत्र के वगले को पाया और वह अन्दर प्रवेश करने लगा। फाटक पर चौकीदार था उसने जव एक देहाती वृद्ध को अदर आते देखा तो डॉटकर पूछा—'कौन हो तुम?'

वृद्ध ने अपने लडके का नाम वताते हुए कहा—मैं उसका अभागा वाप हू, गांव से आया हूँ।" यह सुनकर चौकीदार दौडा हुआ वगले मे आया और अपने मालिक जो कि अपने समक्ष और भी वडे-वडे पदाधिकारियो के साथ वैठे हुए शाम की चाय पी रहे थे, वोला—"हुजूर, गाव से एक देहाती वृद्ध आए हैं और अपने को आपके पिता वता रहे हैं।"

"क्या बकते हो तुम ? कहते हुए उन्होने बाहर झांका और अपने बाप को पहचान लेने पर भी अपने मित्रो के समक्ष शर्मिन्दा होने से बचने के लिए हँसते हुए कहा—"मेरे पिता तो बचपन से ही गुजर चुके हैं। यह कोई पागल आदमी दिखाई देता है अत फाटक से बाहर निकाल दो ! खबरदार ! यह सनकी बूढा अन्दर न आने पाए !"

तो बधुओ, स्वार्थी और नीच व्यक्ति थोडा साधन या उच्च पद पाते ही इसीप्रकार अपने आत्मीयो से ही क्या, भाई या बाप सभी से आँखें फिरा लेते हैं। माता-पिता जिस आशा से अपनी सतान का स्वय नाना प्रकार के कष्ट सह करके भी जीवन बनाते हैं, उस आशा पर वे कुठाराघात कर देते है। और ऐसे पुरुष मनुष्य के रूप मे रहकर भी मनुष्य नही कहला सकते। इसीलिए श्लोक मे पुरुष का तीसरा लक्षण—'**भोगी परिजनं सह**' बताया गया है।

(४) **शास्त्र बोद्धा—**

पुरुष का चौथा लक्षण शास्त्रो का जानकार होना कहा गया है। व्यक्ति चाहे जितनी पुस्तकें पढ ले, और चाहे जितनी ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ हासिल कर ले, अगर उसे शास्त्रो का बोध नही है तो समझना चाहिए कि उसने कुछ भी ज्ञान हासिल नही किया है।

सस्कृत भाषा मे कहा गया है—

श्लोको वर परमतत्व-पथप्रकाशी,
न ग्रन्थकोटिपठन जनरजनाय।"

अर्थात्—मोक्ष मार्ग का पथ प्रदर्शक एक ही श्लोक श्रेष्ठ है किन्तु ससार को प्रसन्न करने के लिए करोडो ग्रन्थो का पठन करना भी व्यर्थ है।

बधुओ, आप समझ गये होगे कि ऐसा क्यो कहा गया है ? कारण यही है कि आज जो विद्या स्कूलो और कालेजो मे पढाई जाती है वह केवल भौतिक सफलता की प्राप्ति मे सहायक होती है। अर्थात्—उसके द्वारा मनुष्य बडी-बडी नौकरियाँ प्राप्त कर सकता है तथा अधिक से अधिक धन कमाकर अपने जीवन के लिये भोगोपभोग की सामग्री जुटा सकता है।

किन्तु इससे आत्मा को क्या लाभ है ? कुछ भी नही, चाहे जितना ऐश्वर्य व्यक्ति इकट्ठा करले, जीवन के अन्त मे वह तो यही छूट जाता है और उनके लिए किये हुए अन्यायो, धोखेंबाजियो और अनीतियो से अर्जित पापो का भार आत्मा के साथ बध जाता है जो भविष्य मे भी जन्म-जन्मान्तर तक कष्ट पहुचाता है।

किन्तु इसके विपरीत अगर व्यक्ति शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करे तो उनके द्वारा वह जन्म-मरण के दु खो से छुटकारा पाने के उपायो को जान लेता है और उन उपायो के द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध एव पवित्र बनाकर मृत्यु को जीत सकता है। इसीलिये पद्य मे कहा गया है कि अगर व्यक्ति शास्त्र मे से मोक्ष मार्ग पहचान कराने वाला एक श्लोक भी जीवन मे उतार ले तो उससे इतना लाभ हासिल कर सकता है, जितना सासारिक विद्या को सिखानेवाले करोडों ग्रन्थो के पठन से भी प्राप्त नही कर सकता।

शास्त्र-ज्ञान ही मनुष्य के अन्दर रहे हुए सद्गुणो को जगाता है, उसे प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्तिमार्ग की ओर ले जाता है तथा आसक्ति के चगुल से छुडाकर विरक्ति की ओर उन्मुख करता है। कहा भी है—

"अध्यात्मशास्त्रमुत्ताल—मोहजाल वनानल ।"

अर्थात्—आध्यात्मिक शास्त्र ही भयकर मोह-जाल रूपी वन को जलाने के लिये अग्नि के समान हैं।

इसलिये शास्त्र-ज्ञान मनुष्य के लिये आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। क्योकि आध्यात्मिक-ज्ञान प्राप्त किये बिना व्यक्ति अपने दुर्लभ मानव जीवन का महत्व नही जान पाता और इसका महत्व न जानने पर इसका लाभ भी नही उठा सकता। शास्त्र ही वह अपूर्व साधन है, जिसकी सहायता से मानव मुक्ति के मार्ग पर चल सकता है और आत्मा को सदा के लिये इस ससार से छुटकारा दिला सकता है। अत शास्त्र-बोध प्रत्येक के लिये आवश्यक है और जो इसका बोध करता है वही सच्चे मायने मे पुरुष कहलाने का अधिकारी बन सकता है।

(५) रणे योद्धा

अब हमारे पद्य के अनुसार पुरुष का पाँचवाँ लक्षण 'रणे योद्धा' कहा गया है। इसका अर्थ यही है कि अपने धर्म के लिये, समाज के लिये अथवा देश के लिये अगर कभी रणागण में जाकर लडने का काम पडे तो व्यक्ति शूरवीर के समान युद्ध करे। कायर बनकर पीठ कभी न दिखाये। युद्ध मे पीठ दिखाकर आने वाला व्यक्ति कभी ससार मे सम्मान और आदर प्राप्त करने का अधिकारी नही बनता तथा उसमे मर जाने वाला व्यक्ति सदियो तक के लिये अपना नाम अमर कर जाता है। महात्मा तुलसीदास जी ने कहा है :—

सूर समर करनी करहि, कहि न जनावहि आपु।
विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर करहि प्रलापु॥

जो सच्चे योद्धा और वीर होते हैं वे समर भूमि मे करनी करके बताते हैं, व्यर्थ का गर्व करके बातें नही बघारते। किन्तु कायर व्यक्ति सामने दुश्मन

को देखकर मिथ्या अहकार के वश वाते अवश्य वनाते हैं पर जान का खतरा देखते ही भाग खडे होते हैं।

वस्तुतः वीर पुरुष कायरता प्रदर्शित करने की अपेक्षा मर जाना अधिक पसद करते है और इसीलिये वे एक वार ही मरते हैं जहाँ, कायर वार-वार पीठ दिखाकर दुनिया की दृष्टि मे तिरस्कृत होते हैं और इस प्रकार वार-वार मरते हैं।

यह एक वात और भी ध्यान मे रखने की है कि इस ससार मे केवल भौतिक पदार्थों के लिये होने वाला युद्ध ही युद्ध नही है अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से अगर हम विचार करते हैं तो मन की विपय-वासनाओ, विकारो एव कपायो से लडना भी युद्ध है। ये विषय-विकार आत्मा के सवसे वडे दुश्मन है और इन्हे जीतना भी कम मुश्किल नही है। अनेक योगी और महर्षि भी कभी-कभी इन से हार खाकर अपने हथियार डाल देते हैं। आपने घोर तपस्वी विश्वामित्र का नाम सुना होगा जिन्होने अपनी वर्षों की तपस्या को मेनका के अल्प-कालीन हाव-भावो पर खो दिया था। ऐसे अनेक उदाहरण हमे वताते है कि 'काम' पर विजय पाना वडा कठिन है और यह वडे-वडे योगियो को भी भोगियो की कतार मे लाकर छोड देता है। इसके प्रभाव से राजा, रक, पडित, मूर्ख, रोगी या भिखारी कोई भी वच नही पाता। कहा भी है —

भिक्षाशन तदपि नीरसमेकवार,
शय्या च भू परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्र च जीर्ण शतखण्डमयी च कन्था,
हा हा! तथापि विषयान्न परित्यजन्ति ॥

अर्थात् जो भीख माँग कर रूखा-सूखा खाता है, जमीन पर सोता है, परिवार के नाम पर केवल देह जिसकी होती हैं, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहनता है तथा सैकडो चिथडे जोड-जोडकर जिसकी कथडी बनती है, वडा खेद है कि ऐसा व्यक्ति भी विषय-भोगो का त्याग नही कर पाता।

इस कथन से स्पष्ट है कि काम-विकार अत्यन्त शक्तिशाली होता है और इसे जीतना मनुष्य के लिये अत्यन्त कठिन होता है। किन्तु जो पूणतया जीत लेता है वह सच्चा वीर कहलाता है।

शंकराचार्य का कथन भी प्रश्नोत्तर के रूप मे है—

शूरान्महाशूरतमोऽस्ति को वा—
मनोज वार्णर्व्यथितो न यस्तु।

वीरो मे सवसे वडा वीर कौन है? जो काम-वाणो से पीडित नही होता।

तो वधुओ, हम सासारिक दृष्टि से युद्ध मे दुश्मनो को जीतने वाले

बहादुर को वीर कहते हैं, किन्तु जो विषय-विकारो को जीत लेता है उसे महावीर कहा जाता है। और वास्तव मे ही वह महावीर हैं जो अपने समस्त आत्मिक शत्रुओ को जीत लेता है। जिन्हे जीतना अत्यन्त कठिन कार्य है।

आशा है आपने सच्चे पुरुष के पाँचो लक्षणो को भली-भाति समझ लिया होगा और यह भी जान लिया होगा कि इन के अभाव मे पुरुष पुरुष नही कहला सकता। आकृति से तो इस ससार मे करोडो व्यक्ति दृष्टि गोचर होते ही हैं, किन्तु सच्चे पुरुप-पु गव वे ही कहलाते हैं जो अभी-अभी वताए गये पाँचो उत्तम लक्षणो से युक्त हो। ऐसे पुरुष ही यथार्थ मे अपने जीवन को सफल बनाते है तथा अपने लक्ष्य को सिद्ध करते हैं।

१८ | धर्मरूपी कल्पवृक्ष....

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

जिस प्रकार व्यक्ति एक जहाज के द्वारा असीम जलराशि को पार कर जाता है, उसी प्रकार धर्म रूपी जहाज के द्वारा यह ससाररूपी अथाह सागर पार किया जा सकता है। एकमात्र धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो अनन्त काल से भिन्न-भिन्न योनियो मे भटकती हुई आत्मा को इनसे छुटकारा दिला सकती है।

धर्म ही मानव के मानस को परिष्कृत करता है, कर्तव्य-अकर्तव्य का भान कराता है तथा सांसारिक प्रलोभनो से बचाता हुआ मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर करता है। धर्म की महिमा वर्णनातीत है, क्योंकि यह एक कल्पवृक्ष है जिससे भौतिक एव आध्यात्मिक समग्र सुख हासिल होते हैं।

एक सस्कृत के श्लोक मे भी बताया गया है —

प्राज्य राज्य सुभगदयिता नन्दना नन्दनाना,
रम्य रूप सरस कविता चतुरी सुस्वरत्वम्।
नीरोगत्व गुणपरिचय सज्जनत्व सुबुद्धि,
किं नु ब्रूम फलपरिणतिं धर्म कल्पद्रुमस्य ॥

अर्थात् विशाल राज्य, सुभग पत्नी, पुत्रो के पुत्र एव पौत्र, सुन्दर रूप, सरस कविता, निपुणता, मधुर स्वर, नीरोगता, गुणानुराग, सज्जनता तथा सद्बुद्धि आदि ये सभी धर्मरूपी कल्पवृक्ष के फल हैं जिनका एक जिह्वा से कहाँ तक वर्णन किया जाय ?

धर्म के विषय में इतना ही नही आगे भी कहा गया है —

'दिव्व च गइ गच्छन्ति चरित्ता धम्ममारिय।'

श्री उत्तराध्ययन सूत्र की यह गाथा है , जिसमे बताया है—आर्य धर्म का आचरण करके महापुरुष दिव्यगति (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार समस्त भौतिक एव आध्यात्मिक शुभ फलो को प्रदान करने वाले धर्म को कल्पवृक्ष की उपमा दी जाय तो कौनसी बडी बात है? इस कल्पवृक्ष के द्वारा मनुष्य प्रत्येक इच्छित पदार्थ की उपलब्धि कर सकता है। धर्म के बल पर ही वह स्वय इस ससार-सागर को पार करता है तथा अन्य प्राणियो को भी अपने साथ तैराकर ले जाता है।

मराठी भाषा मे भी एक पद्य है—

गर सम घर सम जुनिया,
जे हरी नामा मृतात तर तरले।
तरले ते चि न केवल,
त्याचे भवसागरीं पितर तरले॥

महाराष्ट्र मे मोरोपत नामक बडे सुप्रसिद्ध कवि हुए हैं। आप जानते ही हैं कि जिस प्रकार आभूषण सन्नारी के सौन्दर्य को बढा देतेहैं उसी प्रकार कवि भी अपनी भाषा को रस एव उपमा आदि अलकारो से सुन्दर बना देते हैं। इस पद्य मे भी मोरोपत कवि ने अलकारमय भाषा में कहा है—जिसने अपने घर को जहर के समान समझकर त्याग दिया हैं तथा हरि नाम यानी परमात्मा के नाम रूपी अमृत का पान किया है वह स्वय तो भवसागर तैरा ही है, साथ ही उसके पूर्वज भी तर गये हैं।

मैं इस विषय को मराठी भाषा में थोडा सा कहता हू —

"ज्या आत्माने घराला विषा प्रमाण समजुन, ज्या प्रमाणे हे प्राणातक आहे त्याच प्रमाणे हे ससार सुद्धा आत्म साधनेत घातक आहे असें समजुन जे परमेश्वरा चे नाम स्मरण रूपी अमृताने तरबतर झाले, भिजून गेले, गुगले, रगले। सत्य, अहिसा, ब्रह्मचर्य, तप, जप मधे जे लागले हे जे दहा प्रकारा चे धर्म आहेत, धर्माचा काही एक स्वरूप नाही। विशेष काय सागावे, त्याचा मुळे त्याचे पितर सुद्धा या भवसागर तरले।"

अर्थात्—"जिस आत्मा ने घर को विष के समान समझा है और जिस प्रकार विष प्राणघातक है, उसी प्रकार ससार भी आत्म-साधना का घातक है ऐसा मानकर भगवान के नाम स्मरण रूपी अमृत मे जो भीग गये हैं, रग गये तथा सत्य, अहिसा, ब्रह्मचर्य, तप, जप आदि दस प्रकार के धर्मों को अपना रहे हैं वे स्वय तो ससार-समुद्र से पार हुए ही हैं, साथ ही उनके पितर भी तर गये हैं यानी सदा के लिये अमर हो गये है।"

हम स्वय भी भगवान महावीर का नाम लेने के साथ ही उनके माता-पिता श्री सिद्धार्थ राजा और त्रिशला रानी को भी श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। वह क्यो ? इसीलिये कि उन्होने धर्म के सच्चे स्वरूप को समझा और उसे अगीकार किया था। धर्म साधारण चीज नही है, उसके समान उत्कृष्ट चीज इस ससार मे कोई है ही नही। जो इसे सच्चे मायने मे समझ लेते हैं तथा जीवन मे रमा लेते हैं वे अपने साथ ही अनेकानेक अन्य प्राणियो का भी उद्धार कर देते हैं।

भगवान महावीर अपनी साधना करते थे किन्तु चण्डकौशिक सर्प को अपने प्रभाव से आठवें स्वर्ग मे पहुचा दिया। मनुष्यो की हत्या करके उनकी अगुलियो की माला पहनने वाले अगुलिमाल डाकू और प्रतिदिन छ प्राणियो की हत्या करने वाले अर्जुन माली को भी उन्होने आत्म-कल्याण के मार्ग पर लगाया।

कहने का अर्थ यही है कि सन्त-मुनिगण एव अवतारी पुरुष अपना जन्म लेकर अपना कल्याण तो करते ही हैं, साथ ही ससार के अन्य प्राणियो के सहायक बनते है। औरो का दुख भी उन्हें अपना दुख महसूस होता है क्योंकि अपनी आत्मा के समान ही वे अन्य समस्त प्राणियो की आत्मा को मानते हैं। अपने गाँव जिले या प्रात के प्राणियो का ही नही, वरन सम्पूर्ण विश्व के प्राणियो का उद्धार हो, ऐसा वे चाहते हैं।

"शिवमस्तु सर्व जगत,
परहित निरता भवन्तु भूतगणा ॥

दूसरो के कष्टो का निवारण करने मे जो लोग लगे हैं, ऐसे लोग ससार मे होवें।

अपना स्वार्थ तो प्रत्येक प्राणी सिद्ध करता ही है चाहे वह अमीर हो या गरीब हो। पर इसमे क्या बडी बात है ? व्यक्ति की महानता उसमे है कि वह दीन, दरिद्र, दुखी, असहाय एव अभावग्रस्त प्राणी की सहायता करे, उनकी सेवा करे और उनसे प्रेम रखे। ऐसा करने वाले व्यक्तियो का जीवन ही सफल कहलाता है।

"उपासक दशागसूत्र" के मूल पाठ मे आनन्द श्रावक का वर्णन आता है। वे साधु नही थे, फिर भी कितने महान थे यह हम शास्त्रो के पठन से जान सकते हैं। उनको कई उपमाए विशेषण के तौर पर दी गई थी।

सर्वप्रथम उन्हे 'आधारभूत' कहा गया है। जिस प्रकार छत के लिये खभे आधारभूत होते है उसी प्रकार वे अनेक प्राणियो के लिये सभी प्रकार का

आधार बने हुए थे। अनेकानेक प्राणी उनकी छत्रछाया के नीचे पलते थे और अपनी जरूरतो को पूरा करते थे।

दूसरा विशेषण उनके लिये था 'चक्षुभूत'। प्राणी के सम्पूर्ण शरीर मे आख का बडा भारी महत्व होता है। सभी जानते हैं और कहते हैं—आँखो के बिन सारा जग ही सूना है।

कविवर रहीम ने कहा है—

मन सो कहा रहीम प्रभु दृग हो कहा दिवान।
दृगन देखि जेहि आदरे, मन तेहि हाथ बिकान॥

आँखे मन के लिये दीवान के समान होती हैं। और जो व्यक्ति आँखो के द्वारा किसी के भव्य व्यक्तित्व को एव आँखो के द्वारा झलकने वाले उसके स्नेह, करुणा, वात्सल्य आदि सुन्दर सद्गुणो को पहचान कर उनका आदर करता है मन उसके हाथ स्वय ही विक जाता है अर्थात् प्रभावित हो जाता है, दूसरे शब्दो मे मन के आँखें नही होती वह तो शरीर मे रहे हुए चक्षुओ की कसौटी पर कसी जाने वाली वस्तुओ के प्रति आकर्षित होता है या नफरत करता है, यानी आँखो की सूचना के आधार पर ही वह अपना कार्य करता है।

तो मैं आपको आँखो के महत्व को बता रहा था और कह रहा था कि आँखें ही जहा अपने मन के भावो का दर्पण होती हैं, वहाँ दूसरे मन को परखने की भी शक्ति रखती हैं। किसी दार्शनिक ने तो यहाँ तक कहा है कि —"आँख जहाँ ब्रह्माड एव शरीर के आदान-प्रदान का माध्यम है, वही वह आत्मा-परमात्मा के अनन्त प्रणय का सेतु भी है।"

आनन्द श्रावक को भी 'चक्षुभूत' इसलिये कहा गया है कि वे अज्ञानी, पथभ्रष्ट प्राणियो का मार्ग-दर्शन करने मे पूर्ण समर्थ थे।

उनकी तीसरी विशेषता यह थी कि वे ससारी प्राणियो के लिये 'मेढीभूत' थे ऐसा शास्त्रो मे आता है। किसान खलिहान मे फसल इकठ्ठी करता है और फिर उसमे से अनाज निकालने के लिये उसे जमीन पर बिछाता है। तत्पश्चात उसपर बैलो को एक कतार मे बाधकर उस पर खूब घुमाता है ताकि उनके पैरो से अनाज झड जाए और घास अलग हो जाए। पर ध्यान देने की बात है कि बैल बिना किसी आधार के उस पर नही घूम पाते और इसलिये अनाज के बीचोबीच लकडी की एक मेढी बनाकर गाड देते है और उससे बंधी हुई रस्सी के सहारे से बैल घूमते रहते हैं।

आनन्द श्रावक भी मनुष्यो के लिये मेढी के समान थे यानी उनकी सद्-

प्रेरणा, सद्‌शिक्षा और सहायता के आधार पर अनेक प्राणी अपने जीवन को सफलतापूर्वक विताते हुए उस पुण्य-कर्म रूपी अनाज के दाने इकठे करते थे जो उनके परलोक मे काम आते थे ।

आनन्द श्रावक को 'अपराजेय' भी कहा जाता था । वह इसलिये कि धर्म तीन काल और तीनो लोको मे किसी भी प्रकार असत्य सावित नही होता और किसी भी तर्क से उसका खण्डन नही किया जा सकता । आनन्द ऐसे ही सच्चे धर्म को धारण करनेवाले थे अत वे किसी भी प्रकार की मिथ्या धारणाओ से पराजित नही हो सकते थे ।

उनके घर मे वारह करोड सोनैय्या होते हुए भी वह उस धन से सर्वथा उदासीन और विरक्त रहते थे । अपने ऐश्वर्य में उनकी न तो तनिक भी ममता थी और न ही उसके लिये गर्व का भाव था ।

हालाकि इतिहास मे मम्मन सेठ का भी वर्णन आता-है किन्तु उसे कोई आदर से याद नही करता और न ही लोगो के समक्ष वह आदर्श के रूप मे उपस्थित किया जाता है , इसका कारण यही है कि वह करोडपति होते हुए भी अत्यन्त कृपण था तथा एक कौडी भी किसी की सेवा या सहायता मे खर्च नही करता था । किन्तु इसके विपरीत आनन्द श्रावक को आप भी लोग वडे सम्मान, श्रद्धा एव आदर्श पुरुप या श्रावक के रूप मे स्मरण करते हैं । वह इसीलिये कि उसका जीवन औरो की सेवा तथा सहायता मे ही व्यतीत हुआ था । एक भजन की लाइन मुझे याद आ रही है, जिसमे कहा गया है—

उसी का जीवन है धन्य जग मे,
जो सेवा व्रत मे लगा हुआ है ।

वस्तुतः उसी व्यक्ति का जीवन इस जगत मे धन्यवाद का पात्र हैं जो औरो की सेवा मे व्यतीत होता है । सेवा-धर्म सवसे कठिन धर्म है जिसे प्रत्येक व्यक्ति कभी नही अपना पाता । यद्यपि सेवा के लिये धन अनिवार्य नही है, शरीर, मन और वाणी से भी व्यक्ति अनेक व्यक्तियो को दुख से उवार सकता है । सेवा हृदय और आत्मा को पवित्र वनाती है, मन की सकुचित एव अनुदार भावो से रक्षा करती है तथा शत्रु को भी मित्र वनाकर छोडती है ।

कहा जाता है कि एक वार किसी राजा का हाथी भडक गया और वह शहर के मार्गो पर विना महावन और अकुश के घुमने लगा। कई व्यक्तियो को उसने चोट पहुचाई और वाजार मे दुकानो पर तोड-फोड करके काफी नुकसान किया । इसी प्रकार घूमते-घूमते उसके सामने एक छोटा सा वालक आ गया ।

वालक भाग नही सकता था और हाथी उसे सूड मे उठाने ही जा रहा था कि एक बहादुर व्यक्ति अपनी जान की परवाह न करते हुए हाथी के सामने आया और उस वच्चे को खीच कर ले गया।

वच्चे का वाप दूर खडा बचाओ, बचाओ, की चीख-पुकार मचा रहा था पर उसकी हिम्मत अपने वालक को भी हाथी के सामने से लाने की नही हुई। किन्तु सौभाग्यवश अपनी जान पर खेल जाने वाले उस व्यक्ति ने वालक को वचाया और उसके पिता के समीप लाकर छोड दिया।

वन्धुओ, वच्चे के वाप और उसके रक्षक मे ऐसी दुश्मनी थी कि दोनो एक दूसरे के खून के प्यासे वने हुए फिरते थे। किन्तु जव उस छोटे शिशु पर प्राण-सकट आ पडा तो उसके पिता के दुश्मन ने अपनी दुश्मनी को भूलकर वालक को वचा लिया। और फिर आप ही सोचिये कि क्या उनकी दुश्मनी फिर भी वनी रह सकती थी ? नही, वच्चे का पिता अपने दुश्मन किन्तु वालक के रक्षक के पैरो पर गिर पडा और उसी क्षण उनकी दुश्मनी तो सदा के लिये समाप्त हो ही गई, वे भविष्य के लिये सच्चे मित्र और एक दूसरे के हितचिन्तक वन गये।

तो यह सेवा या सहायता का ही फल था कि एक-दूसरे की जान के ग्राहक दो व्यक्तियो मे वैर-भाव समाप्त हुआ और वे आपस मे दोस्त वन गए।

सेवाव्रत का पालन करना वडा कठिन होता है। अनेक वार तो उसके लिये नाना प्रकार के अपमानजनक शव्द भी सुनने पडते हैं। मान लीजिये आप व्याख्यान सुनने के लिये घर से रवाना होते हैं और मार्ग मे किसी परिचित के मिलने पर उससे भी अपने साथ चलने का आग्रह करते है तो कई ऐसा कहनेवाले भी मिल जाते हैं—"तुम अपने लिये स्वर्ग का दरवाजा खोल लो, हम तो जव तुम पालकी मे वैठोगे तो उसका एक डडा पकड लेंगे।" इतना ही नही, वे यह भी कहने से नही चूकते कि "सव साधु-महात्मा ढोगी हैं।" अरे भाई ! हम ढोगी ही सही पर उस वोलने वाले का तो हमने कोई नुकसान नही किया ? फिर वह क्यो अपनी जवान गन्दी करते हैं ?

एक वार जवकि मैं वारह वर्ष का ही था और अपने गुरु म० के पास से प्रतिक्रमण सीखकर आया ही था, एक दिन मैंने एक वुजुर्ग से कहा—'दादा ! आज अष्टमी है प्रतिक्रमण सुनने स्थानक मे चलो।'

उत्तर मे तुरन्त ही उन्होंने कहा—"वडो धर्म रो धचेडो आयो है।" लोग इस प्रकार व्यक्तियो को तिरस्कृत भी करते हैं। हमने तो उस दिन अपना प्रतिक्रमण किया ही पर उनकी वात उस दिन से लेकर अव तक भी कभी-

कभी याद आ जाती है। और लगता है कि छोटी से छोटी सेवा मे ही कितनी बाधाएँ मनुष्य के जीवन मे आती है तो फिर बडे-बडे कार्यों मे तो बाधाएँ आना और अप्रिय प्रसगो का उपस्थित होना स्वाभाविक ही है।

किन्तु जो बहादुर व्यक्ति अपनी लगन के पक्के होते हैं वे किसी भी बाधा या सकट की परवाह न करके अपने लक्ष्य की ओर बढते जाते हैं। विघ्न और बाधाओ से जो घबरा जाता है वह कभी भी अपने उद्देश्य मे सफल नही हो सकता और मार्ग मे ही हिम्मत खो बैठता है।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक मे लिखा है :—

प्रारभ्यते न खलुविघ्नभयेन नीचै,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या।
विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

इस श्लोक मे कवि ने मनुष्यो की तीन श्रेणियाँ बताई हैं—उत्तम, मध्यम एव निकृष्ट। इन तीनो के विषय मे क्रमश कहा है—निकृष्ट व्यक्ति बाधाओ के डर से काम शुरु ही नही करते, मध्यम प्रकृति वाले कार्य का प्रारभ तो कर देते है किन्तु ज्योही कोई विघ्न उपस्थित हुआ, उसे छोड देते हैं। किन्तु इसके विपरीत जो उत्तम पुरुष होते हैं वे बार-बार विघ्नो के आने पर भी काम को जब एक बार आरभ कर देते हैं तो कदापि उसे नही छोडते।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि हमे उत्तम पुरुष बनना है तथा धर्म को अपना कर उसे कभी भी छोडना नही है चाहे दुनिया हमारा उपहास करे, निंदा करे या हमारे मार्ग मे अन्य कोई भी बाधा उपस्थित क्यो न करे।

आप जानते ही हैं कि जगत और भगत मे कभी मेल नही रहा है। भक्त मीराबाई को उसकी भक्ति के कारण ही अनेक बार मार डालने की कोशिश की गई और जहर भी पिलाया गया। प्रह्लाद को भक्त होने के परिणामस्वरूप ही स्वय उसके पिता हिरणकश्यप ने कई बार उसे जान से मारने का प्रयत्न किया। इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण हमारे इतिहास मे भरे पडे हैं। अभी-अभी मैंने जिसके विषय मे बताया है उन आनन्द श्रावक एव कामदेव श्रावक को भी भगवान की भक्ति करने और धर्म मे दृढ रहने के कारण देवताओ तक ने उन्हे सताया और कसौटी पर कसा। किन्तु इन सच्चे भक्त और सच्चे साधको ने मर जाना कबूल किया पर अपने धर्म से डिगे नही और न मरणातक कष्ट पहुचाने वाले नाना कष्टो के डर से अपने मुक्ति-प्राप्ति के उद्देश्य का ही त्याग किया।

क्योकि वे जानते थे—इस ससार मे दुष्टो का अभाव तो कभी भी नही

हो सकता। स्वय काल भी इस पृथ्वी को दुष्ट प्राणियो और दुखद वस्तुओ से रहित करने मे समर्थ नही है। फिर साधारण प्राणी की तो बात ही क्या है ? ऐसा विचार कर धर्म-परायण व्यक्ति स्वय उनसे किनारा करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

जिस प्रकार भूमि पर के काटो और ककरो से पैरो की रक्षा करने के लिये समग्र पृथ्वी को तो चमडे से मढा नही जा सकता, किन्तु केवल अपने पैरो मे जूतिया पहन लेने से पृथ्वी चमडे से मढी हुई सी लगने लग जाती है और पैरो का बचाव हो जाता है। इसी प्रकार ससार मे अनेक दुष्ट, निंदक, ईर्ष्यालु और साधना का उपहास करने वाले निकृष्ट व्यक्ति होते हैं। उन सबसे लडा नही जा सकता और सभी को समझाया भी नही जा सकता। ऐसा विचार कर सच्चे साधक अपनी आत्मा को ही दृढता के कवच से ढक लेते हैं। वे यही प्रयत्न करते हैं कि बाह्य ससार की अनिष्ट और आत्म-घातक विचार धाराए उनकी आत्मा तक न पहुचें तथा जगत की निंदा और उपहास इनके मन को प्रभावित न कर सके। धर्म के सहारे से ही यह सभव होता है और आनन्द तथा कामदेव श्रावक आदि ने इसे सिद्ध भी कर दिया है जैसा कि हम उनकी जीवनी को पढने से जान सकते है।

हिन्दुस्तान के इतिहास मे भी आपने पढा होगा कि बादशाह औरगजेब ने गुरु गोविंदसिह के दो मासूम बालको को जिंदा दीवाल मे चुनवा दिया था। इसका कारण यह था कि वे बच्चे मुसलमान बनने के लिए तैयार नही हुए थे। उन्हे लाख लालच और नाना प्रकार के प्रलोभन दिये गए किन्तु अपने धर्म पर दृढ रहने वाले वे शेर बच्चे टस से मस नही हुए।

क्या आज हम लोगो मे इतनी आत्म-दृढता है ? मैं तो समझता हू कि अगर प्राण-नाश की नौबत आ जावे तो अधिकाश हिन्दू व्यक्ति चाहे जिस धर्म मे दीक्षित हो जाने को तैयार हो जाएंगे। दुकानो पर बैठकर दो-दो, चार-चार पैसो के लिए भगवान की और धर्म की सौगध खा जाने वाले व्यक्तियो को धर्म पर मर जाने की हिम्मत पड भी कैसे सकती है ?

किन्तु मेरे भाइयो! ऐसा मुरादाबादी लोटा बने रहने से काम नही चल सकता और धर्म को इस प्रकार ग्रहण किये रहने से भव-सागर तैरा नही जाता। हमें दृढता और आत्मा की सच्चाई से यह प्रतिज्ञा करनी पडेगी कि—

गहिओ सुग्गइ मग्गो, नाह मरणस्स बीहेमि।

अर्थात् मैंने सद्गति के मार्ग धर्म को अपना लिया है। अब मैं मृत्यु से नहीं डरता।

आत्मा से किया हुआ ऐसा निश्चय ही हमें साधनापथ मे आने वाली समस्त विघ्न-बाधाओ से मुकाबला करने की शक्ति प्रदान करेगा तथा भव-सागर से पार उतारेगा।

१९ | विषम-मार्ग मत अपनाओ !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

इस पृथ्वी पर गलियो, सडको एव महापथो का जाल सा बिछा हुआ है। प्रतिदिन सुबह से लेकर शाम तक और रात तक भी असख्यो व्यक्ति अपने-अपने उद्देश्यो को लेकर किसी न किसी मार्ग पर चलते हैं। लेकिन वे अपनी मजिल पर तभी पहुँच पाते हैं, जब कि मार्ग भ्रष्ट न हो तथा मार्ग मे ही बैठ न जायें। न तो मार्ग मे रुकजाने वाला व्यक्ति अपनी मजिल को पाता है और नही मार्ग भ्रष्ट होने वाला। अगर व्यक्ति को पूर्व की ओर जाना है पर वह चल पडे पश्चिम की ओर तो कैसे अपने लक्ष्य को प्राप्त करेगा और इसी प्रकार सीधी सडक छोडकर ऊबड-खाबड रास्ते पर चल पडने वाला किस प्रकार अपने निर्दिष्ट स्थान को पहुँच सकेगा। उलटे वह काँटे, ककर झाडी-झकाड और पत्थर-पहाडो मे भटककर अपने पैरो को क्षत-विक्षत कर लेगा और वस्त्रो को भी सुरक्षित नही रख पाएगा। परिणाम यह होगा कि मजिल तो उसे मिलेगी नही और मार्ग मे ही कष्ट और दुख से पश्चात्ताप करना पडेगा।

हमारा धर्म भी मोक्ष तक पहुँचा देनेवाला एक राजमार्ग है। अनेक यात्री इस पर चल पडते हैं, किन्तु क्वचित ही कोई महा-मानव अपनी मजिल तक पहुँच पाता है। इसका कारण यह है कि इस पथ पर चलने वाले व्यक्तियो मे से अधिकाश तो मजिल की प्राप्ति मे अनिश्चित समय जानकर अधैर्यवश बीच मे से ही लौट आते हैं, अधिकाश विघ्न-बाधाओ से घबराकर भाग खडे होते हैं और अधिकाश तो दत्तचित्त होकर इस मार्ग पर चल ही नहीं पाते, क्योकि इसके आस-पास फैले हुए सासारिक प्रलोभन उन्हें आकर्षित कर लेते हैं और वे बीच मार्ग मे ही रुक जाते हैं। फिर भी जो बच जाते हैं

उनकी चौथी गति यह होती है कि वे मार्ग की सही पहचान न होने के कारण अपने जैसे ही अन्य यात्रियो की बातो मे आकर किसी गलत मार्ग पर चल देते हैं और जैसा कि स्वाभाविक ही है उन्हे मजिल तो मिलती नही और थक जाने से जब शारीरिक शक्ति भी क्षीण हो जाती है तो घोर पश्चाताप के सागर मे जा पडते हैं और शोक करते हैं।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के पाचवें अध्याय की चौदहवी एव पद्रहवी गाथा मे भगवान महावीर ने फरमाया है—

जहा सागडिओ जाण, सम हिच्चा महापह।
विसम मग्गमोइण्णो, अक्खेभग्गम्मि सोयइ ॥
एव कम्म विउकम्म अहम्म पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहपत्ते, अक्खे भग्गे व सोयइ ॥

अर्थात्—जिस प्रकार जानबूझकर राज-मार्ग को छोडकर विषम मार्ग पर जाने वाला गाडीवान धुरी के टूट जाने पर शोक करता है, उसी प्रकार धर्म छोडकर अधर्म ग्रहण करने वाला अज्ञानी मृत्यु के मुँह मे जाने पर शोक करता है।

बधुओ, हम देखते हैं कि इस पृथ्वी पर के छोटे और आँखो से दिखाई देने वाले मार्ग पर भी अगर गाडीवान गाडी को सही तरीके से न चलाए तो जान जाने की नौबत आ जाती है। सीधे और सम रास्ते पर चलाने पर बैलो को तकलीफ नही होती, गाडी का कोई पुर्जा टूटने का डर नही रहता, अन्दर रखी हुई वस्तुओ को टूटने-फूटने का भय नही होता और उसमे बैठे हुए व्यक्तियो की जान भी सुरक्षित रहती है। किन्तु अगर गाडी को सममार्ग पर न चलाया जाय तो सबसे पहले तो बेजुबान बैलो को चलने मे बडा कष्ट होता है क्योकि उनके कधो पर मनो बोझ रहता है, दूसरे उसमे बैठे हुए प्राणियो के प्राण सकट मे रहते हैं और कही गाडी उलट गई तो गाडी तो टूट-फूट जाती ही है, उसमे रहा हुआ सामान भी यत्र-तत्र बिखर जाता है और इस प्रकार केवल सब तरह के नुकसान के अलावा और कुछ भी हाथ नही आता। मजिल तो दूर छूट जाती है सो है।

हम आये दिन देखते हैं और सुनते भी हैं कि अमुक स्थान पर बस उलट गई या अमुक पहाडी पर से लुढककर चूर-चूर हो गई। सारे यात्री भी कुछ क्षणो मे ही जान से हाथ धो बैठे। यह क्यो होता है ? केवल ड्राइवर की असावधानी के कारण। खतरे के स्थान पर अगर समय की परवाह न करके वह अपनी बस को धीमी गति से चलाए तो न उसके उलटने

का डर रहे और न इसीप्रकार सामने से आनेवाली किसी बस या ट्रक से टकरा जाने का ही डर रहे।

इसके अलावा आज व्यक्ति इतना अधीर हो गया है कि वह प्रत्येक मार्ग के लिये 'शार्ट-कट' ढूँढता है। वह सोचता है कि इस छोटे रास्ते से चलने पर शीघ्र अपने गन्तव्य पर पहुच जाएँगे। किन्तु वह भूल जाता है कि ऐसे छोटे मार्ग ऊबड-खावड, आडे-टेडे और कटकाकीर्ण होते हैं। उन विषम मार्गों पर बैल गाडी चलाने पर कभी उसकी धुरी टूट जाती है, या कभी बैलो की गर्दनें टूट जाती हैं और अगर वे वाहन कार या बस के रूप मे हुए तो पहियो मे पचर हो जाते हैं और सारे यात्री घटो के लिये वहीं भूखे-प्यासे पडे रहने के लिये बाध्य हो जाते हैं। यह सब विषम मार्ग पर चलने के कारण होता है। सम मार्ग पर यह परिस्थिति यकायक नही आती। यकायक शब्द मैंने इसलिये कहा है कि अगर होनहार ही अशुभ हो तो उसे विषम या सम किसी मार्ग पर नही रोका जा सकता।

महाकवि कालिदास ने एक स्थान पर लिखा है—

भवितव्याना द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।

भावी के लिये सर्वत्र द्वार खुले रहते हैं।

तात्पर्य यही है कि होनी को कोई रोक नही सकता और उसके अनुसार ही सारे सयोग इकट्ठे हो जाते हैं।

आचार्य चाणक्य ने भी कहा है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृश।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता॥

अर्थात्—वैसी ही बुद्धि हो जाती है, वैसा ही उपाय होता है और वैसे ही सहायक मिल जाते हैं जैसा कि होनहार होता है।

तात्पर्य यही है कि होनी पर तो किसी का वश नही है और लाख प्रयत्न करने पर भी वह घट ही जाता है। आप व्यापारी हैं और लाखो का व्यापार करते हैं। वस्तुओ की तेजी-मंदी देखकर ही आप अपनी पूँजी उसमे लगाते हैं। फिर भी अगर घाटा आ जाय तो उसे होनहार और कर्मफल माना जाता है। आपका इसमे दोष नही। दोष वही माना जाता है जहाँ व्यक्ति जानबूझकर भूल करे। अर्थात् गाडीवान्, मोटर ड्राइवर या राहगीर सम और सीधे मार्ग को छोडकर विषम मार्ग पर चलने लगे तो यह उसकी भूल और अज्ञान का परिचायक है।

साराश यही है कि एक मार्ग सम होता है और दूसरा विपम । अत प्रत्येक मजिल की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को सममार्ग पर ही चलना चाहिए विपम मार्ग पर नही । अन्यथा उसे विपम मार्ग पर चलने वाले गाडीवान के समान पश्चात्ताप करने की नौवत आ सकती है ।

यह एक व्यावहारिक दृष्टान्त है जो गाथा मे दिया गया है और आगे कहा गया है कि विपम मार्ग पर चलने वाले गाडीवान के समान ही जो व्यक्ति धर्म के सम मार्ग को छोडकर अधर्म के विपम मार्ग पर चलता उसे अत समय मे शोक करना पडता है ।

'स्थानाग सूत्र' मे कहा गया है—

एगा अहम्मपडिमा, ज से आया परिकिलेसति ।

एक अधर्म ही ऐसी विकृति है, जिससे आत्मा क्लेश पाती है ।

'आदिपुराण' भी इसी वात की पुष्टि करता है कि—

नीचैर्वृत्तिरधर्मेण धर्मेणोच्चै' स्थिति भजेत् ।
तस्मादुच्चै' पदवाञ्छन् नरो धर्मपरो भवेत् ॥

अर्थात्—अधर्म से मनुष्य की अधोगति होती है और धर्म से ऊर्ध्वगति । अत ऊर्ध्वगति चाहने वाले को धर्म का आचरण करना चाहिए ।

सच्चा धर्म केवल परलोक मे ही जीव के लिए सुखकर होता है और मरने के पश्चात् ही उच्चगति प्रदान करता है, इतनी ही उसकी मर्यादा नही है । अपितु इस लोक मे भी वह प्रत्यक्ष रूप से फल प्रदान करने वाला सावित होता है ।

आप सोचेंगे यह किम प्रकार होगा ? उत्तर मे ध्यानपूर्वक समझना चाहिए कि मनुष्य को इस जन्म मे ही दो प्रकार से लाभ हासिल होता है । एक प्रकार का लाभ आतरिक होता है और दूसरा वाह्य ।

आतरिक लाभ—

धर्म से आतरिक लाभ यह होता है कि जव व्यक्ति अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, दया, क्षमा, दान, शील, तप तथा भावरूप धर्म को अपना लेता है तो उसके हृदय मे शाति स्नेह, समता एव सतोप के निर्झर प्रवाहित होने लगते हैं जो उसकी आत्मा को प्रतिपल एक अवर्णनीय सुख मे डुवोये रहते हैं । साथ ही उसमे आत्म विश्वास जाग जाता है और उस दृढ विश्वास के कारण न तो वह इहलोक मे आधि, व्याधि और उपाधिजनित चिन्ताओ से भयभीत होना

है और न ही परलोक के भय से त्रस्त होता है। उसका मन सदैव हलका और उत्साह से परिपूर्ण रहता है।

अन्त करण का विश्वास और सुख कपोल-कल्पित नही है वरन् प्रत्यक्ष मे ही अनुभवगम्य है। उदाहरण स्वरूप कामदेव श्रावक के अन्त करण ने सुख-रूप धर्म को भली भाँति अनुभव कर लिया था और उसमे वे इतने तल्लीन रहते थे कि जिस देवता ने उनकी परीक्षा लेने के लिए पिशाच, हाथी और सर्प का रूप बनाकर उन्हें घोर कष्ट देना चाहा, उस समय भी वे अपनी आत्म-शक्ति और आतरिक सुख के कारण रचमात्र भी विचलित नही हुए। उलटे देवता को ही पराजित होकर उनके चरणो मे झुकना पडा। ऐसे उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म का विश्वास और धर्म-जनित सुख कोई साधारण चीज नही है। वह आत्मा की बडी भारी शक्ति है जो उसके आतरिक फल के रूप मे प्राप्त होती है इसे ही धर्म का आतरिक लाभ कहा जा सकता है।

बाह्यलाभ—

धर्म से बाह्य और प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला लाभ भी कम नही है। हम सहज ही देख सकते हैं कि जिस व्यक्ति के अन्त करण मे धर्म का निवास होता है वह पापो से विषधर नाग के समान बचता है। धर्म-परायण व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, असत्य अन्याय, क्रूरता एव अनैतिकता आदि से सदा दूर रहता है।

अगर वह व्यापारी है तो उतना ही मुनाफा अपनी वस्तुओ का लेगा जितना उसे लेना चाहिए। झूठ बोलते हुए वह ग्राहको से दुगुनी और चौगुनी कीमत वसूल नही करता। परिणामस्वरूप उसे अपने सत्य-धर्म और ईमानदारी का तुरन्त ही लाभ यह मिलता है कि उसकी साख जम जाती है और लोग उसे सच्चा मानकर सदा उसकी दुकान से ही वस्तु निश्चित होकर ले जाते हैं।

इसीप्रकार कोई व्यक्ति अगर नौकरी करता है, किन्तु कभी किसी प्रकार की चोरी नही करता, कभी रिश्वत नही लेता और अपने कार्य मे सावधान रहता है, तो स्वय उसका मालिक उसके प्रति सदय रहता है, उससे ममत्व रखता है और उसका सम्मान करता है तथा अन्य लोग भी उसकी प्रशसा करते हैं।

साराश यह है कि धर्म मनुष्य के अदर रहे हुए सदगुणो को प्रकाशित करता है और सद्गुणी पुरुष की ख्याति एव प्रशसा की सुगन्ध बिना फैलाए हुए भी पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक पहुच जाती है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र, शीलवान सुदर्शन, महादानी कर्ण, सती सुभद्रा तथा चन्दनबाला

आदि को धर्म का फल उनके अगले लोक मे तो मिला होगा जो मिला ही होगा पर इस लोक मे ही मिल गया था और वे असख्य व्यक्तियो के आदर पात्र एव पूज्य बनकर अपने आपको आदर्श बना गये थे ।

महात्मा गाँधी का भी परलोक हम नही मानते किन्तु उनके अहिंसा एव सत्य-कर्म को ग्रहण कर लेने के कारण केवल भारत ही नही, वरन् अन्य समस्त देश भी आज उनके पदचिन्हो पर चलने का प्रयत्न करते हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन भी एक ऐसे ही महा-मानव थे जिन्होने धर्म का प्रत्यक्ष और बाह्य लाभ अपने जीवन मे ही हासिल कर लिया था ।

एक बार वे अपने घोडे पर सवार होकर घूमने के उद्देश्य से सडक पर चल पडे ।

रास्ते मे उन्होने देखा कि कुछ मजदूर एक बडे भारी लक्कड को उठाने का प्रयास कर रहे थे । उन मजदूरो मे एक वृद्ध व्यक्ति था और वह निर्बलता के कारण अपने साथियो के समान उस लट्ठे को उठाने मे जोर नही लगा पा रहा था । परिणामस्वरूप उसकी ओर का लट्ठा बार-बार झुक जाता था ।

यह देखकर समीप ही खडा मजदूरो का जमादार उसे बार-बार फटकार कर ठीक तरह से लक्कड उठाने का आदेश दे रहा था । पर उसके आदेश से तो वृद्ध मे शक्ति का आविर्भाव हो नही सकता था, अत वह बार-बार पूरा प्रयत्न करके भी बेहाल हुआ जा रहा था ।

यह देखकर वाशिंगटन ने जमादार से कहा—"भाई ! उस वृद्ध की ओर से तुम्ही थोडी मदद कर दो ।"

पर जमादार न रौब से उत्तर दिया—"मैं जमादार हू । मेरा काम मजदूरो से कार्य करवाना है उनकी सहायता करना नही ।"

यह सुनकर जार्ज वाशिंगटन चुपचाप घोडे से उतरे और उन्होंने उस निर्बल वृद्ध से कहा—

'बाबा, तुम हट जाओ, मैं लट्ठा उठवा देता हू ।"

वृद्ध ने इन्कार किया पर वे माने नही और तुरन्त मजदूरो के साथ लगकर उन्होंने लट्ठा उठवा दिया । तत्पश्चात् जमादार को नमस्कार करके बोले— "जमादार जी ! अगर फिर कभी आवश्यकता हो तो मुझे बुलवा लीजियेगा मेरा नाम जार्ज वाशिंगटन हैं ।"

जमादार अपने देश के राष्ट्रपति को नाम मे जानता था, शक्ल मे नही । अत ज्योही उन्होंने अपना नाम बताया उसके पैरो तले से जमीन

खिसक गई और गर्व चूर-चूर हो गया। तुरन्त ही वह राष्ट्रपति के पैरो पर गिर पडा और अपने अमानवीय व्यवहार के लिये बार-बार क्षमा मांगने लगा।

जार्ज वाशिंगटन ने उसे क्षमा करते हुए कहा—"भविष्य मे कभी तुम इस प्रकार निर्दयतापूर्वक किसी मजदूर से पेश मत आना।"

बधुओ, यह उदाहरण देने मे मेरा अभिप्राय यही है कि सेवा, सहायता अथवा सहानुभूति के ये मानवोचित गुण हृदय मे तभी जागृत होते है, जबकि वहाँ धर्म का आवास होता है और इन गुणो के कारण ससार के अनेक व्यक्तियो को जब लाभ पहुचता है तो वे अपने उपकारी को हृदय से दुआयें देते हैं तथा उसकी ख्याति को प्रसारित करते हैं। इस प्रकार धर्म का बाह्य-फल भी प्रत्यक्ष मे हासिल होता देखा जाता है।

पर जो व्यक्ति धर्म को छोडकर अधर्म का सेवन करते हैं उन्हे न इस लोक मे कुछ हासिल होता है और न परलोक मे ही कोई शुभ फल प्राप्त होने की सभावना रहती है। होता यह है कि वह अपने जीवन काल मे भी ससार के व्यक्तियो के द्वारा अपमानित, तिरस्कृत और अपयश का भागी बनता है और अत समय मे हाय-हाय करता हुआ बाल मरण को प्राप्त होकर कुगतियो मे परिभ्रमण करता रहता है।

बालमरण—

बालमरण और दूसरे शब्दो मे अकाममरण अज्ञानी पुरुष का होता है। ऐसा व्यक्ति जीवन भर धन-सम्पत्ति मे गृद्ध रहता है तथा पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि की ममता मे अपनी आत्मा का भान सर्वथा भूला रहता है। परिणाम यह होता है कि जब उसका अत समय आता है तो वह अत्यन्त विकलतापूर्वक कहता है—"क्या कोई भी डाक्टर, वैद्य या औषधि मुझे मौत के मुँह मे जाने से बचा नही सकती? हाय! मैंने इतनी कठिनाई से यह धन इकट्ठा किया है यह अब मुझ से छूट जायगा, मेरे प्राणो से भी प्रिय परिवार के व्यक्ति अब मुझसे छूट रहे हैं, न जाने अब आगे क्या होगा? मेरी अनेक अभिलाषाए अधूरी रह गई, सारे मसूबे मिट्टी मे मिल गये। मेरी महान् कष्ट से उपार्जित की हुई सम्पत्ति को अब न जाने कौन भोगेगा और कौन मेरे परिवार का पालन-पोषण करेगा? अब मैं क्या करूँ? कैसे मृत्यु से बचूँ? कौन सा उपाय करूँ जो मरने से बच सकूँ।"

इस प्रकार हाय-हाय और त्राहि-त्राहि करते हुए अज्ञानी और अधर्मी व्यक्ति अपने जीवन को समाप्त करते हैं। उन्हे इस बात का दुख नही होता कि मैंने जीवन मे धर्माचरण नही किया, जप, तप, व्रत, स्वाध्याय या शास्त्र-श्रवण नही किया। वरन् दुख इस बात का होता है कि मेरा धन परिवार और ससार

लाया था क्या सिकन्दर, दुनिया से ले चला क्या ?
थे दोनो हाथ खाली, वाहर कफन से निकले।

तो वन्धुओ, यह पडित-मरण मरने वाले की विशेषताएँ होती हैं कि वह मृत्यु के समय समस्त सासारिक वन्धनो से अपनी आत्मा को सर्वथा मुक्त कर लेता है और यहाँ तक विचार करता है कि – 'मुझे कव वह उत्तम क्षण प्राप्त होगा, जवकि मेरी आत्मा इस ससार से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वाभाविक, एव पूर्ण निराकुल अवस्था को प्राप्त होगी तथा मैं सदा के लिये अक्षयसुख की प्राप्ति करूँगा।'

इस प्रकार जो ज्ञानी मृत्यु का आलिंगन करते हैं वे अपने समाधि भाव के कारण सुगति प्राप्त करते हैं। इतना ही नही, इतिहास तो यह वताता है कि जीवन भर पाप एव अधर्म मे रत रहने वाले महापापी भी अगर अन्त समय मे अपनी भावनाओ मे उत्कृष्टता ले आते हैं अर्थात् अपने पापो पर घोर पश्चात्ताप करते हैं तो वे अपने जीवन को सफल वना लेते हैं। गोशालक ने जीवन में भगवान् महावीर की घोर निन्दा की और सदा उनका अनिष्ट करने के प्रयत्न मे लगा रहा, किन्तु अन्त समय मे उसने अपने कुकृत्यो के लिए हार्दिक पश्चाताप किया और समाधि भाव से मृत्यु को प्राप्त होकर आठवें देवलोक मे गया।

भाईयो ! प्रसगवश मैंने आपको वालमरण और पडितमरण के विपय मे भी वता दिया है। क्योंकि हमारा मुख्य विपय यही चल रहा है कि जो भाग्यहीन व्यक्ति धर्म के मार्ग को छोडकर अधर्म के विपम मार्ग पर चलते हैं वे जीवन की समाप्ति के समय गलत मार्ग पर चलते हुए गाडो की धुरी टूट जाने पर उस गाडीवान के समान घोर पश्चाताप करते हुए कहते हैं —

"हाय ! मैं कैसा मूर्ख सावित हुआ कि जीवन भर धर्म रूपी अमृत का त्याग करके विपम-विप का पान करता रहा। अनन्त काल तक चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करने के वाद न जाने कौन से पुण्य-कर्मों के उदय से मुझे यह दुर्लभ मानव-जीवन मिला था और उच्च जाति, कुल, क्षेत्र तथा सतो के समागम का अवसर भी। किन्तु मैंने उनका लाभ उठाकर अपना जीवन धर्मा-राधन और सत्कार्यों मे नही लगाया, उलटे विपय-भोगो की तृप्ति के साधन जुटाने मे और उनके लिए नाना कुकृत्यो को करने मे लगा रहा। सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता हुआ कुमार्ग पर चलता रहा। आज तक मैंने अपनी आत्मा के विशुद्ध रूप के विपय मे नही सोचा, केवल पर-पदार्थों मे मगन रहा। आत्मा के शुद्ध, वुद्ध, आनन्दमय चैतन्य स्वभाव की ओर मेरा

ध्यान कभी नही गया और सासारिक सबधो मे उलझा रहा तथा पर-वस्तुओ को अपने सुख का साधन मानता रहा। परिणाम यह हुआ कि मेरी कर्म बध की परपरा बढती रही और मैं ससार बधन की शृङ्खला मे अधिकाधिक जकडता चला गया। सत-महापुरुषो ने मुझे अनेक वार चेतावनी दी—

तू अति गाफिल होइ रह्यो शठ,
कुञ्जर ज्यो कछु शक न आनै।
माथ नहीं तन में अपनो बल,
मत्त भयो विषयासुख ठानै।
खोंसत-खात सबै दिन बीतत,
नीत - अनीत कछू नहि जानै।
सुन्दर केहरि - काल महारिपु,
दन्त उखारि कुम्भस्थल मानै॥

अरे शठ ! तू अत्यन्त गाफिल और असावधान हो रहा है। जिस प्रकार हाथी किसी से भयभीत नही होता उसी प्रकार अपने शारीरिक बल के घमण्ड मे चूर होकर तू भी किसी से नहीं डरता। तेरा जीवन विषय भोगो के आनन्द को लूटने मे ही व्यतीत हो रहा है और असहाय व्यक्तियो के धन को छीनकर खाने और अन्याय-अत्याचार करने में समय जा रहा है।

कवि सुन्दरदास जी कहते हैं—याद रख ! एक दिन काल रूपी भयकर सिंह तुझे उसी प्रकार मार डालेगा, जिस प्रकार केशरीसिंह हाथी के दाँत उखाड कर उसका कुम्भस्थल फाड डालता है।

तो अन्त समय पश्चाताप करनेवाला व्यक्ति विचार करता है कि मैंने महापुरुषो के सत्य परामर्श को भी नही माना और अपना जीवन व्यर्थ गँवा दिया। अब तो शरीर मे शक्ति नहीं रही, और समय भी नहीं रहा कि अपनी भूल को सुधार सकूँ।

बधुओ, ऐसी बातें सुनकर और पढकर प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा लेनी चाहिए तथा इसी समय चेतते हुए अपने बचे हुए जीवन का सदुपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए। व्यक्ति को यह विचार नही करना चाहिए कि उसके जीवन का कितना समय बीत चुका है और कितना बाकी है। उसे— जब जागे तभी सवेरा वाली कहावत को चरितार्थ करना चाहिए। क्योकि मन मे उत्साह और लगन हो तो व्यक्ति किसी भी उम्र से अपने जीवन को सुधारने मे लग सकता है, और सफलता भी हासिल कर सकता है।

'शेख सादी' जो कि फारसी के बडे भारी विद्वान थे उन्होंने चालीस वर्ष

की अवस्था के बाद पढना प्रारम्भ किया था। पर उसके पश्चात् भी वे इतने बडे विद्वान् एव विचारक बन गए कि उनके लिखे हुए ग्रन्थो को अच्छे-अच्छे विद्वान् आज तक भी पूर्णतया समझने मे समर्थ नही हो सके। पर यह हुआ कब? जबकि उन्हे अपने अज्ञान पर खीझ पैदा हुई और स्वय को तिरस्कृत करते हुए उन्होने कहा—

चहल साल उम्रे अजीदद गुजर,
मिजाजे तु अजहार तुफ्ली नगस्ता।

अर्थात्—चालीस साल की उम्र हो गई, इतनी प्यारी जिन्दगी बीत गई किन्तु मिजाज से अभी बचपन नही गया यानी अज्ञान दूर नही हुआ। इतनी आयु व्यतीत हो जाने पर भी अभी यह समझ मे नही आ सका कि धर्म क्या है? यह जीवन कितनी कठिनाई से मिला है और किस प्रकार इसको सफल बनाया जा सकता है?

इन सब प्रश्नो के उत्तर गभीरता से तब तक नही समझे जा सकते, जब तक कि ज्ञान प्राप्त न किया जाय। और इसीलिए 'शेखसादी' ने चालीस वर्ष की आयु हो जाने पर भी तीव्र लगन के साथ ज्ञान प्राप्त करना प्रारम्भ किया और उसे पाकर ही छोडा। सच्चा प्रयत्न या पुरुषार्थ कभी निष्फल नही जाता। भाग्य भी पुरुषार्थी के अनुकूल हो जाता है। एक श्लोक मे कहा भी है—

यथाग्नि. पवनोद्धूत सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत्।
तथा कर्मसमायुक्त दैव साधु विवधते॥

जिस प्रकार थोडी सी आग वायु का सहारा पाकर बहुत बडी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ का सहारा पाकर दैव का बल विशेष बढ जाता है।

इसीलिए किसी भी व्यक्ति को अपनी आयु के अधिक हो जाने पर भी निराश नही होना चाहिए और जिस क्षण मे भी हृदय मे शुद्ध विचार जागृत हो, उसी क्षण मे उन्हे जीवन मे उतारने का प्रयत्न प्रारम्भ करना चाहिए। अभी-अभी मैंने आपको बताया था कि जीवन भर अधर्माचरण और पाप करने वाला व्यक्ति भी अगर अत समय मे घोर पश्चात्ताप करता है और उसके भाव पूर्णतया विशुद्ध एव उत्कृष्ट हो जाते हैं तो वह समाधिभाव से मरकर शुभ-गति प्राप्त कर लेता है, अर्थात् अपने सम्पूर्ण जीवन का लाभ भी आयु के उस अतिम काल मे उठा लेता है। फिर हमारे पास तो अभी भी समय है। और इस थोडे समय मे भी हम क्यो नही इसका लाभ उठा सकते हैं। यानी अवश्य उठा सकते हैं। क्योकि जीवन की सार्थकता आयु के लम्बे होने से नही

वरन् भावनाओ के उत्कर्ष से होती है। यही बात आपको सत-मुनिराज एव महापुरुष बार-बार समझाते हैं। एक मराठी कवि भी कहते है—

"च्यानाल दग असशी, वदली नजीक आली।
पुढची तमारी जिववा, वद काय काय केली ?

क्या कहा है कवि ने ? यही कि—'तुम दुनियादारी के कारोबार मे और सासारिक झमेलो मे पूरी तरह निमग्न हो गये हो और जितनी उम्र लेकर आए थे, उसका काफी बडा भाग भी व्यतीत कर चुके हो। अब तो जीवन की वदली का समय नजदीक आ गया है, पर जरा बताओ कि आगे के लिए तुमने क्या-क्या तैयारी की है ?"

कवि का कथन अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। उन्होंने व्यतीत होती हुई जिन्दगी को आगे की जिन्दगी से वदली होने का उल्लेख करके भाषा मे सुन्दरता लाने के साथ-साथ भाव मे भी वडी गभीरता भर दी है। साथ ही बता दिया है कि वदली होने पर मिलनेवाले आगामी जीवन के लिये मनुष्यो को अनिवार्य रूप से तैयारी कर लेनी चाहिए। यात्रा मे की जानेवाली तैयारी से तो आप अपरिचित नही हैं। जब भी आप एक शहर से दूसरे शहर को अथवा अपने देश से दूसरे देश को जाते हैं तो पहनने के वस्त्र, ओढ़ने-बिछाने के लिए रजाई-गद्दे, खाने के लिए नाना भाति के पदार्थ और किराया तथा सैर-सपाटे मे व्यय करने के लिये लम्बी रकम लिए बिना नही चलते।

किन्तु एक जीवन को छोडकर दूसरे जीवन की महायात्रा के लिए आप क्या करते हैं ? इस पृथ्वी पर की छोटी-छोटी यात्राओ के लिए तो जमाने भर की तैयारी, और उस महायात्रा के लिए कुछ भी नही ? पर इससे कैसे काम चलेगा ? यहाँ की छोटी यात्राओ मे भी अगर किसी चीज का अभाव होता है तो आप कष्ट का अनुभव करते हैं। पर उस महत्वपूर्ण और लम्बी यात्रा मे जब आपके पास कुछ भी पाथेय नही होगा तो क्या आप घोर कष्ट का अनुभव नही करेंगे ? अवश्य ही करना पडेगा।

तो बधुओ ! जब कि हमे वह महान् यात्रा करनी ही है तो निश्चय ही उसके लिए पाथेय जुटाना चाहिए। वह पाथेय या तैयारी क्या होती है उसके विषय मे आप अनभिज्ञ नही हैं, क्योकि प्रतिदिन हम यही बात आपसे कहते हैं। पर फिर भी चद शब्दो मे कहता हूँ कि—सत्य, अहिंसा, तप, त्याग, दान, दया, सहानुभूति, सेवा, क्षमा आदि सद्‌गुणो को जीवन मे उतारना और दूसरे शब्दो मे सम्यक्‌ज्ञान, सम्यक्‌दर्शन एव सम्यक्‌चारित्र रूप रत्नत्रय की

आराधना करने से उस अज्ञात यात्रा का पाथेय जुटता है। और यह तभी हो सकता है कि जबकि हम धर्म के मगलमय और सम मार्ग का त्याग करके कभी भी अधर्म के विषम-मार्ग पर कदम न रखें। अगर ऐसा न हुआ, अर्थात् हमने अधर्म-रूपी विषम मार्ग को अपना लिया तो अत मे पश्चाताप करने के अलावा कुछ भी हाथ नही आयेगा।

अत हमे चेत जाना है और पाप-मार्ग की स्वप्न मे भी वाञ्छा न करके धर्म-पथ पर अडिग कदमो से चलना है। तभी हमारा भविष्य मगलमय बनेगा।

☆

२० | आचार: परमोधर्मः

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

आपने प्राय पढा होगा और सुना भी होगा—'आचार परमोधर्म ।' अर्थात् आचरण को पूर्ण विशुद्ध रखना सबसे बडा धर्म है।

मानव के जीवन मे आचार को प्रधानता दी गई है। जिसका आचरण पवित्र होता है उस व्यक्ति का ससार मे सम्मान होता है और वह अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। यद्यपि इस जगत् मे अनेक व्यक्ति रूप-सम्पन्न होते हैं, अनेक धन-सम्पन्न और अनेक सत्ता-सम्पन्न पाये जाते हैं। किन्तु अगर वे आचार सम्पन्न नही होते तो उनकी अन्य सम्पन्नताएँ व्यर्थ मानी जाती हैं। उस तिजोरी के समान जो कि आकार मे बडी है, सुन्दर है और फौलाद के समान मजबूत है, किन्तु अन्दर से खाली है, एक पाई भी उसमे नही है। जिस प्रकार ऐसी तिजोरी का होना या न होना बराबर है, ठीक इसीप्रकार अन्य अनेक विशेषताएँ होते भी आचरण हीन व्यक्ति का होना न होना समान है। रीती तिजोरी के समान ही उस मनुष्य का भी कोई महत्व नही है।

आचार का अर्थ—

आचार का अर्थ है—मर्यादित जीवन बिताना। अगर व्यक्ति अपने जीवन को मर्यादा मे नही रखता, अर्थात् अपनी इन्द्रियो पर एव मन पर सयम नही रखता तो उसका आचरण भी कदापि शुद्ध नही रह पाता।

हमारे यहाँ तीन प्रकार के योग माने गये हैं। वे हैं—मनोयोग, वचन-योग, एव काययोग।

मनोयोग का काम है—चिंतन करना या विचार करना। आप चाहे उत्तम कार्य करे या अधम दोनो के लिए ही पहले मनोयोग द्वारा विचार किया

जाएगा कि कार्य किस प्रकार और किस विधि से करना है। इन सब वातो का निश्चय करना ही मनोयोग का काम है।

मनोयोग के पश्चात् वचनयोग का कार्य प्रारम्भ होता है। मन के द्वारा किसी भी कार्य के करने का निश्चय हो जाने पर वे विचार जवान पर आते हैं। वाणी, मन मे उमडने वाले विचारो की ही प्रतिध्वनि होती है। अगर मन मे विचार न आएँ तो वे वाणी मे भी नही उतर सकते। क्योकि वाणी मे विचार करने की शक्ति नही है, केवल उच्चारण करने की सामर्थ्य होती है। इसलिये विचार न होने पर उच्चार भी नही हो सकता।

विचार, उच्चार और आचार ईन तीनो मे 'चर' धातु का प्रयोग होता है जिसका अर्थ है 'चलना'। मन मे विचार आया कि ऐसा करना है, तो वचन के द्वारा शब्द उठते हैं कि 'हमको यह करना है।' विचार चाहे सामाजिक विपय से सम्बन्ध रखता हो या कर्म अथवा राजनीति से। वे उठते मन मे है और तव वचनी से जाहिर होते हैं। कहने का अर्थ यह है कि किसी भी कार्य की नीव मन के विचारो से रखी जाती है अत मन मे शुद्ध विचार आने चाहिये। जिन व्यक्तियो के पल्ले मे पुण्य होता है, उनके मन मे शुभ विचार आते हैं और इसके विपरीत जो पुण्यहीन होते हैं, उनके मन मे अशुभ विचारो का उदय होता है।

तो मैं वता यह रहा था कि पहले मन मे विचार आते हैं उसके पश्चात् वे वाणी से उच्चरित होते हैं और उसके वाद आचरण मे व्यवहृत होते हैं। जव तक विचार कार्य रूप मे नही आते अर्थात् आचरण मे नही लाये जाते तव तक उनका कोई महत्व नही माना जाता।

इसीलिये शास्त्रकारो ने आचार को महत्व दिया है। यद्यपि रत्नत्रय मे पहले सम्यक्दर्शन, फिर सम्यक्ज्ञान और उसके वाद सम्यक्चारित्र का नम्वर है। सम्यक्दर्शन से ज्ञान पक्का होता है और ज्ञान के साथ विवेक मिलकर आचरण को शुद्ध और सम्यक् वनाते हैं।

तो पहले सम्यक्दर्शन यानी श्रद्धा होती है और उसके वाद सम्यक् ज्ञान। किन्तु इन दोनो के होने पर भी अगर चारित्र नही रहा तो दोनो की कोई कीमत नही है। आप कहेगे ऐसा क्यो ?

वह इसलिये कि जिस तरह आप मकान वनवाते समय कम्पाउड, दरवाजा, खभे और दीवार्ले सभी कुछ वनवा लेते हैं। किन्तु उनकी दीवालो पर छत नही वनवाई तो वह मकान क्या आपको सर्दी, गर्मी और वरसात से वचा सकेगा ? नही, छत के अभाव मे आपके मकान की दीवारें, खिडकियें और रास्ते किसी काम नही आएँगे।

इसी प्रकार मन से विचार कर लिया, वाणी से उसको प्रकट भी किया किन्तु जब तक उसे आचरण के द्वारा जीवन मे नही उतारा तो विचार और उच्चार से क्या लाभ हुआ ? कुछ भी नही। आत्म-कल्याण के लिये आचरण आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है।

एक गाथा आपके सामने रखता हूं, जिसे बडी गभीरता से समझने की आवश्यकता है। गाथा इस प्रकार है—

"अगाण किं सारो, आयारो तस्स किं सारो।
अगुहो गत्थो सारो, तस्सुही परूपणा सुद्धो॥

व्यावहारिक भाषा मे हम अग शरीर को कहते हैं। परमार्थिक दृष्टि से यहाँ इसका अर्थ द्वादशाग वाणी से है। वैसे द्वादशाग का एक अग लुप्त हो चुका है अत वर्तमान मे एकादशाग वाणी ही मानना है।

तो गाथा मे प्रश्नोत्तर है और प्रश्नकर्ता ने पहला प्रश्न यह पूछा है कि इन एकादश अगो का सार क्या है ? उत्तर दिया गया है—इनका सार आचरण है। दूसरा अर्थ आचाराग सूत्र मे भी लिया जाता है। तो अगो का सार आचार का पालन करना बताया गया है। जो भगवान ने चारो तीर्थों के लिये कहा है ?

फिर प्रश्न पूछा—उसका भी क्या सार है ? तो उत्तर दिया—'अगुहो गत्थो सारम ? अर्थात् - भगवान के फरमाये हुए जिन आदेशो को आपने पढा, श्रवण किया तथा धर्मशास्त्रो से जाना, उस पर चिंतन करते हुए उसके पीछे-पीछे चलना। मूल पाठ है कि जिनेश्वर भगवान की आज्ञा आगे रहेगी और चलने वाले पीछे रहेगे। इस प्रकार जिनेश्वर प्रभु की आज्ञा पालन मे सार है।

प्रश्न फिर पूछा—उसका भी सार क्या है ? तो उत्तर मिला—परूपणा है। अर्थात् परोपदेश देना। क्योकि हम भगवान की आज्ञानुसार चले तो अपने लिये ही कुछ किया। किन्तु उससे जनता को क्या लाभ मिला ? अत भगवान् की आज्ञाओ को औरो के हृदय मे बिठाना तथा उन्हे सरल ढग से समझाने के लिये उपदेश देना। अगर एक व्यक्ति स्वय सन्मार्ग पर चलता है, वह तो अच्छा ही है पर कुमार्ग पर जानेवाले अन्य व्यक्ति को भी सन्मार्ग पर ले आता है तो वह बडे पुण्य का कार्य है।

आप देखते ही हैं कि सत मुनिराज सदा एक गाँव से दूसरे गाँव मे जाते हैं। वह क्यो ? क्या उन्हे लोगो से पैसो की वसूली करनी है, अथवा सेठ-साहूकारो से कोई जागीर लेनी है ? नही, वे केवल इसीलिये विचरण करते हैं कि जो व्यक्ति धर्म क्या है यह नही जानते और शास्त्र या उसकी वाणी क्या होती

है उसे नही समझते तो उन्हे इन बातो की जानकारी दी जा सके। ऐसा किये बिना धर्म का प्रचार और प्रसार नही हो सकता। तो आचरण का सार प्ररूपणा अर्थात् अज्ञानियो को सदुपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने मे है।

आगे कहा गया है —

सारो परूवणाए चरण, तस्स विय होइ निव्वाण।
निव्वाणस्स उ सारो, अव्वावाह जिणाहु त्ति ॥

गाथा मे पुन प्रश्न किया गया है कि—प्ररूपणा का सार क्या है? उत्तर दिया है—चरण। अर्थात् आचरण करना।

उत्तर यथार्थ है कि हम जिस बात की प्ररूपणा करें यानी जिस कार्य को करने का औरों को उपदेश दें पहले स्वय भी उसका पालन करें। क्योकि—

'परोपदेशे पाडित्य सर्वेषाम् सुकर नृणाम्।"

दूसरो को उपदेश देना और उनके समक्ष अपने पाडित्य का प्रदर्शन करना सरल है। पर उसके अनुसार हमारा स्वय का आचरण भी पहले होना चाहिये। तभी लोगों पर हमारी बात का प्रभाव पड सकता है।

सत-मुनिराजो की शिक्षाओ का प्रभाव लोगो पर जल्दी क्यो पडता है? इसलिये कि वे जिस कार्य को जनता से कराना चाहते हैं, पहले स्वय करते है। अगर वे ऐसा न करे तो लोग उनके आदेश को नही मान सकते। एक छोटा सा उदाहरण है—

एक व्यक्ति किसी महात्मा के पास अपने पुत्र को लाया और बोला—"महात्मन्! मेरा यह लडका सदा बीमार रहता है। डाक्टरो से इसका इलाज करवाता हूँ पर वे दवा देने के साथ-साथ कहते हैं कि इसे गुड मत खाने दो, अन्यथा दवा इसको लागू नही होगी और यह ठीक न हो सकेगा। मैं इसे बार-बार गुड छोड देने के लिये कहता हूँ पर यह मानता नही। कृपया आप इसे समझाइये और गुड छोड देने की आज्ञा दीजिये। आपका प्रभाव ही इस पर पड सकता है और यह गुड खाना छोड सकता है।"

महात्मा जी ने कुछ क्षण विचार किया और फिर बोले—"भाई! मैं इसका गुड खाना अवश्य छुडवा दूँगा किन्तु तुम इसे एक सप्ताह बाद मेरे पास लाना।"

व्यक्ति कुछ नही बोला और पुत्र को लेकर वापिस चला गया। एक सप्ताह बाद वह पुन लडके के साथ आया और महात्मा जी ने उसे प्रेम से समझाकर गुड खाना छोडने का आदेश दिया। लडके ने महात्मा जी की आज्ञा मान ली और उस दिन के बाद एकबार भी गुड का सेवन नही किया।

कुछ दिन पश्चात् एकवार लडके का पिता महात्मा जी के दर्शन करने आया तो उन्होने पूछा—"क्यो भाई ! अब तो तुम्हारा लडका गुड नही खाता ?"

"नही महाराज ! आपके समझाने के वाद उसने गुड को हाथ भी नही लगाया।" व्यक्ति ने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया, साथ ही पूछा—

"भगवन ! एक प्रश्न आपसे पूछ सकता हूँ क्या ?"

"निस्सकोच पूछो भाई !" महात्मा जी ने कहा। व्यक्ति वोला—"कृपया मुझे यह वताइये कि जब मैं पहली वार आपके पास अपने लडके को लाया था उस समय भी आप उसे गुड न खाने के लिये समझा सकते थे। किन्तु आपने एक सप्ताह वाद उसे लाने की आज्ञा क्यो प्रदान की थी ? क्या उसके लिये किसी विशेष समय की आवश्यकता थी ?"

महात्मा जी हँसे और वोले—"नही भाई ! किसी अच्छी वात को समझाने के लिये शुभ समय की आवश्यकता नही होती। शुभ कार्य के लिये तो प्रत्येक समय ही शुभ होता है। वात वास्तव मे यह थी कि तुम पहली बार आये उस समय तक मैं भी गुड खाता था। और उस स्थिति मे अगर मैं तुम्हारे पुत्र को गुड खाने से मना करता तो मेरी वात का उस पर कदापि असर नही होता। इसलिये मैंने तुम्हे एक समय वाद आने के लिये कहा था और उस बीच मैंने स्वय गुड खाने का त्याग कर दिया और उसके बाद तुम्हारे लडके को मना किया। परिणाम तुमने देखा ही है कि मेरे समझाने के वाद उसने एकवार भी गुड का सेवन नही किया।"

उदाहरण से स्पष्ट है कि जब तक व्यक्ति स्वय त्याग नही करता, तब तक अगर वह औरो से उस त्याग के लिये कहे तो उसकी वात का असर नही पडा करता।

इसीलिये सत-महात्मा अनेक प्रकार के त्याग स्वय करते हैं और फिर अन्य व्यक्तियो को त्याग करने का उपदेश देते हैं। आप स्वय भी यह महसूस करते होगे कि अगर हम रात्रि को भोजन करें और आपको रात्रि-भोजन करने का त्याग कराएँ तो आप मानेंगे क्या ? इसी प्रकार अगर हम वीडी, सिगरेट या मदिरा का सेवन करते रहें और आपसे उसे छोडने का कहे तो आप उन्हे छोडेंगे क्या ? नही। इसके अलावा आप अपने आपसी व्यवहार को ही देख लीजिये, अगर आप लोगो को कोई धर्म-कार्य प्रारम्भ करना है और आप मे से कोई व्यक्ति उसके लिए आगेवान होकर सवसे चदा लेने के लिए वढता है तो आप सवसे पहले यह देखेंगे कि उन महाशय ने स्वय क्या दिया है ? अगर उन्होने कुछ नही दिया होगा तो आप पहले सीधे ही पूछ लेंगे—"आपने क्या दिया है ?" उत्तर मे अगर व्यक्ति ने अपनी दी हुई रकम वता

दी तो आप चुपचाप स्वय भी यथाशक्ति अपनी-अपनी रकम लिखवा देगे और नही कहेगे—"पहले आप तो दीजिये ! फिर हम भी देंगे।"

तो बधुओ ! प्ररूपणा करने के लिये पहले स्वय ही क्रिया करनी पडेगी। हमारे यहाँ एक मुनि खडे रहते है। यह भी तपस्या है। पर अगर वे कहें कि मुझसे तो खडा नही रहा जाता पर तुम खडे रहो तो कौन मानेगा ? कोई नही !

इसीलिए शास्त्रकारो ने कहा है—प्ररूपणा का सार स्वय आचरण करना है। गाथा मे 'चरण' शब्द आया है। चरण का अर्थ है आचरण। इसे चरण क्यो कहा गया ? इसमे भी गूढ अर्थ है, और वह इस प्रकार है—चरण आप पैरो को भी कहते है। साढे पाच हाथ के शरीर का सम्पूर्ण बोझ चरण ही उठाते हैं। इसलिए नमस्कार भी चरणो को ही किया जाता है। मस्तक को कोई प्रणाम नही करता। स्पष्ट है कि मस्तक, हाथ, छाती, पेट आदि समस्त अगो की अपेक्षा चरणो का महत्व अधिक है और वही श्रद्धा के पात्र होते हैं।

इसीप्रकार यद्यपि धर्म के तीन अग हैं—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जीवन मे दर्शन अर्थात् श्रद्धा का होना आवश्यक है, ज्ञान का होना भी अनिवार्य है किन्तु इन दोनो को क्रियात्मकरूप देने के लिये चारित्र या आचरण का होना तो श्रद्धा व ज्ञान की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण है। केवल श्रद्धा और ज्ञान से क्या हो सकता है, जबकि उनका कोई उपयोग ही न किया जाय।

सत तुकाराम महाराज ने कहा है—

> **"बोलालाच भात, बोलाचीच कढी,**
> **खाऊँनिया तृप्त कोण झाला ?"**

तात्पर्य यह है कि आपने लोगो को भोजन के लिये आमन्त्रित किया। समय पर पगत खाने के लिये बैठ भी गई। किन्तु आपके पास खाद्य वस्तु कोई भी तैयार नही है और आप उन व्यक्तियो के सामने घूम-घूम कर कहते हैं—

"लीजिये साहब ! चावल, लीजिये कढी ?"

बर्तन आपका खाली है और आप केवल जबान से ही कढी और चावल परोस रहे हैं तो बताइये आपके बोलते रहने मात्र से ही क्या भोजन करने वाले तृप्त हो जाएँगे ? नही।

तो जिस तरह कढी और भात के उच्चारण मात्र से भोजन करने वालो के पेट नही भर सकते, उसी प्रकार हृदय मे श्रद्धा और मस्तिष्क मे ज्ञान होने

मात्र से ही उनका लाभ आत्म-कल्याण के रूप मे हासिल नही हो सकता जब तक कि उन्हे आचरण मे न लाया जाय।

आशा है अब आप समझ गए होगे कि जिसप्रकार शरीर के अन्य अगो की अपेक्षा चरणो का महत्व अधिक है उसीप्रकार दर्शन और ज्ञान की अपेक्षा आचरण का महत्व भी अधिक है। यही कारण है कि इन दोनो महत्वपूर्ण अगो को एक ही शब्द 'चरण' के नाम से उल्लिखित किया गया है तथा प्ररूपणा का सार आचरण कहा गया है।

गाथा मे आगे पूछा है—उसका भी सार क्या है ? आचरण का सार क्या है ? तो उत्तर मे कहा है —'निव्वाण।' निव्वाण यानी निर्वाण। अगर व्यक्ति शुद्ध चारित्र का पालन करता है तो निर्वाण की प्राप्ति होती है। कहा भी है —

भिक्खाए वा गिहत्थेवा, सुव्वए कम्मई दिव।

भिक्षु हो चाहे गृहस्थ हो, जो सुव्रती सदाचारी है, वह दिव्यगति को प्राप्त होता है।

यहाँ पर एक बात ध्यान मे रखने की है कि चारित्रपालन के लिए आयुष्य की बडी जरूरत है। अगर आयुष्य न हो तो चारित्र का पालन कैसे होगा ? क्योकि चारित्र का पालन इस शरीर से ही होता है। इस विषय मे आप को एक शास्त्रोक्त उदाहरण देता हूँ।

गौतमस्वामी ने एक बार भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन् ! श्रद्धा इस लोक मे ही काम आती है या परलोक मे भी ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—'श्रद्धा इस लोक मे भी उपयोग मे आती है और परलोक मे भी।'

गौतमस्वामी ने पुन प्रश्न किया—"भगवन् ! सम्यक्ज्ञान इस लोक मे ही काम आता है या परलोक मे भी काम आता है ?

भगवान् ने फरमाया - "ज्ञान इस लोक मे भी काम आता है और परलोक मे भी काम आता है।"

जिसकी आत्मा पर जो सस्कार होते हैं, वे परलोक मे भी उसके पास रहते हैं। इसीप्रकार ज्ञान भी है। जो आत्माएँ यहाँ से ज्ञान प्राप्त करके यहाँ से गई हैं, परलोक मे भी ज्ञान-ध्यान मे निमग्न हैं। उनका आयुष्य भी हमारी अपेक्षा अनेक गुना अधिक है। वे ज्ञानी आत्माएँ देवलोक मे जिन विमानो मे बैठकर गई है वहा तैंतीस हजार वर्ष के बाद उनकी खाने की इच्छा होती है जबकि यहाँ एक हजार वर्ष मे ही कई पीढिया बीत जाती हैं। वे

श्वास भी कई-कई वर्षों बाद लेते है। ऐसी स्थिति मे आयुष्य के दीर्घ होने से वे पूर्व मे सीखे और पढे हुए ज्ञान का वहाँ उपयोग करते हैं।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' मे कहा भी गया—

जहा सुइ ससुत्ता पडियावि न विणस्सई।
एव जीवे ससुत्ते ससारे न विणस्सइ॥

जैसे धागे मे पिरोई हुई सुई गिर जाने पर भी गुम नही होती, उसी प्रकार ज्ञान रूपी धागे से युक्त आत्मा ससार मे भटकता नही।

ऐसा क्यो कहा गया है ? इसीलिए कि एक बार ज्ञान प्राप्त कर लेने पर आत्मा मे से उसके सस्कार जाते नही हैं और वह जिस लोक मे भी जाती है साथ बने रहते हैं।

साराश यही है कि दर्शन अथवा श्रद्धा और ज्ञान, ये दोनो ही इस लोक और परलोक दोनो ही स्थानो पर काम आते हैं। किन्तु अब चारित्र के विषय मे भी सुनिये कि भगवान् ने उसके बारे मे क्या कहा है ?

दर्शन और ज्ञान के विषय मे पूछ लेने के पश्चात् गौतमस्वामी भगवान् से फिर पूछते हैं—"भगवन् ! चारित्र इस लोक मे ही काम आता है या परलोक मे भी ?" इसका उत्तर भगवान् ने दिया "चारित्र इस लोक मे ही काम आता है परन्तु परलोक मे इसका फल मिलता है।"

आप समझ गये होगे बधुओ, कि दर्शन और ज्ञान जहाँ इस लोक और परलोक दोनो ही स्थानो पर काम आता है, वहाँ चारित्र इस लोक मे ही अपना काम करता है। अत इसके लिए शरीर तो चाहिए ही, पर शरीर प्राप्त करने पर चारित्र का भी अधिक से अधिक पालन करना चाहिए। क्योकि चारित्र के अभाव मे ही अगर जीवन समाप्त हो गया तो फिर कब चारित्र का पालन किया जा सकेगा ? और कैसे आत्मा का उद्धार होगा ?

यह तो निश्चय है कि चारित्र का पालन किये बिना आत्मा ससार-मुक्त नही हो सकती, चाहे दर्शन और ज्ञान आत्मा मे क्यो न विद्यमान रहें।

एक गाथा मे बताया गया है—

जाणतोऽवि य तरिउ, काइय जोग न जुजइ नईए।
सो बुज्झइ सोएण एव नाणो चरणहीणो॥

अगर कोई व्यक्ति तैरना जानते हुए भी जल-प्रवाह मे कूदने पर हाथ-पाव न हिलाए तो प्रवाह मे डूब जाता है। इसी प्रकार कार्य जानते हुए भी यदि कोई उस पर आचरण न करे तो वह चारित्रहीन व्यक्ति ससार-सागर को कैसे पार कर सकता है ?

तात्पर्य यही है कि तैरने पर पार हुआ जाता है इस बात का विश्वास और किस प्रकार तैरा जाता है इसका ज्ञान भी व्यर्थ होता है, जबकि पानी मे गिरा हुआ व्यक्ति अपने हाथ-पैरो से क्रिया नही करता । इसीप्रकार धर्म पर रहने वाली श्रद्धा और धार्मिक क्रियाओ का ज्ञान भी सार्थक नही होता जब तक कि उसे व्यवहार मे न लाया जाय ।

स्पष्ट है कि आचरण अथवा चारित्र का महत्व सर्वोपरि है अत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार चारित्र का पालन करना चाहिए । आपने श्रावकपना और हमने साधुपना स्वीकार किया है अन आपका देश-चारित्र और हमारा सर्व-चारित्र है । आपका चारित्र भी कम नही है तथा आत्मा के उत्थान मे कारणभूत है, पर पालन इसका ईमानदारी से होना चाहिए । अन्यथा हाथी के दांत खाने के और तथा दिखाने के और यह कहावत अगर चरितार्थ हुई तो फिर सब गुड-गोबर होने वाला है ।

तो आपने आज के कथन का सार समझ लिया होगा । सक्षेप मे वह इस प्रकार है—

द्वादशाग का सार है आचार । आचार का सार-अगुहो यानी आज्ञा के पीछे चलना । उसका भी सार-प्ररूपणा, यानी परोपदेश । प्ररूपणा का सार-चारित्र का पालन करना । चारित्र का सार-निर्वाण । तथा निर्वाण का सार-अव्वाबाह जिणाहुति । यानी जिनेश्वर भगवान् ने फरमाया है कि अगर निर्वाण प्राप्त करना है तो पहले आचार को ग्रहण करो । फिर भगवान् की आज्ञा के पीछे चलो । बाद मे प्ररूपणा से औरो को सन्मार्ग पर लाओ, फिर चारित्र का पालन करो जिमसे निर्वाण प्राप्त हो । निर्वाण याने अक्षय शाति । आत्मा उस स्थान पर पहुच जाती है जहाँ किसी भी प्रकार की बाधा या पीडा नही होती । बाधा इसलिए नही होती कि शरीर नही होता और पीडा नही होती क्योकि मन नही होता ।

तो बधुओ, समस्त पीडाओ एव बाधाओ से रहित, अक्षयशाति और सुख प्रदान करने वाले ऐसे अपूर्व स्थान पर पहुचने के लिए उत्कृष्ट चारित्र ही एक मात्र साधन है । अगर हम शुद्धचारित्र का पालन करते है तो हमारे दर्शन और ज्ञान का भी सम्यक् उपयोग हो सकता है । अन्यथा ये भी निरर्थक साबित हो जाएँगे ।

श्रद्धा का कार्य आपको धर्म पर विश्वास रखना तथा ज्ञान का कार्य आपको मुक्ति के मार्ग की पहचान कराना है । किन्तु चारित्र का काम है

आपको उस मार्ग पर चलाना। आप जानते ही हैं कि कही भी जाने वाले मार्ग पर विश्वास रखना और उस मार्ग की पहचान हो जाना ही काफी नही होता। सबसे जरूरी होता है उस मार्ग पर चलना। यही हाल मोक्ष-मार्ग का है। इस पर श्रद्धा रखना और इसका ज्ञान होना ही मुमुक्षु के लिए काफी नही है। उमके लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है इस मार्ग पर चलना। और चलने का दूसरा नाम ही चारित्र है।

आशा है चारित्र के महत्व को पूर्णतया हृदयगम करते हुए आप अपने जीवन को दृढ एव शुद्ध चारित्र से अलकृत करेंगे तथा अपनी मजिल के समीप पहुचने का प्रयत्न करेंगे।

२१ ज्ञान की पहचान

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

कल के प्रवचन मे बताया गया था कि ज्ञान और दर्शन, ये इस लोक मे भी काम आते हैं और परलोक मे भी काम आते हैं। किन्तु इस लोक मे काम कैसे आते हैं और परलोक मे कैसे आते है, इस विषय को जानने की जिज्ञासा जिज्ञासु व्यक्तियो के मन मे होती है। सभी व्यक्ति '**बाबा वाक्यम् प्रमाणम्**' को माननेवाले नही होते । विचारवान और चितनशील व्यक्ति प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक शब्द को सुनकर उस पर विचार करते हैं और उनका सही ज्ञान करना चाहते हैं।

व्याकरणशास्त्र के अनुसार ज्ञान शब्द की व्याख्या की है—'**ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्** ।' जिससे जाना जाय वह ज्ञान—यहाँ तृतीया विभक्ति है। वैसे पचमी विभक्ति का प्रयोग भी किया जाता है—'**ज्ञायते अस्मात् तद् ज्ञानम्** ।' थोडा-सा अन्तर बताया गया—जिसमे से मालूम होता है वह ज्ञान।

मेरे कहने का आशय यह है कि जिससे जाना जाय—मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मेरा कर्त्तव्य क्या ? मैं कर क्या रहा हूँ ? इन सब बातो को समझा सकनेवाला ज्ञान कहलाता है।

यद्यपि ज्ञान भी अनेक प्रकार का है। आज ससार मे अनेक प्रकार के व्यवसाय-धन्धे करने वाले लोग हैं। कोई सुनार है, कोई लुहार है, कोई बढई, कोई दरजी, या नाई, धोबी कुछ भी है सभी के कार्य अलग हैं और सब अपने-अपने काय का ज्ञान करते हैं तथा अपने व्यवसाय मे पारगत हो जाते हैं। वैसी स्थिति मे सुनार लोहारी धधे मे लग जाय और लुहार आभूषण गढने बैठे तो क्या वे सफलतापूर्वक कार्य कर सकते है ? नहीं। वे अपना ही कार्य सफलतापूर्वक कर सकते हैं, जिसका उन्होंने ज्ञान किया है।

बधुओ, अभी आपने मेरे कथन से समझा होगा कि किसी भी वस्तु, व्यवसाय या कला की जानकारी करना ज्ञान है। यह सत्य है, पर फिर भी गभीरतापूर्वक सोचा जाय तो ज्ञान को दो भागो विभक्त किया जा सकता है। एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक।

भौतिकज्ञान —

मान लीजिये, किसी ने भगोल पढा। उसमे पृथ्वी के विस्तार की जानकारी की। कौन-सा देश कहाँ है, कहाँ सागर, कहाँ रेगिस्तान, कहाँ बजर भूमि और कहाँ की भूमि उपजाऊ है, इसका ज्ञान हासिल किया।

किसी ने इतिहास पढा। उसमे प्राचीनकाल की राज्यव्यवस्था के बारे मे, प्राचीन काल के लोगो के रहन-सहन और सभ्यता के बारे मे तथा उस समय राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक स्थिति के बारे मे जानकारी हासिल की।

इसीप्रकार किसीने ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन किया। उससे सूर्य, चन्द्र नक्षत्रो की गतिविधि एव हस्तरेखाओ को पढने की विद्या हासिल की।

किन्तु इन सबको पढने से लाभ कितना? उतना ही, जितनी हमारी जिन्दगी है। अर्थात् यह ज्ञान केवल हमारे इस जीवन तक ही कुछ काम आने वाला है और वह काम है जीने के लिए अर्थ उपार्जन कर लेना और ससार के व्यक्तियो पर अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमा लेना। ऐसा क्यो? इसलिए कि यह भौतिक ज्ञान है। इस ज्ञान का सम्बन्ध केवल इस जीवन से ही है। आत्मा से इसका कोई सम्बन्ध नही है अत आत्मा का भला करने मे वह समर्थ भी नही है। भौतिकज्ञान मे पारगत होकर कोई व्यक्ति चाहे जितना होशियार हो जाय, कितना भी बडा पडित कहलाने लगे और दुनिया भर की पोथियो को पढ कर तर्क-वितर्क करने मे प्रवीण बन जाय, किन्तु उसकी ये समस्त विशेषताएँ काम वही तक आती हैं, जहाँ तक उसका यह वर्तमान जीवन है। इसके पश्चात् आत्मा को इससे कोई लाभ नही होता और यह ज्ञान उसे पुन पुन ससार-परिभ्रमण करने से रोक नही सकता।

मेरा आशय भौतिकज्ञान की व्यर्थता साबित करना अथवा बुराई करना नही है। चूँकि हमने इस पृथ्वी पर जन्म लिया है, मनुष्य देह पाई हैं और ससार के अन्य व्यक्तियो से हमारा इहलौकिक सम्बन्ध भी है अत. हमे सासारिक कर्तव्यो को निभाने के साथ-साथ जीवन-यापन करने के साधनो को जुटाना भी है। इसलिए भौतिक ज्ञान की प्राप्ति करना आवश्यक है। पर हमे इस जीवन को सफलतापूर्वक बिताने के साथ-साथ यह भी कभी नही भूलना

चाहिए कि इस जीवन के पश्चात् भी हमारी आत्मा विद्यमान रहेगी और इस जीवन मे किए हुये उत्तम या निम्न कर्मों के अनुसार उसे अगले जीवन मे फल मिलेगा। अगर इस बात पर हमे विश्वास रहेगा तो हम निश्चय ही भौतिक ज्ञान के द्वारा परलोक को सुधार लेगे।

आध्यात्मिक ज्ञान—

अभी मैंने आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा परलोक सुधारने की बात कही है अत अब आध्यात्मिक ज्ञान क्या है, हमे इसे भी जान लेना जरूरी है।

आध्यात्मिक ज्ञान सर्वप्रथम हमे यह बताता है कि आत्मा का अस्तित्व अनन्त काल से चला आया है और चौरासी लाख योनियो मे जन्म लेकर अनेकानेक प्रकार के दुख सहने के पश्चात् इस मनुष्य शरीर को प्राप्त कर सकी है। आध्यात्मिक ज्ञान यह भी बताता है कि पाप और पुण्य क्या हैं तथा इनके परिणाम किस प्रकार आत्मा को भोगने पडते है। इसके पश्चात् यह ज्ञान ही हमे बताता है कि आत्मा का कल्याण कैसे हो सकता है, यानी किन उपायो से आत्मा जन्म-मरण से छुटकारा प्राप्त कर सकती है और छुटकारा पाने का मार्ग कौन सा है ?

भगवान् महावीर ने 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के अट्ठाईसवें अध्याय की गाथा मे कहा है—

नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
एस मग्गोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदसिहिं॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप, इनका आराधन ही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी जिनराज ने कहा है।

बधुओ, हमारी दृष्टि तो अत्यन्त सकुचित एव सीमित है। आँखो के सामने कपडे का एक परदा भी लगा दिया तो उसके पीछे क्या है, यह हम देख नही सकते। इतना ही नहीं, आँख के ऊपर छोटी-सी पलक के गिरते ही सारा ससार हमारी आँखो से ओझल हो जाता है।

किन्तु जिनेश्वर भगवान् की दृष्टि सर्वदर्शी होती है। जिसके सामने कोई भी पदार्थ, पर्दा, दीवाल, पहाड या और कुछ भी क्यो न आ जाय वह बाधा नही डाल पाता। वे एक स्थान पर बैठे-बैठे ही इस पृथ्वी पर क्या हो रहा है यह भी देख लेते हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि दिव्य-दृष्टि या सर्वदर्शी कहलाती है।

आप सोचेंगे उन्हे ऐसी दृष्टि कैसे प्राप्त हुई और हमे वह क्यो नही मिलती ? इसका उत्तर यही है कि उन्होंने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप का

सम्यक् प्रकार से आराधन किया तथा विषय-विकारो का सर्वथा त्याग करके अपनी आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाया। जब आत्मा अपने निजस्वरूप को प्राप्त हुई तो सम्पूर्ण कर्म उससे अलग हो गए। इस प्रकार आत्मा से समस्त दोष दूर हो जाने पर उन्हें दिव्य-दृष्टि की प्राप्ति हुई।

पर हम उनके मुकाबले मे क्या करते है, जिससे हमे ऐसी दृष्टि प्राप्त हो सके ? कुछ भी नही। न अभी हमारी श्रद्धा मजबूत है, न ज्ञान ही सम्यक् है, न हम उत्तम चारित्र का पालन करते हैं, और तपस्या तो होती ही नही। इसके अलावा हमारे हृदयो से राग-द्वेष की भावना नही जाती, 'मेरा' और 'तेरा' नही छूटता, एक रुपया देकर दानी कहलवाना और तनिक सा किसी का कार्य करके सेवाभावी कहलाने की आकाक्षा बनी रहती है। फिर बताइये, हमे हमारे कौन से उत्तम कर्म का कोई शुभ फल प्राप्त हो सकता है ?

किन्तु भाइयो ! हमे अपनी आज की स्थिति से तनिक भी निराश होने की आवश्यकता नहीं हैं। क्योकि इस जगत मे असभव कुछ भी नही है। न पुण्य-सचय करना असभव है, न स्वर्ग प्राप्त करना असभव है और न हो ससार से मुक्त होना असभव है। अगर यह सब सभव नही होता तो अर्जुनमाली जैसा पापी और अगुलिमाल जैसा क्रूर डाकू भी अपनी आत्मा का उद्धार कैसे कर लेता ? हमे विश्वास रखना चाहिये कि हमारी आत्मा अभी पापो से कितनी भी लिप्त क्यो न हो, अगर हम शुभ और दृढ भावना से प्रयत्न करेंगे तो धीरे-धीरे इसे निश्चय ही कर्म-मुक्त कर सकेंगे। भले ही एक जन्म मे यह कार्य पूरा न हो पाए तो भी चेत जाने पर इसी जीवन मे इतना कुछ उपार्जन कर लेंगे कि आगामी जन्मो मे क्रमश हमारी आत्मा मुक्तावस्था के समीप होती जाएगी। पर आवश्यकता है इसके लिये सतत प्रयत्न और हार्दिक लगन की।

एक दोहा आपने कई बार सुना होगा—

रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान।
करत-करत अभ्यास के जडमति होत सुजान॥

अर्थ सरल और स्पष्ट है कि जिस प्रकार कुए के पत्थर पर बार-बार रस्सी के आने जाने से गहरा निशान हो जाता है, उसी प्रकार सतत अभ्यास करते रहने से महामूर्ख और मोटी बुद्धि वाला व्यक्ति भी पडित बन जाता है।

तो मैं आपसे यह कह रहा था कि हमे अपने वर्तमान जीवन से असतुष्ट और निराश न होकर अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न आरभ कर देना चाहिये और उसके लिये सर्वप्रथम आध्यात्मिक ज्ञान हासिल करना चाहिये। यह ज्ञान हमे शास्त्रो के अध्ययन से तथा सद्गुरुओ के उपदेश से प्राप्त हो सकता है।

ध्यान मे रखने की बात है कि व्यक्ति को ज्ञान हासिल करने मे बडी साव-धानी रखनी चाहिये ताकि सम्यक् ज्ञान के स्थान पर हम धोखा न खा जाय। यानी मिथ्याज्ञान ग्रहण न कर ले। मिथ्याज्ञान भी मनुष्य को भ्रम मे डाल देता है।

मान लीजिये आप नदी के तट पर घूमने गए। वहाँ जल मे चमकती हुई सीप देखी। सीप चाँदी की तरह चमकती है अत उसे आप सीप समझ लें तो क्या वह सम्यक्ज्ञान हुआ ? नही, वह मिथ्याज्ञान है। इसीप्रकार विना आत्मा को स्पर्श किये अर्थात् विना भावना के केवल शरीर से की जाने वाली पूजा, उपासना या अन्य क्रिया को आप भक्ति मानें तो वह सब भी ज्ञानमय नही है, केवल दिखावा ही है। बहुत से व्यक्ति दान देने, को पैसा पानी मे बहाना और तपस्या करने को व्यर्थ शरीर का सुखाना मानते है यह अज्ञान है।

इसप्रकार मिथ्या ज्ञान और अज्ञान भी ज्ञानवत् दिखाई देते हैं तथा मनुष्य उसके भ्रम मे पडकर अपने आपको ज्ञानी समझ बैठता है। परिणाम यह होता है कि सम्यक्ज्ञान जहाँ आत्मा को ऊँचा उठाता है, वहा ये झूठे ज्ञान उसे ले डूबते हैं।

शास्त्रो मे कहा जाता है--

जहा अस्साविणि णाव, जाइअधो दुरुहिया।
इच्छइ पारमागतु अतरा य विसीयई॥

—सूत्रकृताग १।१।२।३१

अज्ञानी साधक उस जन्माध व्यक्ति के समान है जो छिद्रवाली नौका पर चढकर नदी के किनारे पहुचना तो चाहता है, किन्तु किनारा आने से पहले ही बीच-प्रवाह में डूब जाता है।

वस्तुत ज्ञान से रहित व्यक्ति अधे के समान होता है और वह अपनी अस-हायावस्था मे मिथ्याज्ञान या अज्ञानरूपी छिद्र वाली नौका का आश्रय लेकर पार उतरना चाहे तो यह कैसे सभव हो सकता है। यह तो ठीक उसी प्रकार हुआ, जैसे —

'अधो अध पहणितो, दूरमद्धाणुगच्छइ।'

अन्धा अधे का पथ प्रदर्शक बनता है, तो वह अभीष्ट मार्ग से दूर भटक जाता है।

इसीलिये बधुओ, हमे सच्चा ज्ञान हासिल करना चाहिये तथा मिथ्या ज्ञान के भ्रम मे पडकर इस दुर्लभ जीवन को निरर्थक नही जाने देना चाहिये। सच्चा ज्ञान हमे शास्त्रो के अध्ययन से प्राप्त हो सकता है। सत्शास्त्र अथवा आध्या त्मिक शास्त्र-मुक्ति का सही मार्ग बता सकते है। वे ही बताते हैं कि आत्मा-

अनात्मा क्या है ? पाप-पुण्य क्या है ? मनुष्य के लिये कर्तव्य-अकर्तव्य क्या है और आत्मा को कर्मों से मुक्त करने के साधन कौन-कौन से हैं !

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के अठाईसवें अध्याय की तीसरी गाथा मे भगवान ने कहा है—

नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
एय मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइ ॥

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप मार्ग को प्राप्त हुए जीव सुगति मे जाते हैं।

यह शास्त्रो के वचन हैं, जिसके द्वारा सक्षेप मे वताया है कि जो भव्य प्राणी मिथ्याज्ञान के धोखे मे न आकर सम्यक्ज्ञान, सम्यकदर्शन, सम्यक् चारित्र एव सम्यक्तप की आराधना करते हैं वे अपने पूर्वोपार्जित पापो को नष्ट करते हैं, नये पाप-कर्मों का बधन नही करते और पुण्य-कर्मों का सचय करके इस जीवन के पश्चात् भी शुभ-गति प्राप्त करते हैं।

पर यह सब तभी हो सकता है जबकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप रूप धर्म को सम्यक् प्रकार से ग्रहण किया जाय। जो प्राणी धर्म के सही स्वरूप को समझ लेता है, समझना चाहिए कि उसने सभी कुछ समझ लिया। क्योकि धर्म के प्रभाव से उसकी प्रत्येक क्रिया एव प्रत्येक व्यवहार धर्ममय हो जाता है। सक्षेप मे धर्म वह मूल है, जिसके मजबूत हो जाने पर शनै. शनै निर्वाण रूपी फल की प्राप्ति हो जाती है।

आचाराग सूत्र मे भी धर्म की महत्ता समझाते हुए कहा है—

लोगस्स सार धम्मो, धम्म पि य नाण सारिय बिंति।
नाण सजमसार, सजमसार च निव्वाण ॥

—आचाराग नि० १४४

विश्व-सृष्टि का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान यानी सम्यक्बोध है, ज्ञान का सार सयम है, और सयम का सार निर्वाण अर्थात् शाश्वत सुख की प्राप्ति है।

तो शाश्वत सुख की प्राप्ति का मूल है धर्म। और सच्चा धर्म वही अपना सकता है जो ज्ञानी हो। पर अभी मैंने आपको वताया था कि सच्चा ज्ञान प्राप्त करना भी टेढी खीर है, क्योकि मिथ्याज्ञान और अज्ञान, ये दोनो ही अपना दाँव लग जाने पर मनुष्य को गुमराह कर देते हैं तथा उसे सच्चे ज्ञान से दूर ले जाते हैं। अत निर्वाण प्राप्ति के इच्छुक साधक को पहले विशुद्ध सम्यक्दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए तथा उसके साथ विवेक को सहायक बनाकर

सच्चे ज्ञान को अपनाना चाहिए। सम्यक्त्व के अभाव मे विपुल ज्ञान भी अज्ञान है और सम्यक्त्व की विद्यमानता मे अल्पज्ञान भी सम्यक्ज्ञान है।

सम्यक्त्व की शक्ति

सम्यक्त्व मे बडी जबर्दस्त शक्ति होती है। इसकी प्राप्ति हो जाने पर व्यक्ति मे सहज ही ऐसा विवेक जागृत हो जाता है, जिसके कारण वह विषय-भोगो से विरक्त हो जाता है। भले ही वह उनका त्याग करने मे समर्थ नभी हो, फिर भी उनमे लिप्त नही होता। अर्थात् वह भोगो को भोगता हुआ भी अत करण से उनमे अनासक्त रहता है।

इस विषय मे एक गम्भीर प्रश्न उठ सकता है कि सम्यक्दृष्टि जीव जब भोगो को हेय समझता है तो उनका सर्वथा त्याग क्यो नही करता ? हेय समझते हुए भी भोगो का सेवन क्यो करता है ?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि विशुद्ध सम्यक्-दृष्टि प्राप्त हो जाने पर भी कर्मोदय के कारण वह चारित्र का अनुष्ठान नही कर सकता। किन्तु उसका विवेक जागृत रहता है अत वह सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, हेय-उपादेय सभी को समझता अवश्य है।

उदाहरण के लिए—कोई व्यक्ति जेल मे बद रहता है और वहाँ रहकर कैदखाने के नियमो का पालन करता है, रूखा-सूखा और नीरस खाना खाता है, कठिन श्रम भी करता है। किन्तु क्या वह प्रसन्नतापूर्वक वह सब करता है ? नही, कैदखाने मे रहते हुए भी प्रतिपल उसकी यही इच्छा रहती है कि कौन सी वह शुभ-घडी आये कि मैं इससे छुटकारा पा सकूँ। इस प्रकार कैदखाने के प्रति हेय बुद्धि रखता हुआ भी वह विवश होकर सजा की अवधि पूर्ण होने तक वहाँ रहता है, क्योकि रहना पडता है।

इसी प्रकार सम्यकदृष्टि की भी स्थिति होती है। वह ससार रूपी कारा-गार से बाहर निकलने की इच्छा रखता है, यहाँ के भोग-विलास भी उसे रुचिकर नही होते तथा उनके प्रति वह अत्यन्त हेय बुद्धि रखता है, किन्तु जब तक कर्मों की स्थिति तथा अवधि पूर्ण नही हो जाती, तब तक वह विवशता के कारण उन्हें त्याग नही सकता, किन्तु जिस क्षण भी कार्य विधि पूर्ण हो जाती है, वह विषय-भोगो से सर्वथा विरक्त हो जाता है तथा शरीर पर से ममत्व हटा लेता है।

सम्यक्दृष्टि और ज्ञानीपुरुषो के विषय मे वीर प्रभु ने कहा है —

साहरे हत्थ पाए य, मण पचिंदियाणि य।
पावक च परिणाम, भासादोस च तारिस॥

—सू० प्र० श्रु० अ० ८, गा० १७

ज्ञानी जन हाथ और पैरो की वृथा हलन-चलन क्रिया को, मन की चपलता को और विषयो की ओर जाती हुई पाँचो इन्द्रियो को तथा पापोत्पादक विचारो को और भाषा सबधी समस्त दोषो को रोक लेते है।

इस प्रकार वे मन, वचन और काया के अनिष्ट व्यापारो को रोककर अपनी आत्मा का गोपन करते हैं तथा आश्रवरूपी कर्म श्रोत को वन्दकर अपने अत समय मे पडितमरण को प्राप्त होकर निर्वाण के अधिकारी बनते हैं।

अज्ञान का परिणाम

अभी मैंने आपको बताया था कि सम्यक्त्व और ज्ञान जीव को ससार-कारागार मे मुक्त करके निर्वाण की प्राप्ति कराते हैं। किन्तु अज्ञान इसका उलटा ही परिणाम लाता है। वह जीव को अनन्त काल तक भी ससार से मुक्त नही होने देता तथा पुन -पुन जन्म-मरण कराता हुआ नाना कष्टो का भागी वनाता है।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' मे कहा गया है—

जावतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्ख सभवा।
लुप्पति बहुसो मूढा, ससारम्मि अणतए।

—अध्ययन ६-१

जितने भी अज्ञानी-तत्व बोध-हीन पुरुष हैं, वे सब दु ख के पात्र हैं। इस अनन्त ससार मे वे मूढ प्राणी वार-वार विनाश को प्राप्त होते रहते हैं।

इसका कारण यह है कि अज्ञानी जीव विषय भोगो को उपादेय समझता है और किन्ही कारणो से उन्हें भोग न सकने पर भी भोगने की अभिलाषा रखता है तथा उनमे अत्यन्त आसक्त वना रहता है।

ध्यान देने की वात है कि ज्ञानी और अज्ञानी की बाहरी चेष्टाएँ एक सी दिखाई देती हैं किन्तु ज्ञानी भोग भोगते हुए भी उनसे विरक्त रहता है और अज्ञानी न भोगते हुए भी उनमे आसक्त रहता है। इसप्रकार भावनाओ का दोनो मे वडा भारी अन्तर होता है। ज्ञानी अपनी अनासक्त भावनाओ के कारण अत मे मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं और अज्ञानी कर्मों के भार से लदे हुए जन्म-मरण के चक्कर मे पडे रहते हैं।

अज्ञानी जीवो मे एक सबसे वडा दोष यह होता है कि वे अपने आपको सबसे अधिक ज्ञानी मानते हैं। थोडा जानने पर भी अधिक जानने का दावा करते हैं और यही समझते है कि हम जो कुछ जानते हैं वही सम्पूर्ण है, यानी बोध की पराकाष्ठा हो गई है। अज्ञानियो की यह भ्राति ही उनकी दयनीय दशा की द्योतक है। अपने अज्ञान के कारण वे अपनी अज्ञानता को भी नही जान पाते तो उसे दूर करने की चेष्टा कर भी कैसे सकते हैं?

अज्ञानियो की दृष्टि भूतकाल और भविष्यत् काल से हट जाती है तथा केवल वर्तमान की ओर ही रहती है। वे केवल वर्तमान के लाभ और आनन्द को ही देखते हैं तथा भविष्य की ओर से इतने उदासीन हो जाते हैं, मानो भविष्य से उनका कोई सरोकार ही नही है। इसीलिये वे अपने भविष्य को सुधारने की तनिक भी परवाह नही करते। अपना सुधार वही व्यक्ति कर सकता है जो प्रथम तो अपनी त्रुटियो एव दोषो को पहचाने और दूसरे भविष्य मे विश्वास रखे।

अज्ञानी मे ये दोनो ही बातें नही होती। वह इस बात का विचार नही करता कि ससार और ससार के सारे पदार्थ नाशवान हैं। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

भोगा मेघवितानमध्य विलसत्सौदामिनी चचला।
आयुर्वायु—विघट्टिताभ्रपटली लीनाम्बुवद् भगुरम्॥
लोला यौवन लालसा तनुभृतामित्याकलय्यद्रुत।
योगे धैर्य समाधि सिद्धि सुलभे बुद्धि विदध्व बुधा॥

अर्थात्—देह धारियो के भोग विषय सुख, सघन बादलो मे चमकने वाली बिजली की तरह चचल हैं। मनुष्यों की आयु हवा से छिन्न-भिन्न हुए बादलों के जल के समान क्षण-स्थायी या नाशवान है। और युवावस्था की उमग भी स्थिर नही है। इसलिये बुद्धिमानो! धैर्य से चित्त को एकाग्र करके उसे योग साधना मे लगाओ।

अभिप्राय यही है कि मनुष्य की आयु और इस ससार के समस्त मनमोहक पदार्थ नाशवान हैं। अतः अज्ञानी पुरुष ही इनमे आसक्ति रखते हैं तथा अपनी विवेकहीनता के कारण इनमे गृद्धता एव ममत्वभाव रखते हैं। परिणाम यह होता है वे अपने जीवन काल मे तो कर्मों का बधन करते ही रहते हैं, अत समय मे भी हाय-हाय करते हुए बाल-मरण मरते हैं तथा कुगति मे जाते हैं।

इसलिये बधुओ! हमे ज्ञान की सच्ची पहचान करके आध्यात्मिक ज्ञान हासिल करना है। आध्यात्मिक या पारमार्थिक ज्ञान के समान पावन और दुर्लभ वस्तु इस ससार मे दूसरी नहीं है। इसे प्राप्त करने पर ही मनुष्य अपना लौकिक और लोकोत्तर कल्याण करने मे समर्थ बन सकता है।

२२ | सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्

धर्मप्रेमी वधुओ माताओ एव वहनो !

हमारा विषय यह चल रहा है कि सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप, ये चारो मोक्ष के साधन हैं। इन चारो मे से अगर एक भी मर्यादित नही रहे तो हमे अपने लक्ष्य की प्राप्ति नही हो सकती। उसी प्रकार, जिस प्रकार आप हलुआ वनाते हैं तो उसके लिए आटा, शक्कर, घी और पानी ये चारो ही उसी प्रमाण मे डालते है जिस प्रमाण से डालना चाहिए। इन वस्तुओ मे एक भी वस्तु अगर न रही या न्यून मात्रा मे रही तो आपका पकवान रुचिकर नही वनेगा।

सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का भी यही हाल है। ये चारो सही मात्रा मे होने पर ही आप मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति कर सकते हैं और आत्मा के लिए कल्याणकारी स्थिति वना सकते हैं। किन्तु इनमे से किसी का भी अभाव हो तो हमारा उद्देश्य पूरा नही हो सकता।

कल मैंने आपको ज्ञान के विषय मे वताया था कि भौतिक अथवा व्यावहारिक ज्ञान कितना भी हासिल क्यो न कर लिया जाय वह इहलोक मे ही उपयोगी वनेगा, परलोक मे वह आपका तनिक भी सहायक नही वन सकता। किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान आपको इस लोक और परलोक दोनो मे लाभकारी सिद्ध होगा। कहा भी है—

"ज्ञान सर्वार्थसाधकम्।"

सभी प्रकार के पदार्थो की प्राप्ति मे ज्ञान ही साधक है।

तो ऐसा ज्ञान कहाँ प्राप्त होगा ? इस विषय मे भी कल कहा गया था कि आत्म-कल्याणकारी, यानी आध्यात्मिक ज्ञान धर्म शास्त्रो से प्राप्त हो

सकेगा। स्वाभाविक है कि भूगोल पढनेवाला न्याय के सवालो का उत्तर नही दे सकता और ज्योतिष पढनेवाला इतिहास के वारे मे नही बता सकता। साराश यही है कि जिस विषय को जो पढता है उसी मे वह पारगत होता है तथा जिस विपय को पढना चाहता है वह उसी विपय के ग्रन्थो मे पा सकता है। इस प्रकार आध्यात्मिक विपय हमे धर्म-ग्रन्थो मे ही मिलता है अन्य व्यावहारिक विपयो के ग्रन्थो मे नही ?

किस धर्म के शास्त्र पढे जाँय ?—

वधुओ, आप लोग महाजन हैं, वाल की खाल निकालने वाले हैं। महाजनो का शरीरवल भले ही कम हो पर दिमागी वल वडा ज्वर्दस्त होता है। अत आप मे से कोई यह प्रश्न भी पूछ सकता है कि धर्म तो अनेक हैं फिर कौन-सा धर्म-शास्त्र हम पढें ?

आपका प्रश्न गलत नही होगा। जव धर्म अनेक हैं तो धर्मशास्त्र भी अनेक होने स्वाभाविक हैं। उनमें से किसी की भापा पाली है, किसी की अर्ध-मागधी इसी प्रकार सस्कृत, अग्रेजी, फारसी तथा उर्दू आदि अनेक भापाओ मे धर्म-शास्त्र लिखे गये हैं।

किन्तु हमे उनकी भापा से कुछ नही लेना है। देखना यह है कि धर्म के मूल सिद्धान्त वही हैं या नही ? और वे मूल सिद्धान्त सभी धर्मों मे एक जैसे हैं। सभी धर्म-शास्त्र कहते हैं 'सत्य वोलो, हिंसा मत करो, चोरी को त्यागो, दान दो, शील का पालन करो, आदि-आदि।

मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या किसी भी धर्म अथवा धर्मशास्त्र मे यह कहा गया है ? झूठ वोलो, हिंसा करो, चोरी करो, व्यभिचारी वनो या कभी दान मत दो ? नहीं, कोई भी धर्म ऐसा नही कहता। भले शास्त्र अलग-अलग हैं पर वे हमें आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करते हैं।

उदाहरणस्वरूप ज्ञान को ही लीजिए। हम कहते हैं—'**सम्यक्ज्ञान**', अग्रेजी भापा वाले कहेगे—'**राइट नॉलेज**', फारसी भापा वोलने वाले कहते हैं—'**इलमफाजी**,।' इस प्रकार केवल भापा मे फर्क है पर चीज वही है। कोई व्यक्ति उन्हे धर्म-विरोधी नही कह सकता। खीचातानी केवल इसलिए होती है कि हम भापा को मानते हैं और प्रत्येक भापा-भापी अपने शास्त्र को पढकर अपनी इच्छानुसार अर्थ निकालता हुआ धर्म क्रियाओ मे कुछ फेर कर लेता है। लेकिन इनसे धर्म-शास्त्रो को कभी गलत नही ठहराया जा सकता। वे सभी सच्चे धर्म को प्रकाशित करते हैं।

भगवद्गीता मे कहा गया है—

"न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते।'

इस ससार मे ज्ञान जैसा पवित्र पदार्थ दूसरा नही है।

मराठी भाषा मे भी कहा है—

अज्ञानाचे भस्म करावे, ज्ञान स्वरूपी मन विचारावे।
त्यागुनि माया नार, अजुनी तरी, मना कर विचार ॥

कहते हैं—अज्ञान को भस्म करो और ज्ञान तत्व को आत्मा मे प्रतिष्ठित करो। हम भी साधु भाषा मे कहते हैं अज्ञान को हटाओ और सम्यक् ज्ञान को ग्रहण करो, तभी आत्मा ससार की वास्तविक स्थिति को समझकर उससे मुक्त हो सकेगी। हमे जानना चाहिए कि आत्मा क्या है ? उसका शुद्ध स्वरूप कैसा है और क्या करने पर वह अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कर सकती है ? हम शास्त्रो की आज्ञा का बराबर पालन नही कर सकते किन्तु जिन महान-आत्माओ ने ऐसा किया है वे ही भव-सागर को पार कर सके हैं।

शास्त्रो मे गौतमस्वामी का वर्णन आता है और उनके विशेषणो मे एक विशेषण भी बताया जाता है –'**उड्ढ जाणू अवोसिरे।**'

वे किस प्रकार आत्म-चिंतन करते थे वह दृश्य हमारे समक्ष आता है कि उनका मस्तक थोडा झुका है, जानु यानी घुटने थोडे उठे हुए हैं और दृष्टि नत है। ऐसा क्यो ? इसलिए कि उनकी दृष्टि इधर-उधर न जाये, कौन आया, कौन गया ? इसका तनिक भी ख्याल न रहे। ऐसी एकाग्रता होने पर ही गहन चिंतन होता है। आज आप एक सामायिक भी मौन रहकर एक आसन नही कर सकते। उस काल मे भी इधर-उधर की सारी बातें करते रहते हैं और कई बार तो स्थानक मे सामायिक काल मे भी मीटिंग करते हुए आप लोग झगड पडते हैं। पर चाहते हैं उस सामायिक का भी बडा भारी फल प्राप्त करना। पर यह कैसे सभव हो सकता है ?

तभी मैंने गौतमस्वामी के विषय मे कहा कि वे किस स्थिति मे आत्म-चिंतन करते थे। और केवल चिंतन ही नही उनका प्रत्येक कार्य कलाप तपोमय, ज्ञानमय एव धर्ममय होता था। दो दिन उपवास करना, तीसरे दिन पारणा करना और उसके लिए भी स्वय ही भिक्षा लाना। भिक्षा लाकर भगवान् को दिखाने के पश्चात् कही पारणा होता था। यह तो थी उनके आहार की विधि।

इसके अलावा वे दिन के पहले प्रहर मे स्वाध्याय करते थे, दूसरे प्रहर मे चिंतन करते थे और तीसरे प्रहर मे आहार के लिये जाते थे।

हमारे भाइयो को शका होगी कि उस समय मुनि एक बार गोचरी के लिये जाते थे तो आज सत दो बार क्यो जाते हैं ? इसका कारण यह है

कि उस समय पुद्गलो मे सरसता थी। एक वार कल्पवृक्ष का फल खाया तो तीन दिन तक भूख नही लगती थी। यह पहले आरे की बात है। दूसरे आरे मे एक वार खा लेने पर दो दिन तक भूख का अनुभव नही होता था। तीसरे आरे मे आज खा लेने पर कल यानी अगले एक दिन खाने की इच्छा नही होती थी और चौथे आरे मे प्रतिदिन एक वार खा लेना काफी होता था।

वर्तमान मे पाँचवाँ आरा चल रहा है इसमे प्रतिदिन दो वक्त खाने की आवश्यकता है, पर इसके अलावा भी फलाहार, चाय-नाश्ता आदि चलता रहता है। वैसे इस पचमकाल मे दो वक्त खाना पर्याप्त हो जाता है। इसके वाद आयेगा छठा आरा। उसके वारे मे तो क्या कहे—'हाथ सूखा और वालक भूखा।' यह वात ही सच होगी। यानी इतनी भूख लोगो को लगेगी।

तो काल के मुताविक शरीर की स्थिति होने के कारण सत अगर दो वक्त आहार करते हैं तो यह शास्त्र-विरोधी वात नही है। शास्त्र मे तो यह भी कहा गया है—'**काले काल समाचरेत्**।' यानी समय और काल देखते हुए जिस क्षेत्र मे जैसा रिवाज हो, वैसा करो।

साधु के लिए नियम है कि वह समय देखकर भिक्षा के लिये निकले। और भिक्षा का समय क्षेत्रो के रिवाज से वदलना पडता है। अगर हम 'चिच-पोकली' गाँव मे चातुर्मास करें तो वहाँ लोग नौ वजे खा-पीकर घर से अपने-अपने काम के लिए निकल जाते हैं और दस वजे वहनें चौका-वर्तन भी निपटा लेती हैं। उस स्थिति मे सतो को दस वजे भिक्षा के लिए पहुचना चाहिए। और पजाव मे लोगो के खाने का समय वारह वजे के वाद प्रारम्भ होता है अत वहाँ साधु-मुनिराजो को ही अपना समय वदलना पडता है।

तो मैं आपको मराठी कवि के पद्य के वारे मे वता रहा था जिसने कहा है—'अज्ञान को भस्म करो तथा ज्ञान के स्वरूप को समझो।' कुछ व्यक्ति कहते हैं—ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान मे ही अधिक सुख है। क्योकि—'**वहुजाणे घणा ताणे**।' यानी अज्ञानी तर्क-वितर्क नही करता पर ज्ञानी वहुत खीच-तान करता है।

ऐसा मानने वाले वडी भूल करते हैं। अज्ञान मे ही जो आनन्द मान लेगा वह जीवन और जगत् के रहस्य को कैसे समझेगा? पाप और पुण्य के अन्तर को न समझते हुए वह किस प्रकार मुक्ति के लिए प्रयत्न करेगा और मुक्ता-वस्था पा सकेगा? अज्ञान का केवल यही परिणाम होगा कि जीव जन्म-मरण करता चला आ रहा है और करता ही चला जाएगा।

किन्तु इसके विपरीत ज्ञानी अपने बुद्धि-बल और विवेक के द्वारा जीव तथा जगत् के रहस्य को जान लेगा, आत्मा के शुद्ध स्वरूप की जानकारी करेगा तथा शास्त्रो का अध्ययन करके अपनी आत्मा को शुद्ध करने का और कर्मों के नाश करने का प्रयत्न करेगा। पर यह सब होगा तभी जबकि हेय-उपादेय तथा कर्तव्य-अकर्तव्य को वह अपने विवेक की कसौटी पर कसेगा। दही का मथन करने पर ही मक्खन की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार तर्क-वितर्क करने पर ही अज्ञान और ज्ञान की परख हो सकती है।

इसीलिये मराठी कवि ने अज्ञान का ~~ज्ञान~~ नाश करने की प्रेरणा दी है क्योंकि अज्ञान आत्मा का हित नही कर सकता उलटे अहित का कारण बनता है।

कहा भी है—

अण्णाण परम दुक्खं, अण्णाणा जायते भय।
अण्णाणमूलो ससारो, विविहो सव्वदेहिण ॥

—ऋषिभाषित २१-१

अज्ञान सबसे बडा दुख है। अज्ञान से भय उत्पन्न होता है, सब प्राणियो के ससार-भ्रमण का मूल कारण अज्ञान ही है।

तो मराठी कवि ने अज्ञान का नाश करने की प्रेरणा के साथ-साथ अतर तम मे ज्ञान की स्थापना करने के लिये भी कहा है। पर उसके लिये एक शर्त भी रखी है कि ज्ञान-मार्ग मे दो बाधाएँ यानी अवरोध आते हैं उन्हे पहले हटाना चाहिये। वे अवरोध हैं—धन और स्त्री। इनके लिये स्पष्ट कहा है—'त्यागुनि माया नार।' अर्थात् धन और स्त्री के प्रति ममत्व का त्याग करो तभी आत्म-चिंतन हो सकेगा तथा ज्ञान फलीभूत बनेगा।

जब तक व्यक्ति धन के पीछे बावला बना फिरता है, उसे पाने के लिये नाना प्रकार के अन्याय, अनीति और कुकर्म करता है तब तक उसका हृदय ज्ञान प्राप्ति की ओर उन्मुख नही हो पाता। इसीप्रकार नारी के लिये भी कहा है कि उसके मोह मे ग्रसित मानव को सदैव घर-गृहस्थी की तथा पत्नी की आवश्यकताओ की पूर्ति करने की ही इतनी फिक्र रहती है कि वह धर्म-कार्य के लिये समय ही नही बचा पाता। काम-भोगो मे जिस व्यक्ति का मन उलझ जाता है वह पारमार्थिक विषय को नही सोच पाता।

किसी कवि ने भी कहा है —

चलूँ चलूँ सब कोइ कहै, पहुंचे बिरला कोय।
एक कनक और कामिनी, दुर्लभ घाटी होय ॥
एक कनक और कामिनी, ये लम्बी तरवारि।
चले थे हरि मिलन को, बिच्च ही लीने मारि ॥

नारि नसावैं तीन सुख, जेहि नर पासे होय ।
भक्ति, मुक्ति अरु ज्ञान मे, पैठ सके ना कोय ।।

कहते हैं कि इस ससार मे प्रत्येक व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से छूटना चाहता है और मोक्ष धाम को पहुचने की आकाक्षा रखता है किन्तु वहाँ तक पहुँच कोई विरला ही पाता है। इसका कारण कवि ने यह बताया है कि मोक्ष मार्ग का रास्ता बडा ऊबड-खाबड है तथा दो तो बडी भयकर घाटियाँ हैं जिन्हे कनक और कामिनी कहा जाता है। इन दोनों के प्रबल आकर्षण से बचना बडा कठिन है और जब तक इनसे विरक्ति न हो जाय साधना के पथ पर यानी मुक्ति की ओर जाने वाले मार्ग पर आगे नही बढा जा सकता।

कवि ने एक और उदाहरण दिया है कि भक्त बडे उत्साह और उमग के साथ भगवान् से मिलने के लिये भक्ति-मार्ग पर कदम रखता है, अर्थात् भक्ति करना प्रारम्भ करता है। किन्तु कनक यानी सोना और धन तथा कामिनी रूपी तलवार उसे रास्ते मे ही मार गिराते हैं। इतिहास हमे अनेक दृष्टान्त ऐसे बताता है, जिनमे बडे-बडे तपस्वी और भक्त भी काम विकारो के वशीभूत होकर अपनी भक्ति और तप को मिट्टी मे मिला चुके हैं। जैसे—

विश्वामित्र पराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना—
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कज सुललित दृष्ट्वैव मोहगता ।

विश्वामित्र और पराशर आदि [illegible]पि हो चुके हैं। जिनमे से कोई वायु भक्षण करके रहता था, कोई जल पर ही जीवन निर्वाह करता था और कोई वृक्षो के पत्तो पर ही अपना जीवन चलाता था। किन्तु ऐसी तपस्या करने वाले भी नारी का सुन्दर मुख देखते ही विकारग्रस्त हो गए।

इसीलिये पद्य मे आगे कहा गया है—

नारि नसावैं तीन सुख, जेहि नर पासे होय ।
भक्ति मुक्ति अरु ज्ञान में पैठ सके ना कोय ।

अर्थात् अगर स्त्री पुरुष के समीप रहे तो वह मनुष्य को भक्ति, ज्ञान और मुक्ति, इन तीनो की प्राप्ति मे बाधा डालती है। दूसरे शब्दो में इन तीनो मे गति नही करने देती। इसीलिये कवि ने स्त्री-सगति अथवा विषयो से बचने की प्रेरणा दी है ताकि मानव धन और स्त्री सम्बन्धी प्रलोभनो से बचकर निराकुलता पूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सके।

कहते हैं कि व्यास जी ने शुकदेव से विवाह करने का आग्रह किया और नाना प्रकार से उन्हें समझाया। किन्तु शुकदेव जी ने उनकी एक भी बात नही मानी। उलटे कहा— 'पिताजी! लोहे की और काठ की बेडियो से तो फिर

भी छुटकारा मिल सकता है किन्तु स्त्री के मोह रूपी बधन से कभी भी मुक्त नही हुआ जा सकता अत मैं इस बधन मे कदापि नही बँधना चाहता।" यह कहकर वे वन मे तपस्या करने के लिये चल दिये।

तो बन्धुओ, मुख्य बात यही है कि अगर मानव अपनी आत्मा का कल्याण चाहता है तो उसे धन-वैभव, स्त्री, पुत्र आदि समस्त सासारिक बधनो से उदासीन होकर सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करना चाहिए और इसके लिए धर्म-शास्त्रो का अध्ययन करते हुए उनके आदेशानुसार अपनी श्रद्धा को दृढ रखते हुए सम्यक्चारित्र को अपनाना चाहिए।

धर्मशास्त्र भले ही अनेक हो, किन्तु उनके मूल तत्त्व एक हो तो उन्हें जैन धर्म के सिद्धातो के विरुद्ध नही समझना चाहिये। जैन धर्म मे अन्य कोई विशेष भेद की बात नही है। वह शब्द रहित है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर मालूम पड सकता है कि इसमे मूल शब्द 'जन' है। हम सब जन कहलाते हैं। जन पर दो मात्राएँ लगाई गई हैं 'जैन' कहने के लिये और वे दो मात्राएँ ज्ञान और क्रिया की समझनी चाहिए। ये दोनो जिसके जीवन मे हो वही जैनी है अकेले ज्ञान या अकेली क्रिया से मतलब सिद्ध नही होता। ज्ञान होने पर जहाँ क्रिया न हो, और जहाँ क्रिया हो किन्तु ज्ञान न हो वहाँ जैन धर्म का अस्तित्व नही रहता।

बहुत से व्यक्ति इस बात को न समझने के कारण जैनधर्म को एक भिन्न ही धर्म मानते हैं। लेकिन बात ऐसी नही है। उसमे है केवल यही कि ज्ञान के साथ-साथ आचरण भी हो ऐसा जैनधर्म कहता है। और जिस धर्म मे भी ये दोनो बातें आवश्यक मानी जाती हैं वह जैनधर्म से अलग नही हो सकता।

इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान और कर्म इन तीनो के सुमेल से जो भी धर्म अस्तित्व मे आता है वह जीव को ससार-मुक्त होने मे सहायक बनता है तथा उसे मजिल तक पहुचाता है। किसी को भी ऐसा नही समझना चाहिए कि हमारा धर्म ही मोक्ष दिलाता है। उदाहरण के लिए आपके नागपुर मे किसी को आना हो तो क्या एक ही दिशा या एक ही मार्ग से कोई आ सकता है? दूसरी दिशा या दूसरे मार्ग से नही? ऐसी बात नही हैं। व्यक्ति किसी भी ओर से इस शहर मे पहुच सकता है। शर्त केवल यही है कि उसे मार्ग का ज्ञान हो, उस मार्ग से नागपुर आ जाएगा इसका विश्वास हो, और वह अपने विश्वास के अनुसार चले भी। अगर इन तीनो मे से किसी एक का भी अभाव होगा तो वह नागपुर मे नही पहुच सकेगा। जैसे मार्ग की तो उसे जानकारी हो पर वह चले नही,या चल भी पडे पर मार्ग का ज्ञान न हो तो न जाने किस ओर भटक जाएगा।' इसलिए विश्वास, ज्ञान और क्रिया, इन तीनो का एक

साथ होना जरूरी है, उस धर्म का नाम चाहे कोई भी क्यो न हो। और ये तीनो चीजे ही सम्यक् ज्ञान, सम्यकदर्शन एव सम्यक्चारित्र कहलाती हैं, जिनको हमारा धर्म मुक्ति का मार्ग कहता है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः

सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्ज्ञान एव सम्यकचारित्र मोक्ष के मार्ग हैं।

तो वधुओ, जिस प्रकार आप किसी चौराहे पर लगे हुए मील के पत्थर से जानकारी हासिल करते हैं कि कौन सा मार्ग किस शहर को जाता है? और शहर कितनी दूर है? और तब अपने गतव्य की ओर वढते हैं।

इसीप्रकार शास्त्र हमारे लिए चौराहे पर खडे मील के पत्थर का काम करते हैं। यह मानव जीवन भी एक चौराहा है और यहाँ से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन चारो गतियों मे जा सकता है। किन्तु कौन सा मार्ग किस गति मे पहुचाता है, यह मील के पत्थर के समान हमारे शास्त्रो मे स्पष्ट और विस्तार से वताया गया है। आप किसी नये प्रदेश मे किसी चौराहे पर पहुच जाय, पर वहाँ अगर सकेत से वताने वाला पत्थर न हो तो किसी भी प्रकार आप नही जान सकेंगे कि कौन सा मार्ग किस शहर की ओर जाता है?

ठीक इसी प्रकार मानव-जीवन रूपी चौराहे पर आप खडे हैं, पर किस ओर आपको वढना चाहिए यह आप नही समझ सकते। केवल जिनेश्वर भगवान-प्ररूपित शास्त्र ही आपको यह बता सकते हैं कि कौन सा मार्ग पाप का है जो आपको नरक या तिर्यंच गति की ओर पहुचा देगा, तथा कौन सा धर्म-मार्ग है जो स्वर्ग और मोक्ष की ओर ले जाएगा। इतना ही नही, शास्त्र आपको इससे भी अधिक जानकारी देंगे कि कौन सा मार्ग आपके लिये गृहणीय है, उसमे कौन-कौन से अवरोध हैं और उन अवरोधो से किस प्रकार वच कर आप निकल सकते है? सक्षेप मे शास्त्रो के समान अन्य कोई भी महत्त्वपूर्ण वस्तु इस ससार मे नही है, जो आपके महान् उद्देश्य की सिद्धि कर सके। इसीलिये कहा जाता है—

"सर्वस्य लोचन शास्त्रम्"

प्राणीमात्र के लिये सर्वश्रेष्ठ आख सात्विक धर्म-शास्त्र ही हैं—क्योंकि शास्त्रो से ही विश्व की तीनो काल की घटनाओ को जाना जा सकता है।

वस्तुत अपने शरीर मे रहे हुए दोनो नेत्रो से तो आप इस लोक की सम्पूर्ण वस्तुओ को भी नही देख सकते। केवल कुछ दूर तक के दृश्यमान पदार्थों का ही अवलोकन कर सकते हैं और उसपर भी जरा सा कुछ अवरोध

आगे आया तो दृष्टि बिलकुल ही सीमित हो जाती है। किन्तु आध्यात्म-शास्त्ररूपी नेत्र के द्वारा आप त्रिलोक की स्थिति को जान सकते हैं, सम्पूर्ण गतियो की जानकारी कर सकते हैं तथा पुण्य, पाप, राग, द्वेष, मोह आदि विषय-विकारो के कुफलो को नष्ट करने के उपायो को पहचान सकते हैं। 'अध्यात्मसार' ग्रन्थ मे कहा भी है—

"अध्यात्मशास्त्रमुत्तालमोहजालवनानल"।

आध्यात्म शास्त्र ही भयकर मोह-जाल रूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान है।

इसका कारण यही है कि वे ससार-भ्रमण कराने वाले पाप की तथा ससार-मुक्त कराने वाले पुण्य की सही पहचान कराते हैं वे बताते हैं—

'पातयति इति पापम्।'

अर्थात् जो आत्मा को अधोगति मे गिराता है वह पाप है तथा—

"पवित्रम् करोति आत्मानम् इति पुण्यम्।"

हमारी आत्मा, जो काम, क्रोध, मोह एव लोभ आदि विकारो से मलीन हो गई है उसे शुद्ध और पवित्र बनाने वाला पुण्य है।

तो आत्मा को गिराने वाला पाप है और ऊँचा उठाने वाला पुण्य। जिस प्रकार एक ईंट के ऊपर दूसरी, दूसरी पर तीसरी, इस प्रकार क्रमश रखते जाने पर दीवार खडी हो जाती है, इसीप्रकार पुण्य का सचय होते जाने पर आत्मा ऊँची उठती जाती है। आज आपको जो सासारिक सुख प्राप्त हुए हैं वे पुण्य से प्राप्त हुए हैं, धन और सतान भी पुण्य से मिले हैं, आपकी श्रद्धा और श्रावकत्व तथा हमारा साधुत्व भी पुण्यो के योग से मिला है। अधिक क्या कहा जाय, जिन्हे तीर्थंकर पद प्राप्त हुआ, वह भी अनतानत पुण्यो के सयोग से ही सभव हो सका है।

तो बधुओ, मेरे कहने का सार यही है कि अगर हम अपना भला चाहते है और अपनी आत्मा का कल्याण करने की अभिलाषा रखते हैं तो हमे केवल भौतिक या व्यावहारिक ग्रन्थो तक ही अपने ज्ञान को सीमित नही रखना चाहिये अपितु अध्यात्मशास्त्रो का पठन और मनन करना चाहिये। क्योकि भौतिक-शास्त्र आपको केवल सासारिक समस्याओ के सुलझाने मे सहायक बन सकते हैं तथा इस लोक मे सुख-पूर्वक जीवन बिताने के लिये साधन जुटा सकते है। किन्तु इस लोक से आगे वे किसी काम नहीं आएँगे। परलोक मे काम आने वाले यानी परलोक को सुधारने वाले आध्यात्मिक शास्त्र ही होते हैं। आप कहेगे, ऐसा किस प्रकार होता है? इसलिये कि शास्त्र मानव को सद्गुणो से

परिचित कराके जीवन को सद्गुण-सम्पन्न बनाते हैं, पापो का कुपरिणाम समझा कर उनसे बचाते हुए शुभकर्मों के लिये प्रेरित करते हैं तथा व्रत, नियम, त्याग, तपस्या आदि के महत्व को आचरण मे उतारने का आदेश देकर इस लोक और परलोक दोनो को सँवारते हैं। अर्थात् वे आत्मा को उत्तरोत्तर निर्मल बनाए हुए इस लोक के पश्चात् भी सद्गति की ओर ले जाते हैं।

पर यह होगा तभी, जबकि शास्त्रो का स्वाध्याय केवल तोतारटत न हो। अनेक व्यक्ति प्रवचन सुनने के लिये स्थानक मे जाकर बैठ जाने को ही अपने कर्तव्य की इति श्री मान लेते है, सोचते हैं कि हमने धर्म कर लिया या पुण्य कमा लिया। चाहे मन की चारो ओर उडानें जारी रहने पर वे धर्मोपदेश को समझ ही न पाए हो, उन्हें जीवनसात् करना तो दूर की बात है। और इसी प्रकार वे कुछ समय शास्त्रो का स्वाध्याय भी कर लेते हैं। पर वह केवल जबान से। शास्त्रो मे क्या पढा इसे न वे अन्तरात्मा से ग्रहण करते हैं और न ही उसे शरीर के द्वारा आचरण मे उतारते हैं। ऐसे स्वाध्याय से कोई लाभ नही होता। वह उसी प्रकार निरर्थक चला जाता है जिस प्रकार चिकने घडे पर डाला हुआ पानी।

मनुस्मृति मे कहा गया है—

"पठन मननविहीन पचनविहीनेन तुल्यमशनेन।"

अर्थात् चिंतन और मनन रहित वाचक ऐसा ही है, जैसा कि पाचन क्रिया से रहित खाया हुआ भोजन।

वह भोजन जो पच नही पाता, शरीर को कोई लाभ नही पहुचाता, इसी प्रकार जो स्वाध्याय मन को शुद्ध नही करता और आचरण मे नहीं उतरता वह भी व्यर्थ ही चला जाता है। अत हमे शास्त्रो का पठन करके उसे जीवन मे उतारना है तथा जीवन को हारना नही, जीतना है।

जीत कैसी हो ?

इस ससार मे 'जीत' शब्द सभी को प्रिय लगता है। कोई भी व्यक्ति हार शब्द को पसद नही करता। पर हार और जीत शब्दो को किन अर्थों मे लेना चाहिये, समझना इसी बात को है।

क्या व्यक्ति को अपने समकक्ष व्यापारी से अधिक धन कमाकर उसे नीचा दिखाने मे जीत है ? क्या अपने से झगड पड़ने वाले व्यक्ति को अपने शारीरिक बल से परास्त कर देने मे जीत है ? क्या दुनिया भर की पोथियो को पढकर आत्म-ज्ञान से शून्य रहते हुए भी लोगो पर कुतर्कों के द्वारा अपनी विद्वत्ता जमा देने मे ही जीत है ? नही।

इतिहास के पढनेवाले जानते है कि हिटलर ने अपने समय मे लाखो व्यक्तियो का सहार करके यूरोप की भूमि को रक्तरजित कर दिया था और अपने आपको विजेता घोषित किया था। सिकदर ने अनेक देशो को अपनी सैन्यशक्ति से जीतकर चारो ओर अपनी विजय का डका वजवा दिया था। किन्तु लोग आज हिटलर के नाम पर थूकते हैं और सिकन्दर स्वय ही मरते समय पश्चाताप करता हुआ इस लोक से रवाना हुआ था। आज उनकी जीत और विजय कोई महत्व नही रखती, क्योकि उससे उन्होने अपनी आत्मा को क्या लाभ पहुचाया ? कुछ भी नही।

इसलिए हमारा धर्म और हमारे धर्म-शास्त्र युद्धो मे निरपराध प्राणियो को मारकर उन पर जय पाने वालो को विजयी नही मानते। वे मानव के हृदय मे चलने वाली सत् और असत् प्रवृत्ति की लडाई को लडाई मानते हैं। गीता मे उसे दैवी और और आसुरी प्रवृत्ति के नाम से कहा गया है। तो अन्तर मे चलने वाले इस झगडे मे जव सत् प्रवृत्ति जीत जाती है तो उसे जीत कहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से रावण, कस, गोशालक, और वर्तमान युग के जिन्ना विजयी नही कहला सकते, क्योकि वे सत् प्रवृत्ति से हार गए थे। विजयी कहलाये हैं—भगवान् महावीर, ईमामसीह, गौतम बुद्ध और महात्मा गांधी जैसे आत्म-विजयी। जिन्होने अपनी समस्त असत्प्रवृत्तियो पर विजय प्राप्त कर ली थी।

इस विषय को सरल ढग से इसप्रकार भी समझा जा सकता है कि असत्य, अन्याय, अनीति, हिंसा, क्रूरता एव निर्वलो के शोषण मे जीत नही है। जीत छिपी है सत्य, अहिंसा, नीति, न्याय, दया, परोपकार तथा क्षमा आदि उत्तम भावनाओ मे।

'सामवेद' मे एक स्थान पर दिया गया है--

"दान द्वारा कृपणता पर विजय प्राप्त करो, शाति द्वारा क्रोध पर विजय प्राप्त करो। अश्रद्धा को श्रद्धा से जीतो और असत्य को सत्य से। यही सन्मार्ग है, यही स्वर्ग है।"

अभिप्राय यही है कि मानव के अन्तर्मन मे ही दैवी और आसुरी युद्ध होता रहता है। क्रोध के सामने क्रोध करना आसुरी युद्ध है और क्रोध का क्षमा से मुकावला करना दैवी युद्ध कहलाता है। इस प्रकार अशुभ विचारो को शुभ विचारो से जीतना असत् पर सत् का विजय पाना कहलाता है और जो ऐसी विजय प्राप्त कर लेता है वही सच्चा विजयी कहा जा सकता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे भी कहा गया है—

जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिए ।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ॥

अर्थात्—भयकर युद्ध मे हजार-हजार दुर्दान्त शत्रुओ को जीतने की अपेक्षा अपने-आपको जीत लेना ही सबसे बडी विजय है ।

वस्तुत ऐसी विजय ही आत्मा को ससार-भ्रमण से बचा सकती है । मानव-जीवन एक सग्राम है । स्वय तीर्थंकरो ने भी इसी जीवन मे कर्मों के साथ लडकर विजय प्राप्त की थी । इस जन्म मे अगर विषय-विकारो पर विजय प्राप्त न की गई तो फिर और कोई भी जीवन इस कार्य को सम्पन्न न कर सकेगा । 'आचाराग सूत्र' मे कहा भी है—

जुद्धारिय खलु दुल्लह ।

विकारो से युद्ध करने के लिए फिर यह अवसर अर्थात् मानव-जन्म मिलना दुर्लभ है ।

इसलिए मुमुक्षु को बाह्य प्रपचो से ध्यान हटाकर अपने अन्दर की उलझनो को सुलझाना है तथा आन्तरिक शत्रुओ को ही जीतना है, जिससे आत्मा का लाभ होगा । बाहरी युद्धो से कुछ बनने वाला नही है सिवाय बिगडने के ।

आचाराग सूत्र मे ही बताया है—

इमेण चेव जुज्झाहि,
कि ते जुज्झेण बज्झओ ।

जीव को कितनी सुन्दर प्रेरणा दी है कि—अपने अन्तर के विकारो से ही युद्ध कर । बाहर के युद्ध से तुझे क्या प्राप्त होगा ?

तो बधुओ, आप समझ गए होगे कि जहाँ बाहरी युद्ध मे जीतने पर भी आत्मा अवनति के गर्त मे गिरती है वहाँ आंतरिक युद्ध मे जीतने पर वह निरन्तर ऊँची उठती जाती है । अत हमे आत्मिक शत्रुओ से ही जीतना है, और उन्हे जीतने के उपाय सत्-शास्त्रो मे खोजकर काम मे लेना है । ऐसा करने पर ही हमारा इह लोक और परलोक सुधर सकेगा ।

२३ | सच्चा पंथ कौन सा ?

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

कल हमने धर्मशास्त्रो के विषय मे काफी विचार-विमर्श किया और जानकारी हासिल की कि सम्यक्ज्ञान और सम्यक्दर्शन के मार्ग दर्शक धर्मशास्त्र हैं। धर्म शास्त्र विभिन्न भापाओ मे लिखे गए हैं, पर उन भापाओ पर ध्यान न देकर हमे उनमे यह जानना है कि आत्मा का कल्याण किसमे है ? और उस कल्याण के मार्ग पर चलने के लिये कौन सी वातें ग्रहण करनी हैं तथा कौनसी छोडनी हैं ? इन सव वातो को समझकर अमल मे लाना ही शास्त्रो के पढने का सार है।

अगर धर्मशास्त्र सुनेंगे नहीं, सत्सग करेंगे नही तथा तत्त्व ज्ञान के रहस्य को काम मे लेंगे नही तो आत्म-कल्याण कैसे होगा ? रास्ता ही जव जीव नही जानेगा तो चलेगा कैसे ? भटकने के लिये तो चौरासी लाख योनियाँ हैं और इनमे भटकता-भटकता जीव मनुष्य शरीर मे आया है। इसमे आने के पश्चात् ही इसे समझ आई है कि यह जीवन वडी कठिनाई से मिला है। जीवन मे कर्तव्य-अकर्तव्य क्या है ? प्रशसनीय व निन्दनीय क्या है तथा यशकारक और अपयशकारक क्या हैं ? इन सव वातो की जानकारी मानव जीवन मे ही होती है, क्योकि इस जीवन मे वुद्धि और विवेक मिलते हैं जो अन्य योनियो मे नही मिल पाते। अपनी विशिष्ट वुद्धि और विवेक द्वारा जव वह सम्यक् ज्ञान हासिल करता है तो शारीरिक सुख एव ऐश-आराम को असार समझकर उनसे उदासीन हो जाता है और मुक्ति के मार्ग पर वढता है।

इस मार्ग पर वढने मे शास्त्र उसके सहायक वनते हैं। किन्तु जव व्यक्ति धर्मशास्त्रो के गूढ रहस्यों तक नही पहुच पाते और विभिन्न शास्त्रो की शब्दावलियो मे उलझकर निराशा से भर जाते हैं तो कहा जाता है—

श्रुतयोविभिन्ना, स्मृतयोश्चभिन्ना, ।
नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम् ॥
धर्मस्य तत्व निहित गुहायाम् ।
महाजनो येन गत स पन्था ॥

हिन्दु धर्म मे श्रुति-शास्त्र और स्मृति-शास्त्र अलग-अलग हैं। श्रुति शास्त्र आत्मा के विषय मे विशद विवेचन करते हैं और स्मृति शास्त्र क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए इसे स्मरण रखने का आदेश देते हैं।

तो साहित्यकार का कथन है कि श्रुति-शास्त्र जिन्हे वैष्णव धर्मग्रन्थो की दृष्टि से उपनिषद् कहा जाता है, उनमे भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार मिलते हैं तथा स्मृतियो मे भी यही वात है कि एक मे जो वात पाई जाती हैं वह दूसरी मे नही दिखाई देती। मनुस्मृति, दक्षस्मृति, कात्यायन स्मृति, आदि अष्टादश स्मृतियाँ मेरे देखने मे भी आई हैं। तो कहा गया है कि श्रुति वचन भिन्न-भिन्न हैं। और स्मृति वचन भी भिन्न-भिन्न हैं। इसके अलावा मुनिजनो के वचनो को भी प्रमाण नही माना जा सकता तो फिर धर्म को किस प्रकार समझा जाय ? ऐसा लगता है कि विभिन्न श्रुतियो, विभिन्न स्मृतियो और भिन्न-भिन्न महापुरुषो के विचार भी भिन्न-भिन्न होने के कारण धर्म का तत्व तो किसी गहन गुफा मे जाकर छिप गया है, जिसे वाहर लाया नही जा सकता।

तो अव समस्या उठ खडी होती है कि जव धर्म के रहस्य को जाना नही जा सकता तो आखिर किया क्या जाय ? विना किसी आधार के और विना किसी सहायक के जीवन को किस प्रकार चलाया जाय ? तो उसका उत्तर देते हैं—**'महाजनो येन गत स पन्था ।'**

अर्थात् श्रुति स्मृति एव अन्य शास्त्रों के मत विभिन्न हैं तो रहने दो, हमे तो उस मार्ग से चलना चाहिए जिससे महापुरुष, ऋषि, महर्षि भक्त आदि गये हैं। इधर-उधर के पचडे में न पडकर सत्य, शील, तप आदि गुणो से जिन महापुरुषो ने आत्म-कल्याण किया है। हम भी उन्ही गुणो को अपनाएँ।

हमारे यहाँ चौपाई पढने का रिवाज है। चौपाई यानी चारपाई, चार पायो वाली चीज। दान, शील, तप और भाव मे भी धर्म के चार पाये हैं और ऐसे धर्म कथानको को जिनमे ये चारो चीजें होती हैं हम पढते हैं आप सुनते भी हैं। पर सुनकर उसका निचोड जो आत्मा के लिए कल्याणकारी है, उसे ग्रहण करना चाहिए। पढने और सुनने का लाभ तभी हासिल हो सकता है जबकि उसमे से सार तत्व ग्रहण किया जाय। प्रत्येक महापुरुष के जीवन मे कुछ ऐसी अच्छाइयाँ होती हैं जिन्हे ग्रहण करके व्यक्ति स्वय भी महान् वन सकता है।

राजा हरिश्चन्द्र की जीवनी सत्य-धर्म को प्रकाशित करती है। उन्होंने सत्य का पालन करने के लिये अपना राज्य-पाट छोडा, पत्नी से दासी वृत्ति कराई और स्वय भी शूद्र के यहाँ काम करते रहे। सब सकटो को सहन किया किन्तु अपने सत्य का त्याग नही किया। किन्तु आखिर मे विजय उन्ही की हुई और सम्पूर्ण विश्व मे उनकी ख्याति फैली। स्वय देवताओ को भी उनके सत्यव्रत ने अपने चरणो पर झुका लिया। इसीलिए कहा है—

सत मत छोड़ो साइया, सत छोड़े पत जाय।
सत की बाँधी लक्ष्मी, फेर मिलेगी आय॥

यानी सत्य का त्याग मत करो। अगर इसे त्याग दिया तो इज्जत और प्रतिष्ठा भी चली जाएगी जो लाख प्रयत्न करने पर भी पुन प्राप्त नही होगी और उसके विपरीत सत्य पर दृढ रहे तो उसके कारण गई हुई लक्ष्मी अवश्य ही लौटकर आ जाएगी। जिस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र सत्य पर दृढ रहे तो उनका गया हुआ विशाल राज्य पुन मिल गया यानी लक्ष्मी को लौटकर आना ही पडा।

इसी प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तमराम की जीवनी से भी शिक्षा मिलती है कि व्यक्ति को अपने वचनो की प्राण देकर भी रक्षा करनी चाहिये। राम को वनवास करना पडा, वह भी कम नही, पूरे चौदह वर्षों के लिये। यद्यपि राम न चाहते तो वन मे न भी जाते किन्तु कैकयी को दिए हुए अपने पिता के वचनो की रक्षा के लिये वे सहर्ष वन मे गए और अपने उज्ज्वल कुल के गौरव की रक्षा की। तभी तो आज तक गाया जाता है —

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जायँ पर वचन न जाई॥

रामायण के द्वारा सतीत्व के पालन का भी एक महान् आदर्श हमारी बहिनो के सम्मुख उपस्थित होता है। रावण ने सीता का बलपूर्वक हरण किया किन्तु लाख प्रयत्न करने और समझाने पर भी वह अपने पातिव्रत्य से बाल भर भी नही डिगी। शीलव्रत का इस प्रकार अखड पालन करने के कारण ही आज घर-घर मे सीता सती की महिमा गाई जाती है और कहा जाता है—"सती न सीता सारखी ।'

राजा कर्ण को आज घर-घर मे लोग उनके दान के कारण स्मरण करते हैं। प्रात काल के समय मे अगर कोई झगडा-झझट करता है या अप्रिय शब्द बोलता है तो लोग कहते है—"राजा कर्ण का वक्त है इस समय तो कम से कम धीरज रखो।"

कर्ण सूर्य के वरदानित पुत्र थे। अत उन्हे जन्म के साथ ही दैवी कवच एव कुडल प्राप्त हुए थे। वे स्वय महान् वीर थे और अपने कवच-कुडलो से अपराजेय वन गए थे। अत जव महाभारत के इतिहास प्रसिद्ध युद्ध मे जव वे हराये नही जा सके तो अर्जुन ने देवराज इन्द्र की शरण ली और उन्होने ब्राह्मण के वेश मे आकर कर्ण से उनके अद्भुत कवच और कुडलो को दान के रूप मे माग लिया।

कर्ण याचक को निराश नही लौटाते थे, उन्होने उसी क्षण शरीर से चमडी के समान जुडी हुई दोनो वस्तुओ को खीचकर ब्राह्मण के वेश मे आए हुए इन्द्र को प्रदान कर दी। शरीर लहूलुहान हो गया किन्तु उन्होने परवाह नही की।

उनके दान की एक और दिल दहला देने वाली घटना है जव वे मृत्यु शैय्या पर पडे हुए थे, उनके दान की परीक्षा लेने के लिए पुन याचक आ उपस्थित हुए और उनसे एक माशा सोना दान मे मागा।

कर्ण बोले—"भाई! इस समय तो मेरे पास अव कुछ भी नही है तुम्हे किस प्रकार दू ?"

"आपके दातो मे सोना जो लगा हुआ है।" याचक ने सुझाव दिया।

"ओह! मुझे इस वात का खयाल ही नहीं रहा। तुमने बडा उपकार किया है कि मेरे व्रत को भग होने से वचा लिया। कृपा करके मेरे दातो मे सोना निकाल लो, मैं स्वय नही दे सकता क्योकि मेरे हाथ इस योग्य नही है।" कर्ण ने वडे विनीत स्वर से आग्रह किया।

'पर तुम्हारे दातो से सोना मैं निकालू तो यह मेरे परिश्रम से उपार्जित धन हो जाएगा। फिर वह तुम्हारा दिया दान कैसे कहलाएगा ?"

"सच कहते हो भाई! शायद मृत्यु करीव होने के कारण मेरी मति मारी गई है। तुमने जो सत्य मुझे वताया है उसके लिए जन्म-जन्मान्तर तक मैं तुम्हारा ऋणी रहूगा। अच्छा हुआ कि मेरे वचन मे कलक नही लगा। अव मैं तुम्हें स्वय एक माशा सोना प्रदान करता हू।"

यह कहते हुए महाप्रयाण के पथिक महादानी कर्ण अत्यन्त कठिनाई से घिसट-घिसट कर अपने शरीर को एक पत्थर के पास ले आए और शरीर मे वची-खुची शक्ति के वल पर अपने मुँह को जोर से टक्कर पत्थर पर मारी। फलस्वरूप उनके दात टूट गए और उन्होने इशारे से याचक को दातो से सोना लेने के लिये कह दिया।

इस प्रकार दानी कर्ण ने अतिम क्षण तक अपने दान-व्रत का पालन किया तथा महाकवि कालिदास के कथन को अक्षरश सत्य सावित किया कि—

'प्रत्युक्त हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थं क्रिमैव ।'

सज्जनो की रीति ही यह है कि जब कोई उनसे कुछ मागता है तो वे मुँह से कुछ न कहकर काम पूरा करके ही उत्तर दे डालते हैं।

तो सत्यवादिता के लिये राजा हरिश्चन्द्र, वचन-पालन के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम राम और दान देने के लिए जिस प्रकार कर्ण को ससार स्मरण करता है, उसी प्रकार शील का अखड पालन करने वाले सेठ सुदर्शन का भी ज्वलत उदाहरण सदा जगत के सामने रहेगा। अपने शीलव्रत का पालन करने के लिए उन्होने सूली पर चढ जाना कबूल कर लिया तथा मरणातक कष्ट को भी गले लगाने के लिये तैयार हो गए पर अपने विचारो से नही डिगे। परिणामस्वरूप सूली भी उनके लिए सिंहासन बन गई ।

वास्तव मे ही शीलवान पुरुष इस बात को भली भाति समझ लेते हैं कि—

शीलप्रधान पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बधुभि' ॥

महाभारत

शील जीवन का अनमोल रत्न है। उसे जिस मनुष्य ने खो दिया उसका जीवन ही व्यर्थ है। ऐसा व्यक्ति चाहे जितना धनी अथवा भरे-पूरे घर का हो, उसका कोई मूल्य नही रहता।

तो आत्म बधुओ ! महापुरुषो के ये कुछ उदाहरण मैंने इसलिये दिये हैं कि अगर व्यक्ति श्रुति, स्मृति अथवा अन्य शास्त्रो के गूढ अर्थों की तह तक न पहुच पाये और ऊपरी बातो की भिन्नता के कारण वह उलझन मे पड जाए कि किस शास्त्र की बात मानें और किस की नही, तो जैसा कि प्रारम्भ के श्लोक मे कहा गया है—

"महाजनो येन गत स पन्था ।"

व्यक्ति को उस मार्ग पर चलना चाहिये जिस पर महापुरुष चले हैं। अर्थात् महापुरुषो ने जिन गुणो को अपनाकर जगत मे तो अमर ख्याति प्राप्त की ही है, अपनी आत्मा का भी कल्याण कर लिया, उन गुणो को अपनाना चाहिये। उसे समझना चाहिये कि धर्म सदगुणो से भिन्न नही है। जैसा कि अभी बताया गया है—सत्य, वचन-पालन, दान तथा शीलादि गुण धर्म के ही विविध अग हैं और जो व्यक्ति इन्हे अपना लेता है, उसने धर्म को अपनाया है इसमे रच-मात्र भी सन्देह नही है।

आवश्यकता है मन को दृढ रखने की। मन अगर डाँवाडोल रहा और तनिक से सकट या भय से घबरा गया तो व्यक्ति कभी भी अपने किसी नियम या व्रत की रक्षा नही कर सकता।

सत तुकारामजी मन को दृढ़ एव स्थिर रखने के लिये भगवान से क्या प्रार्थना करते हैं ?—

आता देवा ऐसा करी उपकार—
देहा चा विसर पडो माझा ।
आशा, भय, लाज, चिंता, काम, क्रोध
तोडावा सवध याचा माझा ।
तुका म्हणे न को वर वधू देवा—
घेई माझी सेवा, भाव शुद्ध ॥

कहते हैं—"हे भगवन ! मुझ पर ऐसा उपकार करो कि मैं इस शरीर के सुख-दु ख से सर्वथा उदासीन हो जाऊँ । मेरी इस देह को कैसा भी कष्ट क्यों न उठाना पडे कभी भी मैं विचलित न होऊँ ।

बालमुनि गजसुकुमाल के मस्तक पर धधकते हुए अगारे रखे गये, मेतार्य मुनि और खदक मुनि को भी मरणांतक कष्ट भोगने का अवसर आया । किन्तु उन्हें रच-मात्र भी शरीर के प्रति ममत्व नहीं रहा था अत वह कष्ट, कष्ट नही महसूस हुआ । ऐसा कैसे हो सका ? इसलिए कि उनका मन मजबूत था । मन की ऐसी ही मजबूती के लिये तुकाराम जी ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं । वे आगे कहते हैं—

"आपल्या आत्म्या बरोबर ह्या ज्या वस्तु अनतकाला पासून लागल्या आहेत् आशा, भय, चागल्या कामात लाज वाटणें, शारीरिक चिंता करणें विषय वासना, क्रोध, जे लागल्या आहेत् । हे देवा, ही जी माझी प्रार्थना आहे, तिच्याकडे लक्षद्या वर पाहु नका । या कारणामुलेच मला अनत वेला जन्मावे लागले आणि मरावे लागले म्हणून याचा सवध माझ्याशी तोडून टाका । शुद्ध भावेनेने आहे अशी तुकारामाची मागणी आहे ।"

वडे मर्मस्पर्शी शब्दो मे तुकाराम जी ने प्रभु से याचना की है—'हे देव ! आशा, भय, लाज, चिंता, काम, क्रोध आदि ये समस्त दोष जो अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए हैं तथा आत्मा को मलिन बनाए हुए हैं, इनसे मेरा सम्बन्ध तोड दो ! अपनी आज्ञानुसार दान, शील, तप तथा ससार से विरक्ति रखना, आदि आदि सेवाएँ भले ही आप मुझसे ले लो पर शुभ भाव से मेरी जो प्रार्थना आपसे है, उसे सफल बनाओ । तुकाराम की यही माँग आप से है ।'

तो बधुओ, आज के कथन का साराश यही है कि मुक्ति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को अपने दुर्लभ जीवन का महत्व समझना चाहिये तथा अपने जीवन का कोई भी क्षण निरर्थक न जाए इसका ध्यान रखना चाहिये । उसे जहां से

'प्रत्युक्त हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थं किमैव ।'

सज्जनो की रीति ही यह है कि जब कोई उनसे कुछ मागता है तो वे मुँह से कुछ न कहकर काम पूरा करके ही उत्तर दे डालते हैं।

तो सत्यवादिता के लिये राजा हरिश्चन्द्र, वचन-पालन के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम राम और दान देने के लिए जिस प्रकार कर्ण को ससार स्मरण करता है, उसी प्रकार शील का अखड पालन करने वाले सेठ सुदर्शन का भी ज्वलत उदाहरण सदा जगत के सामने रहेगा। अपने शीलव्रत का पालन करने के लिए उन्होने सूली पर चढ जाना कबूल कर लिया तथा मरणातक कष्ट को भी गले लगाने के लिये तैयार हो गए पर अपने विचारो से नही डिगे। परिणामस्वरूप सूली भी उनके लिए सिंहासन बन गई।

वास्तव मे ही शीलवान पुरुष इस बात को भली भाति समझ लेते हैं कि—

शीलप्रधान पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बधुभि' ॥

- महाभारत

शील जीवन का अनमोल रत्न है। उसे जिस मनुष्य ने खो दिया उसका जीवन ही व्यर्थ है। ऐसा व्यक्ति चाहे जितना धनी अथवा भरे-पूरे घर का हो, उसका कोई मूल्य नही रहता।

तो आत्म बधुओ! महापुरुषो के ये कुछ उदाहरण मैंने इसलिये दिये हैं कि अगर व्यक्ति श्रुति, स्मृति अथवा अन्य शास्त्रो के गूढ अर्थों की तह तक न पहुच पाये और ऊपरी बातो की भिन्नता के कारण वह उलझन मे पड जाए कि किस शास्त्र की बात मानें और किस की नही, तो जैसा कि प्रारम्भ के श्लोक मे कहा गया है—

"महाजनो येन गत स पन्था ।"

व्यक्ति को उस मार्ग पर चलना चाहिये जिस पर महापुरुष चले हैं। अर्थात् महापुरुषो ने जिन गुणो को अपनाकर जगत मे तो अमर ख्याति प्राप्त की ही है, अपनी आत्मा का भी कल्याण कर लिया, उन गुणो को अपनाना चाहिये। उसे समझना चाहिये कि धर्म सदगुणो से भिन्न नहीं है। जैसा कि अभी बताया गया है—सत्य, वचन-पालन, दान तथा शीलादि गुण धर्म के ही विविध अग हैं और जो व्यक्ति इन्हे अपना लेता है, उसने धर्म को अपनाया है इसमे रच-मात्र भी सन्देह नही है।

आवश्यकता है मन को दृढ रखने की। मन अगर डांवाडोल रहा और तनिक से सकट या भय से घबरा गया तो व्यक्ति कभी भी अपने किसी नियम या व्रत की रक्षा नही कर सकता।

सत तुकारामजी मन को दृढ एव स्थिर रखने के लिये भगवान से क्या प्रार्थना करते हैं ?—

आता देवा ऐसा करी उपकार—
देहा चा विसर पडो माझा।
आशा, भय, लाज, चिंता, काम, क्रोध
तोडावा सबध याचा माझा।
तुका म्हणे न को वर वधू देवा—
घेई माझी सेवा, भाव शुद्ध ॥

कहते हैं—"हे भगवन ! मुझ पर ऐसा उपकार करो कि मैं इस शरीर के सुख-दु ख से सर्वथा उदासीन हो जाऊँ। मेरी इस देह को कैसा भी कष्ट क्यों न उठाना पडे कभी भी मैं विचलित न होऊँ।

बालमुनि गजसुकुमाल के मस्तक पर धधकते हुए अगारे रखे गये, मेतार्य मुनि और खदक मुनि को भी मरणांतक कष्ट भोगने का अवसर आया। किन्तु उन्हें रच-मात्र भी शरीर के प्रति ममत्व नही रहा था अत वह कष्ट, कष्ट नहीं महसूस हुआ। ऐसा कैसे हो सका ? इसलिए कि उनका मन मजबूत था। मन की ऐसी ही मजबूती के लिये तुकाराम जी ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं। वे आगे कहते हैं—

"आपल्या आत्म्या बरोबर ह्या ज्या वस्तु अनतकाला पासून लागल्या आहेत् आशा, भय, चागल्या कामात लाज वाटणें, शारीरिक चिंता करणें विषय वासना, क्रोध, जे लागल्या आहेत्। हे देवा, ही जी माझी प्रार्थना आहे, तिच्याकडे लक्षद्या वर पाहु नका। या कारणामुलेच मला अनत वेला जन्मावे लागले आणि मरावे लागले म्हणून याचा सबध माझ्याशी तोडून टाका। शुद्ध भावेनेने आहे अशी तुकारामाची मागणी आहे।"

बडे मर्मस्पर्शी शब्दो मे तुकाराम जी ने प्रभु से याचना की है—'हे देव ! आशा, भय, लाज, चिंता, काम, क्रोध आदि ये समस्त दोष जो अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए हैं तथा आत्मा को मलिन बनाए हुए हैं, इनसे मेरा सम्बन्ध तोड दो ! अपनी आज्ञानुसार दान, शील, तप तथा ससार से विरक्ति रखना, आदि आदि सेवाएँ भले ही आप मुझसे ले लो पर शुभ भाव से मेरी जो प्रार्थना आपसे है, उसे सफल बनाओ। तुकाराम की यही माँग आप से है।'

तो बधुओ, आज के कथन का साराश यही है कि मुक्ति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को अपने दुर्लभ जीवन का महत्व समझना चाहिये तथा अपने जीवन का कोई भी क्षण निरर्थक न जाए इसका ध्यान रखना चाहिये। उसे जहाँ से

और जैसे भी मिले सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये, चाहे वह सतो के सदुपदेशो से मिले या धर्मशास्त्रो से। ध्यान मे रखने की बात यह है कि उसे अधिक तर्क-वितर्क और भिन्न-भिन्न मतामत मे उलझकर अपने मार्ग को त्यागना या गुमराह नही होना चाहिये। अगर विभिन्न ग्रन्थो मे विभिन्न-विभिन्न विचार उसे दिखाई देते हैं तो महापुरुषो के जीवनो को ही अपना मार्गदर्शक मानकर उन्ही के अनुसार चलने का प्रयत्न करना चाहिये। अर्थात् उनके गुणो को अपनाते हुए निष्ठापूर्वक उनका पालन करने का निश्चय करना चाहिये।

महापुरुषो की जीवनियाँ हमारे समक्ष दर्पण का काम करती हैं। आप दर्पण देखते हैं और उसमे देखकर अपने चेहरे पर लगे हुए किसी निशान को या धब्बे को अविलम्ब मिटा लेते हैं।

इसीप्रकार महाजनो की, यानी महान् पुरुषो की, जीवनी-रूपी दर्पण को सामने रखकर भी आप अपने जीवन मे रहे हुए दुर्गणो को हटा सकते है, अपने दोषो के धब्बो को मिटा सकते हैं। उनके चरित्र-रूपी आइने के द्वारा आप उनकी विशेषताओ की, उनके त्याग, तप और बलिदान की तथा वे जिस मार्ग पर चले थे, उसकी जानकारी कर सकते है तथा उनके चरण चिन्हो पर चलकर अपनी आत्मा का उद्धार कर सकते हैं। वे हमारे समक्ष जो-जो आदर्श उपस्थित कर गये हैं तथा जिस मार्ग पर चले हैं, वही मार्ग हमारे लिये मुक्ति का मार्ग साबित हो सकता है। अत· उनका अनुकरण करना ही भव्य प्राणियो के लिये उचित एव कल्याणकारी है।



२४ | पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषिजी

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

आज कविकुल-भूषण पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज साहब की पुण्य तिथि है। इस विशिष्ट प्रसग पर आज मैं उन्ही के विषय मे सक्षिप्त रूप से कुछ कहना चाहता हू।

उस महापुरुष ने अपनी दस वर्ष की अल्प-वय मे ही भागवती दीक्षा अगीकार कर ली थी। साथ ही आपकी जन्मदायिनी माता नानुदेवी, बहन हीराबाई एव ज्येष्ठ बन्धु श्री मोहमलजी ने भी दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार एक ही परिवार के चार सदस्यो ने एक साथ सयम-पथ पर अपने चरण रखे थे।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् आपके बडे भाई जो कुँवरऋषि जी के नाम से प्रसिद्ध हुए, वे एक दिन उपवास और एक दिन भोजन, इस प्रकार एकातर तप करने मे लग गए और त्रिलोकऋषि जी महाराज ज्ञान-ध्यान की प्राप्ति मे सलग्न हुए।

आप विचरण करते हुए जब भोपाल पधारे तो इतने कट्टर थे कि स्थानक मे बात करना भी निषिद्ध कर दिया। भोपाल क्षेत्र मे मोड समाज जो कि सम्प्रदाय की दृष्टि से विशेष सम्प्रदाय माना जाता था उसे स्थानकवासी धर्म मे प्रविष्ट करने के लिये पहले भी अनेक सतो ने जाकर प्रयत्न किया था, किन्तु आपके त्याग व तपस्या का ही उन पर जबर्दस्त प्रभाव पडा था। अब तो मोड समाज मे यद्यपि बहुत लोग अच्छी दशा मे हैं और मोडो का स्थानक ही कहलाता है।

काव्य साधना

श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज ने सत्रह शास्त्र कठस्थ किये थे। शास्त्र-स्वाध्याय मे उन्हे अपूर्व रुचि थी और वे प्रतिदिन करीब तीन घटे तक स्वाध्याय-रत रहा करते थे। स्वाध्याय के बिना ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय नही होता जैसा कि 'उत्तराध्ययन सूत्र' मे कहा है—

'सज्झाएण णाणावरणिज्ज कम्म खवेई।'

स्वाध्याय से ज्ञान को आच्छादन करने वाले कर्मों का क्षय होता है।

तो स्वाध्याय मे प्रवल रुचि होने के कारण ही उनकी ज्ञानवृत्ति तीव्रता से वढी और उनके हृदय मे कवित्वशक्ति का भी आविर्भाव हुआ। परन्तु जब उन्होने कविताएँ लिखनी चाही तो बुजुर्गों ने कहा—"अपने सम्प्रदाय में कविताएँ लिखना ठीक नही माना जाता। क्योकि कविताओ मे अतिशयोक्ति बहुत होती है, जिससे झूठ का दोष लगता है।"

किन्तु त्रिलोकऋषि जी म० ने इस निषेध से हिम्मत नही हारी और विनयपूर्वक उत्तर दिया—"मुझे पखुडी का फूल बनाकर अतिशयोक्ति नही करनी है तथा शास्त्रविरोधी कविताएँ भी नही लिखनी हैं। पर जो वास्तविक स्थिति है, उसे कहने मे जिस प्रकार हर्ज नही होता उसीप्रकार कविताओ मे लिखने से क्या हर्ज है ?"

इसप्रकार बुजुर्ग सतो की अनिच्छा के बावजूद भी उन्होने चाहा कि कविता कला के द्वारा जैनधर्म का प्रसार किया जाय। वह इसलिए गभीर और गूढभावो को भी कविताओं मे गूँथ देने से उनमे मनोरजकता आ जाती है और काव्य रुचिकर हो जाता है।

तो अपनी तीव्र भावना के कारण आपने कवित्व-कला का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। चौपाई, दोहरे, आनद श्रावक का तोडा, मेतारज मुनि, अगद मुनि एव भृगद्रोही का चौढाला बनाया। एक वीररस प्रधान भगवान महावीर का चौरा लिखा। नवरसो से वीररस भी एक है। इसके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओ को अपनी वीरता से परास्त करना, यह भाव प्रदर्शित किया गया है।

अद्भुत कला-कृतियाँ

महाराज श्री का लिखना भी वडा आश्चर्यजनक था। वे इतने सूक्ष्म अक्षर लिख सकते थे कि एक ही पन्ने मे आपने सम्पूर्ण दशवैकालिक सूत्र, भगवान महावीर की स्तुतिका एव दो सौ छप्पन श्लोक लिखे हैं। एक पन्ने मे करीव सात सौ पचास गाथाएँ लिखी हैं। अक्षर विलकुल साफ-सुथरे और शुद्ध हैं। जिनकी आखो की रोशनी ठीक है वे आज भी उन्हें भली-भाति पढ़ सकते है।

आपने ज्ञान कुजर के नाम से एक अत्यन्त सुन्दर कलाकृति का निर्माण किया है। ज्ञान कुजर यानी ज्ञान रूपी हाथी। आप सोचेंगे, कैसा है वह हाथी ? चित्र के रूप मे नही वरन अक्षरो से बनाया गया है। अगर आप देखना चाहे तो "ज्ञान कुजर दीपिका" मे उसे देख और पढ भी सकते है।

ज्ञान-कुजर मे पाँच महाव्रतो की सीढियाँ बनाई गई हैं। सूढ हाथी का सबसे महत्वपूर्ण अग है और सबसे आगे है अत उसमे ज्ञान और धर्म को चलाने वाले चौबीसो तीर्थंकरो के नाम हैं। सबसे अत मे भगवान महावीर हैं।

सूड के बाद कान है। कान मे ग्यारह गणधर हैं—इन्द्र, अग्नि, वायुभूति आदि। भगवान महावीर के मुखारविंद से निकली हुई वाणी सुनने वाले सबसे पहले श्रोता गणधर थे अत उन्हे कानो मे रखा गया है।

ज्ञानरूपी हाथी के चार पैर हैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपश्चर्या। इस की आँख है—केवल ज्ञान। हाथी के दो दाँत हैं—धीरज और धर्म। जरा विचार कीजिये कि उनकी कल्पनाशक्ति कितनी जबर्दस्त और सही थी ? ठीक तरह से समझाने के लिए उन्होंने रग-परिवर्तन भी किया है। ज्ञान-रूप हाथी का खाद्य क्षमा आदि को बताया है तीर्थंकर एव गणधर मोक्ष मे गए तो उसका आधार भी कुछ होना चाहिए। अत आधार आचाराग, सूयगडाग आदि शास्त्रो को बताया गया है। मिथ्यात्वरूपी मक्षिका को उडाने के लिये पूँछ है। महावत का आकार बताया है, जिसके हृदय मे दया, दान और सत्य हो वही ज्ञान-कुजर को चला सकता है। महावत के पास अकुश भी होना चाहिए अत उपदेश-रूपी अकुश दिया गया है। अम्बारी के चार खबे, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप हैं। महावत की छत्री मे लिखा है –'देव अगोपी ।' देव मे गुरु और दया से धर्माचरण करना। अबारी की ध्वजा मे लिखा गया है—

'जिन्होने क्रूर कर्म हटा दिया है, उनकी मैं वदना करता हू।'

इन सबके अलावा चित्र में दो तोते हैं, जिनका मुँह एक है और तीन मछलियो की आकृतियाँ हैं, जिनका मुँह भी एक है। इनके द्वारा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का भाव बताया गया है। उसी चित्र मे एक चवन्नी के जितनी जगह मे पैसठ हाथी भी बनाए हैं, जिनके चारो पैर, सूढ, पीठ, पूँछ आदि सभी अग हैं। चित्र के नीचे उन्होंने एक दोहा लिखा है—

ज्ञानी समझे ज्ञान में, अनसमझा चित्राम् ।

यानी ज्ञानी पुरुष तो ज्ञान मे इस चित्र के रहस्य को समझ लेगा किन्तु अज्ञानी इसे केवल सुन्दर चित्र मानेगा। 'ज्ञान कुजर दीपिका' मे चित्र के विषय मे विस्तृत विवेचन दिया गया है।

श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज की दूसरी कृति हैं 'शीलरथ।' शीलरूपी रथ मे उन्होने लिखा है—प्रतिक्रमण मे ब्रह्मचर्य का पालन करना है। जो १८००० गाथा हैं, उनकी पूरी विभागणी करके उन्होने बताया है। इसमे एक ही गाथा से १८००० गाथाएँ निकलती हैं और वह गाथा यहाँ दी हुई है।

आज के समय मे तो बहुत से उपयुक्त साधन होते हैं लेकिन यह लिखा गया है स० १९३८ मे। अर्थात् नव्वे साल पुराना है। आज जो सामग्री मिलती है वह नव्वे साल पहले उपलब्ध नही थी। फिर भी ऐसा चित्र बनाना साधारण बात नही है।

महाराज श्री की तीसरी कृति है—'चित्रालकार काव्य।' इसे देखकर तो हमारी बहनें कहेगी—'कितना सुन्दर कसीदा निकाला गया है। इसे सीधी रीति से पढा जाय तो कुल छत्तीस दोहे हैं। प्रथम दोहा मगलकारक है। उसके पश्चात् चौवीसो तीर्थंकरो की स्तुति मे चौवीस दोहे हैं। तत्पश्चात् आचार्य, साधु आदि पाँच पदो के पाच दोहे, फिर ज्ञान, दर्शन, चारित्र इस रत्नत्रय पर तीन दोहे और सबसे अन्त मे तीन दोहे हैं—देव, ऋषि और धन पर। इस प्रकार छत्तीस दोहे सीधे पढने पर हैं।

चित्र मे अगर गोमूत्रिका बध से पढना प्रारम्भ करें तो नीले मे नमोहिरिकारय और लाल अक्षरो मे मगलाचरण दिया है। चित्रालकार बनाते समय उन्होने उसके साथ ही मगलाचरण बनने के शब्दो की रचना दोहे मे उस विशेष स्थान पर की है। अन्त मे उन्होने दोहे मे चालूष्ण नमोकार मत्र दिया है। बची हुई जगह पर पीले रग मे उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन की पहली गाथा सिद्ध और साधु के बारे मे लिखी गई है। सिद्ध अरिहत हैं और आचार्य साधु हैं। बीच मे जो चोकडी है उसमे लाल रग की जो जगह है वहाँ 'तुभ्य-नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ' यह श्लोक जो हम प्रतिदिन बोला करते हैं, बताया गया है। जो सीधे दोहे मे अक्षर गाथा है। बीच मे जो छोटी सी जगह है वहाँ 'ओम नमो सिद्धम्' यह लिखकर काव्य समाप्त कर दिया गया है। चित्र मे छतरी के आकार का छत्रबध भी बना हुआ है।

सौ वर्ष से ऊपर हो गए हैं इसे बनाए हुए। महाराज श्री ने कहा है—केवली भगवान की वाणी निश्चित रूप से प्रमाणस्वरूप है और यह काव्य ऋषिपचमी-सवत्सरी को बनाया है अन्त मे त्रिलोक ऋषि जी महाराज कहते हैं—जो चित्रालकार काव्य मैंने बनाया है, अपनी शक्ति से नही। अपितु गुरु म० की कृपा से बना है। छद भी बनाया, परिस्थिति भी बताई और गुरु महाराज का स्मरण भी किया है।

एक अद्भुत काव्य उन्होने और भी लिखा है जिसे पढने का तरीका वडा मनोरजक है। यह इस प्रकार है—पहले 'डब्ल्यू' वाद मे 'एम' फिर 'डब्ल्यू' और फिर 'एम' इसी प्रकार पढने पर कविता पढी जा सकती है। यह उनके चातुर्य का प्रमाण है।

कवित्व और प्रेरणा

पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषि जी म० ने प्रवचनों के द्वारा तो धर्म-जागरण किया ही, साथ ही अपनी कवित्व-शक्ति से भी लोगो को पुरुषार्थ करने की प्रवल प्रेरणा दी। उदाहरण स्वरूप उनका एक पद्य आपके सामने रखता हूँ—

उद्यम धर्म सदा सुखदायक,
उद्यमथी सब दुख मिटे है।
उद्यम ज्ञान ध्यान तप सयम,
उद्यम थी कर्म मैल छुटे है।
उद्यम थी ऋद्धि सिद्धि मिले सब,
उद्यम श्रेष्ठ दरिद्र घटे है।
'तिलोक' कहत हैं केवल दंसण,
उद्यम थी शिव मेल पटे है।

महाराज श्री ने मनुष्यो को प्रेरणा देते हुए कहा है—"भव्य पुरुषो ! सदा उद्यम करते रहो। उद्यम से ही तुम्हें इहलौकिक एव पारलौकिक समस्त सुखो की प्राप्ति होगी और उद्यम से ही सम्पूर्ण दुखो का नाश होगा।

क्योकि उद्यम करने से ही ज्ञान मे निरतर वृद्धि होती है, ध्यान एव चिंतन करने से आत्मिकशक्ति वढती है तथा तपस्या करने का अभ्यास होता है। तप करना सरल नही है। हमारे प्राचीन ऋषि मुनि महीनो का तप करते थे पर वह भी एकाएक ही नही किया जा सकता। उसके लिए वडे अभ्यास और पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। जो साधक सम्पूर्ण अन्त करण से इस ओर प्रवृत्त होता है तथा उद्यम करता है वही घोर तप का आराधन कर सकता है। इसीप्रकार अथक उद्यम करनेवाला व्यक्ति सयम का भी दृढता से पालन करने मे समर्थ वनता है।

सयम का पालन करना लोहे के चने चवाना है। साधारण और उद्यम रहित व्यक्ति कभी भी सयम-मार्ग पर दृढ कदमो से नही चल सकता। क्योकि सयम किसी एक इच्छा को वश मे कर लेने से ही नही हो जाता। अपितु इसके लिये 'स्थानाग सूत्र' मे वताया गया हैं—

चउव्विहे सजमे—मणसजमे, वइसजमे,
काय संजमे, उवगरण सजमे ।

अर्थात् सयम के चार रूप हैं—मन का सयम, वचन का सयम, शरीर का सयम और उपधि सामग्री का सयम । इन चारो प्रकारो का सयम ही पूर्ण सयम कहलाता है ।

तो उद्यम के अभाव मे इन चारो प्रकार के जबर्दस्त सयमो का पालन व्यक्ति कर भी कैसे सकता है ? इसीलिये कविश्री ने उद्यम पर अत्यधिक बल दिया है ।

आपने आगे कहा है- केवल उद्यम ही एक ऐसा साधन है, जिसकी सहायता से इस लोक मे दरिद्रता मिटाकर अपार ऋद्धि को प्राप्त किया जा सकता है तथा अनेक प्रकार की सिद्धियाँ और लब्धियाँ हासिल की जा सकती हैं । इतना ही नही, प्रबल उद्यम या पुरुषार्थ से ही जीव केवल दर्शन की प्राप्ति करके शिवगति यानी मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है ।

इसप्रकार अपने एक पद्य मे ही महाराजश्री ने पुरुपार्थ के असीम महत्व को बताकर 'गागर मे सागर' भर देने वाली कहावत चरितार्थ की है । आपकी सबसे बडी विशेपता यह है कि किसी एक विपय को ही आपने अपने कवित्व मे नही लिया वरन धर्म की वृद्धि करने वाले सभी भावो को आपने अपनी कविताओ मे गूँथ दिया है ।

ससार को असार एव चचल मानकर आत्मा को सन्मार्ग पर ले जाना चाहिये इस भाव को भी आपने अपने एक पद्य मे बडी कुशलता से दर्शाया है—

इन्द्र धनुष्य ध्वजा सम चचल,
अबु की लहर प्रपोट विचारो ।
कहत 'तिलोक' यो रीति खलक की,
धार सुपथ के आतम तारो ॥

यानी यह ससार स्वप्न के समान क्षणिक है । जिस प्रकार इन्द्र धनुष अल्प-काल के लिये दिखाई देता है और लुप्त हो जाता है, जल मे उठने वाली लहर किनारे तक पहुचते ही मिट जाती है, उसी प्रकार ससार की वस्तुएँ भी थोडे समय मे नष्ट हो जाती हैं अत भवि जीवो ! सन्मार्ग को ग्रहण करके अपनी आत्मा का कल्याण करो । आशा यही है कि इस ससार के पदार्थों मे आसक्ति रखना और सासारिक सबधियो मे मोह रखना वृथा है, लाभ इस जीवन का तभी हासिल हो सकता है जबकि इनसे उदासीन रहकर

व्यक्ति सयममार्ग को अपनाते हुए अपनी आत्मा को शुद्ध बनाए तथा निज-स्वरूप मे ले आए। वह स्थिति आने पर ही आत्मा-परमात्मा कहलाने लगती है।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि श्री त्रिलोकऋषि जी म० ने अनवरत साहित्य साधना की तथा अपनी वक्तृत्व-शक्ति से, लेखन-शक्ति से और कवित्व शक्ति से, इस प्रकार सभी सभव तरीको से अज्ञानी प्राणियो को बोध देने का प्रयत्न किया था। विरले व्यक्तियो में ही इसप्रकार की विभिन्न शक्तियाँ पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होती हैं जो कि अपने-अपने तरीके से जनता पर समान प्रभाव डालती हैं। आपके रचित सवैयो की तो मालवा, मेवाड, मारवाड, पजाब, काठियावाड आदि अनेक प्रातो मे अभूतपूर्व प्रसिद्धि हुई और जन-जन के मुँह पर वे रहे और आज भी रह रहे हैं। साराश यही है कि आपका जीवन धर्मोपदेश, लेखन कार्य, कवित्व रचना एव स्वाध्याय मे ही व्यतीत हुआ।

धर्मप्रसार

आपने निरतर भ्रमण करते हुए धर्म का प्रचार व प्रसार किया। वह समय सम्प्रदायो की कट्टरता के लिये बडा प्रसिद्ध था। किन्तु आप मालवा, मेवाड, मारवाड जहाँ भी गए, सभी सम्प्रदाय के सतो से अभिन्नतापूर्वक मिले और उसी के अनुरूप व्यवहार करते रहे। परिणामस्वरूप जब आपका स्वर्गवास हुआ, सभी सप्रदाय के सतो ने एक स्वर से कहा—"आज हमारे धर्म का एक सूर्य अस्त हो गया।"

अपने अतिम चार वर्ष आपने दक्षिण मे धर्म-प्रचार करने मे बिताए थे। वहाँ भी आपके पधारने से पूर्व दो सम्प्रदायो का बडा जोर और मतभेद था, किन्तु आपकी कृपा से वहाँ जैनधर्म की जागृति हुई। तथा आपके स्मरणार्थ त्रिलोकऋषि छात्रावास तथा ज्ञानालय आदि का निर्माण हुआ।

आपके पट्टधर शिष्य गुरुदेव श्री रत्नऋषि जी म० थे। उन्होंने भी जैनधर्म के प्रसार का बीडा उठाया था तथा अपना जीवन इसी सत्कार्य मे लगा दिया था।

इस प्रकार बहुत सक्षेप मे मैं आपको पूज्यश्री त्रिलोकऋषि जी म० के विषय मे बता सका हू क्योकि उनकी सम्पूर्ण विशेषताएँ जबान से कहना सभव ही नही है। वे एक महापुरुष थे और जो महापुरुष होते हैं वे ज्ञान को अपने माहात्म्य से ग्रहण करके उसे जीवन मे उतारते है तथा उसके प्रकाश

चउव्विहे संजमे—मणसजमे, वइसजमे,
काय सजमे, उवगरण सजमे ।

अर्थात् सयम के चार रूप हैं—मन का सयम, वचन का सयम, शरीर का सयम और उपधि सामग्री का सयम । इन चारो प्रकारो का सयम ही पूर्ण सयम कहलाता है ।

तो उद्यम के अभाव मे इन चारो प्रकार के जबर्दस्त सयमो का पालन व्यक्ति कर भी कैसे सकता है ? इसीलिये कविश्री ने उद्यम पर अत्यधिक बल दिया है ।

आपने आगे कहा है - केवल उद्यम ही एक ऐसा साधन है, जिसकी सहायता से इस लोक मे दरिद्रता मिटाकर अपार ऋद्धि को प्राप्त किया जा सकता है तथा अनेक प्रकार की सिद्धियाँ और लब्धियाँ हासिल की जा सकती हैं । इतना ही नही, प्रबल उद्यम या पुरुषार्थ से ही जीव केवल दर्शन की प्राप्ति करके शिवगति यानी मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है ।

इसप्रकार अपने एक पद्य मे ही महाराजश्री ने पुरुषार्थ के असीम महत्व को बताकर 'गागर मे सागर' भर देने वाली कहावत चरितार्थ की है । आपकी सबसे बडी विशेषता यह है कि किसी एक विषय को ही आपने अपने कवित्व मे नही लिया वरन धर्म की वृद्धि करने वाले सभी भावो को आपने अपनी कविताओ मे गूँथ दिया है ।

ससार को असार एव चचल मानकर आत्मा को सन्मार्ग पर ले जाना चाहिये इस भाव को भी आपने अपने एक पद्य में बडी कुशलता से दर्शाया है—

इन्द्र धनुष्य ध्वजा सम चचल,
अबु की लहर प्रपोट विचारो ।
कहत 'तिलोक' वो रीति खलक की,
धार सुपथ के आतम तारो ॥

यानी यह ससार स्वप्न के समान क्षणिक है । जिस प्रकार इन्द्र धनुष अल्प-काल के लिये दिखाई देता है और लुप्त हो जाता है, जल मे उठने वाली लहर किनारे तक पहुचते ही मिट जाती है, उसी प्रकार ससार की वस्तुएँ भी थोडे समय मे नष्ट हो जाती हैं अत भवि जीवो ! सन्मार्ग को ग्रहण करके अपनी आत्मा का कल्याण करो । आशा यही है कि इस ससार के पदार्थों मे आसक्ति रखना और सासारिक सबधियो मे मोह रखना वृथा है, लाभ इस जीवन का तभी हासिल हो सकता है जबकि इनसे उदासीन रहकर

व्यक्ति सयममार्ग को अपनाते हुए अपनी आत्मा को शुद्ध बनाए तथा निज-स्वरूप मे ले आए। वह स्थिति आने पर ही आत्मा-परमात्मा कहलाने लगती है।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि श्री त्रिलोकऋषि जी म० ने अनवरत साहित्य साधना की तथा अपनी वक्तृत्व-शक्ति से, लेखन-शक्ति से और कवित्व शक्ति से, इस प्रकार सभी सभव तरीको से अज्ञानी प्राणियो को बोध देने का प्रयत्न किया था। विरले व्यक्तियो मे ही इसप्रकार की विभिन्न शक्तियाँ पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होती हैं जो कि अपने-अपने तरीके से जनता पर समान प्रभाव डालती हैं। आपके रचित सवैयो की तो मालवा, मेवाड, मारवाड, पजाव, काठियावाड आदि अनेक प्रातो मे अभूतपूर्व प्रसिद्धि हुई और जन-जन के मुँह पर वे रहे और आज भी रह रहे हैं। साराश यही है कि आपका जीवन धर्मोपदेश, लेखन कार्य, कवित्व रचना एव स्वाध्याय मे ही व्यतीत हुआ।

धर्मप्रसार

आपने निरतर भ्रमण करते हुए धर्म का प्रचार व प्रसार किया। वह समय सम्प्रदायो की कट्टरता के लिये वडा प्रसिद्ध था। किन्तु आप मालवा, मेवाड, मारवाड जहाँ भी गए, सभी सम्प्रदाय के सतो से अभिन्नतापूर्वक मिले और उसी के अनुरूप व्यवहार करते रहे। परिणामस्वरूप जव आपका स्वर्गवास हुआ, सभी सप्रदाय के सतो ने एक स्वर से कहा—"आज हमारे धर्म का एक सूर्य अस्त हो गया।"

अपने अतिम चार वर्ष आपने दक्षिण मे धर्म-प्रचार करने मे विताए थे। वहाँ भी आपके पधारने से पूर्व दो सम्प्रदायो का वडा जोर और मतभेद था, किन्तु आपकी कृपा से वहाँ जैनधर्म की जागृति हुई। तथा आपके स्मरणार्थ त्रिलोकऋषि छात्रावास तथा ज्ञानालय आदि का निर्माण हुआ।

आपके पट्टधर शिष्य गुरुदेव श्री रत्नऋषि जी म० थे। उन्होने भी जैन-धर्म के प्रसार का बीडा उठाया था तथा अपना जीवन इसी सत्कार्य मे लगा दिया था।

इस प्रकार वहुत सक्षेप मे मैं आपको पूज्यश्री त्रिलोकऋषि जी म० के विषय में वता सका हू क्योकि उनकी सम्पूर्ण विशेषताएँ जवान से कहना सभव ही नही है। वे एक महापुरुष थे और जो महापुरुष होते हैं वे ज्ञान को अपने माहात्म्य से ग्रहण करके उसे जीवन मे उतारते है तथा उसके प्रकाश

मे औरो का मार्ग दर्शन करते हैं। परिणाम स्वरूप वे सदा के लिये अमर हो जाते हैं तथा अज्ञानी प्राणी युग-युग तक उनका स्मरण करते हुए उनके जीवन से शिक्षा लेने का प्रयत्न करते हैं।

आपको भी उनके जीवन से शिक्षा और प्रेरणा लेनी है तथा उनके चरण चिन्हो पर चलकर अपने जीवन को सार्थक बनाने का प्रयत्न करना है। तनिक खेद की बात है कि आप धन कमाने मे तो उत्तरोत्तर कुशल बनते जा रहे हैं किन्तु धर्म कमाने मे ढीले, पर मैं आशा करता हू कि उस ढिलाई को आप पुन दृढता मे बदलने का प्रयत्न करेंगे और ऐसा करने पर ही हमारे द्वारा पूज्य पाद श्री त्रिलोक ऋषि जी की पुण्यतिथि मनाना सार्थक हो सकेगा।

२५ | कर्म लुटेरे !

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

पूर्व प्रवचनो मे हमने सम्यक्ज्ञान और सम्यक्दर्शन के विषय मे विचार किया। आज चारित्र के विषय मे वर्णन करने की भावना है। जो व्यक्ति जिज्ञासु होते हैं वे प्रत्येक विषय पर चिंतन-मनन करते रहते हैं और चिंतन जितना गहरा होता जाता है उतना ही वह आध्यात्मिक विषयो को स्पष्ट करता है। धर्म ग्रन्थो और धर्म-शास्त्रो मे हमे धर्म के मूल सिद्धात और उनका सक्षिप्त विवेचन प्राप्त होता है किन्तु उन्हे भली-भांति समझाने के लिये हमारे आचार्यों ने प्रयत्न किया है और उनके पश्चात् कविजन विषयो को और भी स्पष्ट करते रहे हैं। ऐसे ही एक कवि की की कविता जो भजन के रूप मे लिखी गई है, आज आपके सामने रखूंगा। कवि हैं पूज्य श्री अनिलऋषि जी महाराज। आप शास्त्रविशारद कहलाते थे और बडे विद्वान थे। आपकी अनेक प्रासादिक कविताएँ है जिनमे आध्यात्मिक विषयो का बडे सुन्दर ढग से विवेचन किया गया है। आज उनकी जिस कविता को मैं आपके सामने रख रहा हूँ, इसमे जिज्ञासु व्यक्ति अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करता हू कि मैं किस प्रकार इस स्थिति से छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त कर सकता हूँ ? कविता इस प्रकार है—

प्रभु मोक्ष नगर कैसे जाना ? कर्मों से पडा है पाना।
नाना स्वरूप बनवाया, भव मडप मे नचवाया।
ऐसे दोस्त कर्मों से पडा है पाना—।

तो, जिज्ञासु भक्त भगवान से प्रश्न कर रहा है—हे प्रभो ! मैं इस ससार के बधनो से छुटकारा पाकर मोक्ष नगर मे जाना चाहता हूँ पर जाऊँ कैसे ? क्योकि

ये जवर्दस्त कर्म वुरी तरह से मेरे पीछे पडे हुए हैं और भिन्न भिन्न योनियो मे नाना-स्वरूप दिखाते हुए भव-भव रूपी मडपो मे नचा रहे हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्याय मे भी कर्मों के करिश्मे के विषय मे कहा गया है -

एगया खत्तिओ होइ, तओ चडाल वुक्कसो।
तओ कीड पयगो य, तओ कुथु पिवीलिया ॥

अर्थात्—अपने कर्मों के अनुसार जीव कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल, कभी वर्ण शकर और कभी कभी कीट, पतिगा कुथुआ और चीटी भी हो जाता है।

यही बात कवि कह रहे हैं कि इन कर्मो के चक्कर मे पडकर मैंने कभी तो क्षत्रिय वनकर उच्च जाति मे जन्म लिया और कभी चाण्डाल वनकर नीच जाति मे पैदा हुआ। पर इतने से भी कर्मों को सतोष नही हुआ तो उन्होने मुझे वर्णशकर की स्थिति मे पटक दिया और मेरी प्रतिष्ठा को धूल मे मिला दिया।

उसके पश्चात् भी कीडा, पतिगा, कुथुआ चीटी और उससे भी अधिक सूक्ष्म शरीरो वाला प्राणी वनाकर असह्य दुख सहने के लिये वाध्य किया। इस प्रकार नाना-स्वरूपो यानी नाना योनियो मे पैदा करके इन कर्मों ने मुझे नचाया है। अत प्रभो! आप ही वताएँ कि इनसे वचकर मैं किस प्रकार मोक्ष मे जाऊँ?

आगे कहा है—

मुझे पुद्गल ने ललचाया अपना स्वरूप विसराया।
अव आया वहुत पछताना, कर्मों से पड़ा है पाना ॥

कवि का कथन है कि—"अज्ञानावस्था के कारण मेरा मन पुद्गलो मे आसक्त वना रहा और मैं सासारिक भोगोपभोगो उलझकर आत्मा के मान को भूल गया। पुद्गलो को ललचाने वाले ये पदार्थ इतने मनमोहक हैं कि इनके आकर्षणो से मन वच नही सका।

राजा-महाराजा शेर का शिकार करने के लिये जाते हैं तो उसके लिये पूरा इन्तजाम करते हैं। एक वाडा वनाया जाता है और उसमे वकरी या भैंसा वाँध देते हैं। शेर वँधे हुए जानवर को खाने के लिये ज्योही वाडे के अन्दर जाता है, उसका दरवाजा वद हो जाता है और उसी समय वह शिकारियो के द्वारा गोली से छलनीकर दिया जाता है। इस प्रकार शेर जैसा शक्तिशाली, और खूखार प्राणी भी खाने के लोभ मे पडकर अपनी जान गँवा देता है।

ठीक यही दशा मेरी भी हुई है। इस ससार रूपी वाडे मे भोगोपभोगो के

पदार्थ मन को ललचाने के लिये चारो ओर बिखरे पडे हैं। जीवात्मा ज्योही इन्हें भोगने मे मशगूल होता है त्योही कर्म घेरा डालकर उसे कस लेते हैं तथा जन्मातर तक कष्ट पहुँचाते रहते हैं। मुझे भी झूठा सुख प्रदान करने वाले ससार के इन पदार्थों ने भ्रम मे डाल दिया और मैं पुदगलो के ललचाने से इन भोगों मे लिप्त होकर कर्म बन्धनो से जकड गया हूँ।

पर, हे प्रभो ! आज मुझे बडा पश्चाताप हो रहा है और मैं सोच रहा हूँ कि महापुरुष धन्य हैं जो सासारिक पदार्थों से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुखो के प्रलोभन मे नही फसे और अपनी आत्मा को इनसे बचाकर अपने कर्मों का नाश कर ससार मुक्त हो गए। आप भी ऐसे महा-मानव, सत-महात्मा हैं जो ससारी चीजों को आत्म-घातक मानकर उन्हें ठुकरा देते हैं। वे समझते हैं कि अगर हम पुद्गलो के चक्कर मे फँस गए तो अपने आत्म-स्वरूप से दूर हो जाएँगे। वे यह भी जानते है कि दो विरोधी कार्य कभी एक साथ नही हो सकते। एक व्यक्ति एक ही बार मे हँसना और मुँह चढाना, दोनो नही कर सकता, इसी प्रकार जो व्यक्ति पुद्गलो मे आसक्त हो, वह उनसे विरक्त नही हो सकता। निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग दोनो अलग-अलग और परस्पर विरोधी है। इसलिये इन दोनो पर एक साथ नही चला जा सकता। जिसके हृदय मे भोगोपभोगो के प्रति आसक्ति है वह वैराग्यावस्था को कैसे पा सकता है ? ग्रहण करना और छोडना दोनों साथ चल भी कैसे सकते हैं।

तो यह मैं आज समझ रहा हूँ, किन्तु अज्ञानावस्था मे रहकर जो पाप-कर्म मैंने उपार्जित कर लिये हैं और वे मुझे नाना-योनियो में भटकाकर नचा रहे है इन्हें मैं किस प्रकार नष्ट करूँ और किस मार्ग पर चलकर शिवपुर पहुँचू !"

सत तुकाराम जी ने भी कहा है—

"आमिषाच्या आशे, गल गिली मासा,
फाटोनिया घसा, मरण पाये।
मरणाच्या वेंली, करी तल मल,
आठवी कपाल, तये वेली ॥

मास का टुकडा या अनाज खाने के लोभ में मासा यानी मछली को अपने प्राणो से हाथ धोने पडते हैं। वह किस प्रकार मरती है यह आप मे से अधिकाश व्यक्ति जानते होगे। क्योकि प्राय नदी या तालाव के किनारो पर मच्छीमार मछली पकडते हुए दिखाई देते हैं। आप लोग कुए मे पडी हुई वस्तु को गल-आकडे मे फसाकर वाहर निकालते हैं। वैसा ही एक तीखा आकडा मछली पकडने वाला प्रत्येक व्यक्ति रखता है और उसमे आटा या मास का टुकडा फसा देता है। मछली उस वस्तु को खाने के लोभ मे पडकर निगल लेती है

और वह कांटा उसके गले मे फस जाता है। मछलीमार काटे से वधी हुई डोरी को ऊपर खीच लेता है और मुडे हुए काटे से मछली का गला फट जाता है और वह मर जाती है।

मछली के समान ही अज्ञानी व्यक्तियो की दशा होती है। वे इन्द्रिय-सुखो के लालच मे आकर उन्हें भोगते हैं किन्तु परिणाम यह होता है कि कर्म उन्हें पकड लेते हैं और अनतकाल तक सताते है।

हिन्दी भापा के एक कवि ने भी कहा है—

नित भटकता मैं फिरा, ससार मे सुख ना मिला।
वस, जिधर दौडा उधर से, सुख के वदले दुख मिला,
अव तो गोदी मे अपनी विठा लो मुझे,
स्वामी! चरणो का दास बना लो मुझे,
सच्चा मुक्ति का मार्ग दिखा दो मुझे॥

यहा भी एक जिज्ञासु कर्म-जनित दुखो से पीडित होकर भगवान से प्रार्थना कर रहा है कि मे सुख की खोज मे इस ससार मे सदा भटकता रहा। किन्तु कही भी सच्चा सुख हासिल नही हुआ। सुख के वदले उलटा दुख ही मुझे मिला है।

वधुओ, आप सोचेंगे कि देवगति तो वडी अच्छी है क्योकि स्वर्ग पाने के सभी इच्छुक होते हैं। वहाँ कष्ट है? पर आपको जानना चाहिए कि यद्यपि कुछ काल तक देवता सुखोपभोग करते हैं। पर साथ ही अन्य देवताओ के ऐश्वर्य से जलते हैं और आपस मे झगडते भी है।

इसके अलावा जव उनका मृत्युकाल समीप आता है तो उन्हे घोर दुख होता है और पश्चाताप भी। दुख इसलिये होता है कि अवधिज्ञान के कारण वे जानते हैं कि यहाँ से कहाँ जाएँगे। उन्हे माता के गर्भ मे रहना पडेगा, देवलोक मे दुर्गन्धि नही है किन्तु गर्भावस्था मे नौ महीने तक वहाँ की गन्दगी को सहन करना होगा तथा जन्म के समय अनन्त वेदना और उसीप्रकार फिर मरण के समय भी अनन्त दुख भोगना पडेगा। यद्यपि सम्यक्दृष्टि पुरुप दुख को दुख नही मानते, फिर भी कष्ट तो होता ही है। तीर्थंकर पद प्राप्त करने वाली आत्माओ को भी नर्क की अपार क्षेत्र वेदना भोगनी पडी थी। कहने का तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वी जहाँ रोते-झीकते दुखो को सहन करता है वहाँ सम्यक्त्वी कर्मों को कर्ज मानकर उन्हे शाति से चुकाता है किन्तु वेदना तो अवश्य होती है।

तो मैं देवताओ के विपय मे वता रहा था कि जव उनका मृत्युकाल समीप

आता है, तो वे भविष्य मे होने वाले दुख मे दुखी होते हैं। साथ ही पश्चाताप भी करते हैं कि हमने किन-किन जन्मो मे क्या-क्या पाप किये थे और अब उनका क्या-क्या फल भोगना पडेगा। ध्यान मे रखने की बात तो यह है कि वे पश्चाताप करते हुए भी वहाँ रहकर उत्तम करनी नही कर सकते, जो कि मानव-भव मे की जा सकती है।

तो कवि का कहना यही है कि मैं सुख की खोज मे अन्तकाल से भटक रहा हू पर वह मुझे नही मिला उलटा दुख ही प्राप्त होता रहा है। देवगति में भी जहाँ पचेन्द्रियो का ऐश-आराम है, सुख नही माना जा सकता। क्योकि अत मे जहा दुख है वहाँ सच्चा सुख नही होता। सच्चा सुख तो वही कहलाता है जो मिलने के पश्चात फिर कभी जाता नही। अत हे भगवन ! अब मुझे आप अपने मे मिलालो। इस ससार मे भटकते-भटकते मैं बहुत परेशान हो गया हू और अब आपके चरणो की शरण लेना चाहता हू। आप मुझे मुक्ति का सही मार्ग बताओ और इस ससार-चक्र मे छुडाओ।

हम इस ससार मे देखते हैं कि मछली आमिष की लालसा मे काटा निगल जाती है और फिर मरते समय तिलमिलाते हुए भगवान की याद करती है, उसी प्रकार सासारिक मानव इन्द्रियो को तृप्त करने के लिए नाना प्रकार के पाप करते हैं पर जब उन्हे भोगने का वक्त आता है तो रोते हैं, पश्चाताप करते हैं और राम-राम या अर्हत-अर्हत कहते हुए भगवान को याद करते हैं। पर उस समय फिर क्या हो सकता है ? जब तक युवावस्था रहती है और शरीर शक्ति-सम्पन्न होता है, तब तक तो वे त्याग-तपस्या, व्रत, नियम कुछ भी ग्रहण नही करते, अपना थोडा सा समय भी धर्माराधन मे व्यय नही करते। किन्तु जब वृद्धावस्था आ जाती है, शरीर मे रोग अपना अड्डा जमा लेते हैं और शक्ति काफूर हो जाती हैं तब भगवान को याद करते हैं तथा कृत-पापो के लिए पश्चाताप करते हैं। पर उससे फिर क्या बन सकता है ? केवल वही कहावत चरितार्थ होती है—"फिर पछताये होत क्या जब चिडिया चुग गइ खेत।"

अब मैं अपनी पूर्व कविता पर आता हू। जिसमें आगे कहा गया है—

मेरा, आतम धन सब लूटा, जब से शिव मारग छूटा।
मैं ऐसा जुलम नहीं जाना, कर्मों से पडा है पाना।

कवि का कहना है—इन कर्मों ने मेरा समस्त आत्म-धन लूट लिया है। बडी कठिनाई से थोडा सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्‌चारित्र रूपी धन आत्मा ने कमाया था किन्तु मेरी अज्ञानता के कारण कर्मों का दाव लग गया और उन्होंने डाका डालकर उसे लूट लिया।

अज्ञानदशा क्या है ? उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि यद्यपि ज्ञान प्राप्त किया, किन्तु उसके लिए गर्व का भाव आ गया तो प्राप्त ज्ञान भी अपना शुभ-फल प्रदान नही कर सकता। कोई ज्ञानी व्यक्ति स्वाध्याय करता है, भगवान की भक्ति और प्रार्थना करता है किन्तु घर मे अथवा समाज मे औरो के वह सब न करने पर अपनी प्रशसा तथा दूसरो की निन्दा करता है तो उसका अहम् उसके ज्ञान और भक्ति के फल को मिट्टी मे मिला देता है। और परिणाम यह होता है कि वह कितनी साधना तथा तपस्या क्यो न करे अपने अज्ञान के कारण कर्मों की निर्जरा नही कर पाता।

इसीलिए भगवान ने कहा है—

जं अन्नाणी कम्म खवेइ बहुयाइ वास कोडीहि।
तं नाणी तिहिगुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेण॥

जिन कर्मों को क्षय करने मे अज्ञानी करोडो वर्ष व्यतीत कर देता है, उन्ही कर्मों को ज्ञानी आत्मा क्षण मात्र मे नष्ट कर देती हैं।

वस्तुत गर्व, मिथ्यात्व, इर्ष्या, निन्दा आदि समस्त दोष अज्ञान के कारण ही जन्म लेते हैं। और इसीलिये अज्ञानी वर्षों तप करके भी अपने कर्मों को नही खपा पाता किन्तु ज्ञानी और विवेकी पुरुष जो दोषो से वचा रहता है अल्प-समय मे ही अपने अनेकानेक कर्मों का क्षय कर लेता है। कर्मों का क्षय कर लेता है। कर्मों का भुगतान कभी वाँटा भी नही जा सकता है। जो वाँधता है वही भोगता भी है। इसी दृष्टि से किसी कवि ने जीव को चेतावनी दी है—

पापों का फल एकसे, भोगा कितनी वार।
कौन सहायक था हुआ, करले जरा विचार ?

वस्तुत पापो का वधन तो अन्य अनेक प्राणियो की सहायता से किया भी जा सकता है, उसमे अनेक सहायक वन सकते हैं और वनते ही हैं। किन्तु उनके फल को जीव अकेला ही भोगता है, उसे वाँटने मे कोई सहायक नही वनता।

जिस प्रकार दस गायें और उनके दस वछडे एक स्थान पर खडे हैं। वछडे छोड देने पर अपनी-अपनी माता के पास दूध पीने के लिये जाते हैं। किन्तु गाय अपने वछडे के पास आने पर उसे ही दूध पिलाती है अन्य को नही। दूसरी गाय का वछडा अगर उसके पास आ जाय तो लात मार देती है। इसी प्रकार कर्म भी जिसने किये हैं, उसी को चिपटते है और उसे ही भुगतने पडते हैं।

तभी कवि ने कहा है कि लोभ, लालच वेईमानी एवं घमड आदि जो दोष मेरी अज्ञानावस्था के कारण पैदा हुए थे उनके कारण मेरा आत्म-धन जो कि दया,

कर्म लुटेरे।

करुणा, सतोष, शाति, धैर्य तथा क्षमा आदि के रूप मे था सब नष्ट हो गया है और मोक्ष के मार्ग से मैं बहुत दूर हो चुका हूँ। मैंने पाप करते समय नही जाना था कि ये कर्म मुझ पर इस प्रकार जुलम करेंगे। यह तो अव मालूम पड रहा है, जबकि इन्हे भोगने का समय आया है।

आगे कहा गया है—

अमृत कह जहर पिलाया, हिंसा मे धर्म वताया।
फिर क्रिया बहुत हैराना, कर्मों से पडा है पाना॥

अर्थात—"दुर्भाग्य से मुझे सद्गुरु की प्राप्ति नही हुई और मैं जिनके सपर्क मे आया, उन मिथ्याव्वी और पाखडियो ने मुझे गुमराह कर दिया। हिंसा पूर्ण कार्यों को धर्म क्रियाएँ वताकर अमृत के स्थान पर विष पान कराया और उसके घातक प्रभाव से मेरे सद्गुणो का नाश तो हुआ ही, कर्मों के चगुल मे मैं फस गया जिन्होने अव तक नाना-प्रकार से मुझे हैरान किया और करते जा रहे हैं।"

वस्तुत' मिथ्यात्व का रोग पीलिये रोग के समान होता है जिसमे प्रत्येक वस्तु पीली दिखाई देती है। मिथ्यात्व रोग से ग्रस्त व्यक्ति भी कभी शुभ-कर्मों मे रुचि नही लेता उसे वे क्रियाएँ दोप पूर्ण या व्यर्थ मालूम होती हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

तुलसी पूर्वला पाप से, प्रभु चर्चा न सुहाय।
जैसे ज्वर के जोर से, भोजन की रुचि जाय॥

कहा है कि जिस व्यक्ति के पूर्वकृत पापो का उदय होता है उसे भगवत् वाणी अथवा धर्मोपदेश सुनने की भी इच्छा नही होती। भगवान की भक्ति व साधना आदि उसे ढोग और व्यर्थ के काम मालूम देते हैं। उसकी दृष्टि भूत और भविष्य से हटकर केवल वर्तमान मे ही सीमित रहती है। वर्तमान के सुख-भोग ही उसे जीवन का लक्ष्य दिखाई देते हैं। साधना, प्रार्थना और भक्ति से प्राप्त होने वाले आनन्द की वह कल्पना ही नही कर सकता और इसलिये इन क्रियाओ को करता भी नही।

अमूल्य धन—

एकवार एक महात्मा किसी निर्जन वन मे एक शात स्थान पर वैठे हुए ध्यान कर रहे थे कि उधर से एक व्यक्ति घोडे पर से गुजरा। महात्मा जी को देख-कर उनका उपहास करने के लिए वह घोडे से उतर गया और उनके समीप आकर वोला—"साधुजी महाराज! क्यो अपना समय वर्वाद कर रहे हो? तुम बूढे तो नही दिखाई देते, शक्तिशाली हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति हो। क्यो नही इस ... से कुछ कमाई करते हो, दो पैसे मिलें और भिक्षा भी न मांगनी पडे।

आखिर आँख वद करके राम-राम करने से तुम्हे कौन-सा आनन्द प्राप्त होता है।

महात्मा जी ने उसी समय ध्यान समाप्त किया था अत उस व्यक्ति को देखकर मुस्कराये और बोले—"भाई, मैं कमाई ही कर रहा हूँ।"

"क्या खाक कमाई कर रहे हो ? आँखें मूँद कर बैठे रहने से क्या कोई तुम्हे यहाँ धन लाकर दे देगा ?"

"धन तुम किसे कहते हो ?" महात्मा जी ने उससे पूछ लिया।

व्यक्ति दभी था। अकड कर वोला—"यह भी कोई वताने की वात है ? पैसा, रुपया, सोना, चाँदी, हीरे और जवाहरात धन कहलाता है। देख लो इस समय भी मेरे गले मे कठा, हाथ मे सोने की चैनवाली घडी और अगुली मे हीरे की अगूठी है। यही तो धन है।"

"क्या कीमत है इनकी ?" सत ने सहजभाव से पूछ लिया।

"इनकी कीमत तो हजारो रुपये हैं।"

"अच्छा मैं तुम से यह पूछता हूँ कि मीलो तक फैले इस निर्जन वन मे अगर तुम भटक जाओ और इस भीषण गर्मी मे प्यास के मारे तुम्हारी जान निकलने लगे पर दूर-दूर तक कोई व्यक्ति तुम्हे दिखाई नही न दे, यहाँ तक कि मारे छटपटहट के और रास्ते के न होने पर एक कदम भी न वढ सको। पर उसी समय एकाएक कोई व्यक्ति आकर तुम्हे एक लोटा पानी दे किन्तु वदले मे तुम्हारी ये सव कीमती चीजे माँगे तो उसे लोटाभर पानी के वदले मे सव चीजें दे दोगे या नही ?"

व्यक्ति सत की वात सुनकर हँस पडा और वोला—"महात्मा जी ! कैसी वातें करते हो ? मैं मूर्ख हूँ क्या ? ये कीमती चीजें क्या प्राणो से वढकर हैं ? प्राण वचाने के लिये मैं दे दूँगा ही।"

"तो भाई ! इन हजारो रुपयो की कीमती चीजो को जव तुम एक लोटे पानी के वदले मे ही दे सकते हो तो इनका क्या मूल्य हुआ ? सिर्फ एक लोटा पानी के वरावर ही तो। न जाने कितनी मेहनत करके तुमने एक लोटे पानी के मूल्य जितना धन कमाया है और वह एक लोटा पानी भी कितनी देर तक के लिये तुम्हारी प्यास मिटायेगा ? घटे, दो घटे या चार घटे। फिर तुम्हे प्यास लग जाएगी। पर मैं तो ऐसा धन कमा रहा हूँ कि जिससे अनेक जन्मो की प्यास मिट जाय और फिर भविष्य मे कभी लगे ही नही। अव वताओ, मेरे धन मे और तुम्हारे धन मे अन्तर है या नही ? क्या मेरे धन के मुकावले मे तुम्हारा धन अभिमान करने योग्य है ?"

वह धनी व्यक्ति महात्मा जी की बात सुनकर बड़ा शर्मिन्दा हुआ और उनके चरणो पर गिर पडा । बोला—"गुरुदेव ! आपकी बात सत्य है । आपके धन की बराबरी मेरा यह सासारिक धन नहीं कर सकता कृपया मुझे अपना शिष्य बना लजिये और आपके धन जैसा धन कमाने का मार्ग बताइये ।"

तो बधुओ कवि ने इसलिए कहा है कि ज्वर का प्रकोप होने पर जिस प्रकार भोजन मे रुचि नही रहती इसीप्रकार मिथ्यात्व का रोग रहने पर भी प्राणी धर्माराधन मे रुचि नही लेता । वह भौतिक धन के पीछे दौडता है और आत्मिक धन को भूलकर मोक्ष-मार्ग से परे चला जाता है ।

मराठी भाषा मे एक कवि ने कहा है—

"हरि नामाची गोड शर्करा, घेऊन नि अनुभव,
सर्व जनाना मुठ-मुठ वाटवि ।"

अर्थात्—भगवान् की भक्ति और उनके नाम का स्मरण मीठी शक्कर के समान है । इसलिए उसका अनुभव स्वय पहले करो और मुट्ठी भर-भर-कर दूसरो को भी बाँटो । पर ऐसा कौन कर सकता है ? बताया है—

सत बडे परमार्थी, मोटो जिनको मन ।
भर-भर मूठी देत हैं, धर्म रूप यो धन ॥

स्पष्ट है कि सत जो, निस्वार्थी, निस्पृही, निरहकारी एव निर्लोभी होते हैं वे ही इस प्रकार परोपकार और पर-सेवा मे सलग्न रह सकते हैं । उन्हे न धन कमाने की चिन्ता रहती है, न परिवार के पालन-पोषण की फिक्र और न ही इन्द्रियो के सुखो को प्राप्त करने की लालसा होती है ।

सिख-धर्म-गुरु नानक ने भी सच्चे सतो के लक्षण बताए हैं—

सुख - दुख जिह परसे नही, लोभ मोह अभिमान ।
कहे नानक सुनरे मना ! सो मूरत भगवान् ॥
इस्तुत निंद्या नाहिं जिह, कचन लोह समान ।
कहे नानक सुन रे मना ! मुक्ति ताहि ते जान ॥
हरष शोक जाके नही, बैरी-मीत समान ।
कहे नानक सुनरे मना ! ज्ञानी ताहि बखान ॥
भय काहू को देत ना, ना भय मानत आन ।
कहे नानक सुन रे मना ! मुक्ति ताहिते मान ॥

सत की कितनी सुन्दर, सत्य और स्वाभाविक परिभाषा की है कि—जिन महापुरुषो के मन को सुख, दुख लोभ, मोह और अभिमान स्पर्श भी नही करता अर्थात् जिनके हृदय मे ऐसी भावनाओ का लेश भी नही होता

और जो न किसी स्वार्थ के कारण अन्य व्यक्तियो की प्रशसा करते हैं और न ही किसी प्रकार की दुर्भावना के परिणाम स्वरूप किसी की निन्दा करते हैं वे सत भगवान् के प्रतिरूप होते हैं तथा स्वयं ससार-मुक्त होते हुए औरो को भी उसी मार्ग पर लेजा सकते हैं।

आगे भी कहा है—जो महा-मानव सुखद सयोगो के उपस्थित होने पर हर्ष से फूल नही जाते और दुखो या सकटो की घटाएँ जीवन पर छा जाने से घवराते या शोक-ग्रस्त नही होते वे ही सत कहलाते हैं। ऐसे सत अपना घोर अहित करने वालो को भी अपना दुश्मन नही समझते और अपनी सेवा, प्रशसा अथवा स्तुति करनेवाले को मित्र नही मानते। उन्हे शत्रु और मित्र दोनो समान लगते हैं। न वे किसी को भयभीत करते हैं और न किसी से भी भयभीत होते हैं। ऐसे सत ही गुरु नानक की दृष्टि मे ज्ञानी हैं और अन्य जीवो को ज्ञान-दान करके मोक्ष-मार्ग पर लाने वाले होते हैं।

सत किस प्रकार गुमराह व्यक्तियो को मार्ग पर लाते हैं इसका एक छोटा-उदाहरण है—

मैं वादशाह हूँ—

एक वादशाह रात को अपनी राजधानी के किसी मार्ग पर अकेला आ रहा था। सामने से एक अत्यन्त वृद्ध सन्यासी जिसे वहुत कम दिखाई दे रहा था, धीरे-धीरे लाठी लिए आ रहा था। वादशाह ने अपने आपको सम्राट् मानते हुए रास्ते से हटने की आवश्यकता नही समझी और सन्यासी को अंधेरे के कारण वरावर दिखाई नही दिया अत वह वादशाह से टकरा गया।

वादशाह को वडा क्रोध आया और पूछ वैठा—"देखकर नही चलते? कौन हो तुम?

वादशाह के वोलने के ढग से और शरीर की आकृति वगैराह से सन्यासी की अनुभवी आँखो ने वादशाह को पहचान लिया और उन्हे कुछ सीख देने के उद्देश्य से शाति पूर्वक उत्तर दिया—"मैं वादशाह हूँ।"

वादशाह खिलखिलाकर हँस पडा और उसने व्यग तथा कौतूहलवश पूछा—"अच्छा आप वादशाह हैं? पर आपका राज्य इस ससार मे किस स्थान पर है?

सन्यासी ने शाति से कहा—"मेरे मन पर।'

वादशाह ने पुन प्रश्न किया—'अच्छा सम्राट्! जरा वताइये कि मैं कौन हूँ?

"तुम गुलाम हो।" साधु ने अविलम्व और स्पष्ट शव्दो मे कह दिया।

यह सुनते ही वादशाह क्रोध के मारे आग ववूला हो गया और गश्त लगाने वाले सिपाहियो से पकड़वाकर सन्यासी को कैद करवा दिया।

अगले दिन प्रात काल दरबार मे बादशाह ने सन्यासी को बुलवाया और पूछा—"रात को तुमने अपने-आपको बादशाह और मुझे गुलाम क्यो कहा था ?"

"इसलिए कि मैंने अपनी इच्छाओ पर, वासनाओ पर, लोभ, मोह और क्रोध सभी पर विजय प्राप्त कर करली है । उदाहरण के लिए देखो तुमने मुझे कैद करवा दिया तब भी मेरे मन मे तुम्हारे प्रति तनिक भी रोष का भाव नही आता । अत मैं अपने मन को जीत लेने वाला सम्राट् हूँ । किन्तु तुमने जरा-सा गुलाम कहते ही क्रोध से भडक कर मुझे कैद करवा दिया । फिर बताओ, क्या तुम वासनाओ के या कषायो के गुलाम नही हो ?"

बादशाह यह सुनकर अपनी भूल को समझ गया तथा अत्यन्त लज्जित हुआ । उसी क्षण उसने सन्यासी को मुक्त कर दिया तथा अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी ।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो समस्त सासारिक पदार्थों पर से अपनी आसक्ति हटा लेते हैं और अपने सगे-सबन्धियो पर अथवा दुश्मनो पर भी समभाव रखते हैं वे ही साधु-पुरुष कहलाते हैं और ऐसे महापुरुष ही निस्वार्थ भाव से जिन वचनो को जनता के समक्ष रख सकते हैं तथा अज्ञानी व्यक्तियो को प्रतिबोध देकर कल्याण के मार्ग पर लगा सकते हैं ।

अब हमारी कविता मे जो कि आपके सामने चल रही हैं, उसमे आगे कहा है—

मेरा अनन्त ज्ञान ठग लीन्हा, मुझे पुद्गल ने वश कीन्हा ।
कछु नहीं आपसे छाना, कर्मों से पड़ा है पाना ॥

जिज्ञासु भक्त कह रहा है—मुझे पुद्गलो ने ठगकर अनतज्ञान छीन लिया है । शास्त्र कहते हैं कि आत्मा के पास अनत ज्ञान है लेकिन अनतज्ञान की सत्ता की भी पुदगलो ने परवाह नही की तथा मेरे अनतज्ञान पर अज्ञान का आवरण डाल दिया । परिणाम स्वरूप मैं सम्यक् ज्ञान से वचित रहा और अज्ञान के कारण कर्म-बधन करता रहा ।

हे प्रभो ! आप तो सर्वज्ञ हैं अत जानते ही हैं कि मैं किस प्रकार इन भयानक कर्मों के वशीभूत होकर दु ख पा रहा हूँ । अपनी असावधानी और भयकर भूल पर मुझे अब बहुत ही पश्चाताप हो रहा है और इसीलिए मैंने—

लिया धर्म सुभट का शरणा, मिट जाए मेरा सब डरना ।
मुझे ऐसी राह बताना जी, कर्मों से पडा है पाना ॥

क्या कहा है कवि ने ? यही कि मैं अब तक असावधान रहा अत पुद्-गलो ने मुझे ठगकर मेरा अनतज्ञान लूट लिया । किन्तु अब मैंने धर्म-रूपी

सुभट यानी वीर योद्धा की शरण ले ली है ताकि अव पुन लूटा जाने का भय न रहे और धर्म-रूपी योद्धा मेरे साथ रहकर मेरी रक्षा करता है।

आप जानते ही है वधुओ कि अगर किसी निर्जन मार्ग से आप गुजर रहे हो, और साथ मे आपके पास धन हो तो चोर-डाकुओ का भय उस मार्ग पर आपको वना रहेगा। और ऐसे मार्ग पर राही चोरो के द्वारा लूटे भी जाते हैं, ऐसे उदाहरण आए दिन आपके सामने आते हैं। मुक्ति का मार्ग भी ऐसा ही विकट मार्ग है। जीवात्मा अनतज्ञान, अनतदर्शन अनतचारित्र की सम्पत्ति लेकर इस मार्ग पर वढता है किन्तु मार्ग मे क्रोध, मान, माया, लोभ एव मोह रूपी क्रूर लूटेरे ताक लगाए वैठे रहते हैं और मौका पाते ही उसे लूट लेते हैं। इसीलिए मुमुक्षु जीव अपनी पूर्व-कृत भूल से सीख लेकर पुन उस मार्ग पर अकेला नही चलता अपितु धर्म-रूपी सुभट को अपना पहरेदार और रक्षक वनाकर चलता है। उसकी प्रभु से प्रार्थना है—

पहुँचा दो मोक्ष ठिकाना, नहिं होय फिर यहाँ आना।
इतना सा हुकुम फरमाना, कर्मों से पड़ा है पाना॥

प्रार्थना है कि हे प्रभो! मुझे ऐसी शक्ति प्रदान करो ताकि मैं समस्त विपय-वासनाओं और विकारो को जीतकर कर्मों से मुकावला कर सकूँ। अर्थात् उन्हे अपनी आत्मा पर हावी न होने दूँ। धर्म-रूप सुभट की भी इसीलिए मैंने सहयता ली है कि वह ढाल वनकर मेरे सामने आ जाय और कर्म-वैरी का कोई भी आत्म-गुण-नाशक वार मेरी आत्मा तक न पहुँच सके। अगर मेरी यह मोर्चेवन्दी सफल हो गई तो फिर मैं अपने मोक्ष-रूपी गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाऊँगा और फिर मुझे कभी भी पुन यहाँ नही आना पडेगा। इसलिए भगवान्! मुझे ऐसा वरदान दो कि—

सव माल मेरा मिल जावे, प्रभु अनिलरिख यह ध्यावे।
तव होय काज मनमाना, कर्मों से पड़ा है पाना॥

श्री अनिलऋषि जी महाराज कह रहे हैं—हे प्रभो! आपकी कृपा दृष्टि हो जाए तो मैं धर्म-रूपी योद्धा की सहायता से अपना ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य रूप-धन पुनः प्राप्त करलूँ। मैं किसी अन्य की वस्तु लेना नही चाहता केवल अपनी गई हुई सम्पत्ति ही पुन प्राप्त करना चाहता हू। उस सम्पत्ति की अधिकारिणी मेरी आत्मा है। मेरी आत्मा ही असली साहूकार है जिसका धन सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन एव सम्यक्चारित्र है अत ये अमूल्य वस्तुएँ उनके असली मालिक या साहूकार को मिल जानी चाहिए।

जिस दिन ऐसा हो जाएगा, मैं समझूँगा कि मेरा मनचाहा सिद्ध हो गया

और मेरी मनोकामना पूरी हुई है। वही दिन धन्य होगा, जिस दिन इन क्रूर कर्मों से मेरा पिंड छूट जाएगा।

बन्धुओ ! आशा है आपने कविता के भाव समझ लिये होगे। कविता में जो कुछ कहा है वह केवल एक ही जीवात्मा के लिए नही है। इस ससार मे प्रत्येक प्राणी की यही दशा है, हर व्यक्ति अपने पूर्व-कृत कर्मों का परिणाम भोग रहा है। अनन्तकाल से परिभ्रमण करती हुई उसकी आत्मा नाना योनियो मे नाना प्रकार के कष्ट सहती रही है। किन्तु अब कुछ शुभ कर्मों के उदय से उसे मानव-पर्याय मिल सकी है। मानव-जन्म एक ऐसा दुर्लभ अवसर है जो महामुश्किलो के पश्चात् प्राप्त हो सका है। पर इस जीवन मे अगर वह चाहे तो अपने समस्त कर्मों के जाल को छिन्न-भिन्न कर सकता है अपनी आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाकर परमात्मा बना सकता है।

किन्तु यह कार्य सहज और सरल नही है। इसके लिए बडे पुरुषार्थ और त्याग-तपस्या की आवश्यकता है। व्यक्ति अगर यह सोचे कि मैं ससार के सुखो को भी भोगता चलूँ और आत्मा का कल्याण भी कर लूँ तो यह छत्तीस का आकडा होगा जो कभी भी एक दूसरे से मेल नही खायेगा। अभी मैंने आप से कहा था कि दो विरोधी कार्य एक साथ नही हो सकते। जिस प्रकार कोई व्यक्ति दो दिशाओ में एक साथ नही चल सकता, इसी प्रकार प्रवृत्ति मार्ग और निवृँत्ति मार्ग पर भी साथ-साथ नही चला जा सकता। एक मार्ग भोग का है और दूसरा त्याग का। भोगी त्यागी नही बन सकता और त्यागी भोगी बना नही रह सकता।

इसलिये अगर हम पापो से छुटकारा चाहते हैं और परमात्मदशा की प्राप्ति की अभिलाषा रखते हैं तो हमे विषय-विकारो के लुटेरो से आत्म-धन की रक्षा करते हुए सयमपूर्वक साधना-पथ पर बढना होगा तथा धर्म की सहायता से आत्मा को अपने शुद्ध-रूप मे लाने का प्रयत्न करना होगा। तभी हमारा मनुष्य जन्म सार्थक होगा तथा हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेंगे।

आवश्यकता है हमे अपने अन्दर पूर्ण विश्वास और उत्साह भर लेने की। अपनी आज की दशा को देखकर किसी को निराश नही होना चाहिए। प्रत्येक वह आत्मा जो ससार-मुक्त हुई है सदा ही वैसी नही थी। सभी की दशा आप और हमारे जैसी रही है। किन्तु उन्होंने प्रयत्न किया, त्याग और तपस्या की और तब कर्मों को नष्ट किया। हम भी चाहे तो सर्वथा कर्म-रहित हो सकते हैं पर चाहिये आत्म-विश्वास। अगर हम आत्मा की तेजस्विता मे, उसकी अनत शक्ति मे विश्वास रखें तो फिर कौनसा कार्य हमारे लिये कठिन रह जाय ? कोई भी नही।

कहा जाता है जब रावण ने सीता का हरण कर लिया था। राम उन्हें खोजते हुए सुग्रीव से मिले। सुग्रीव के द्वारा पता चला कि सीता को चुराकर रावण लका मे ले गया है।

रामने सुग्रीव से पूछा—लका यहाँ से कितनी दूर है ? सुग्रीव इस प्रश्न का उत्तर दे ही नही पाए थे कि वानरवशियो का सेनापति जामवन्त जो कि शरीर से अत्यन्त वृद्ध था पर चेहरे पर बडो तेजस्विता और ओज रखता था, वोल उटा—लका इतनी दूर है कि हजारो वर्षो मे भी वहाँ तक नही पहुचा जा सकता, और वही लका इतनी पास है कि एक कदम रखने पर दूसरा उठाते ही वह लका मे रखा जा सकता है।

राम भोचक्के होकर जामवन्त का मुँह देखने लगे। वोले—"भाई ! यह कैसी वात है ? एक तरफ तो कहते हो लका तक हजारो वर्षो मे भी नही पहुचा जा सकता और दूसरी तरफ कह रहे हो अगला कदम लका मे ही रखा जा सकता है। तुम्हारी इन वातो मे क्या रहस्य है ?"

जामवन्त ने मुस्कुराते हुए कहा—"महाराज ! जिस व्यक्ति के हृदय मे लगन, उत्साह और पुरुषार्थ की भावना नही है, वह तो हजारो वर्ष वीतने पर भी लका तक नही पहुच सकता। किन्तु जिसके हृदय मे पूर्ण विश्वास और दृढ भावना है वह कुछ ही पलो मे लका तक पहुच सकता है।"

आशा है आप भी वन्धुओ, जामवन्त के द्वारा कही हुई वात का अर्थ समझ गये होगे कि सच्ची लगन, आत्म-विश्वास और पुरुषार्थ होने पर कोई भी कार्य असभव नही है। हमारी आत्मा मे ही तो अनन्तशक्ति छिपी हुई है और हमे इसे केवल उपयोग मे लेना है। आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तचारित्र्य का धनी है। आवश्यकता है इन पर पडे हुए अज्ञान और मिथ्यात्व आदि के आवरणो को हटाने की। हमारी सच्ची लगन, श्रद्धा और साधना से जिस दिन वे हट जाएँगे आत्मा अपने पूर्व ज्योतिर्मय रूप मे आ जाएगी और फिर कभी भी उसे इस ससार मे नहीं आना पडेगा।

●

२६ | शुभ फलप्रदायिनी सेवा

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

कल के प्रवचन मे बताया गया था कि जिज्ञासु व्यक्ति भगवान से प्रार्थना करता है—"हे प्रभो ! आपने कर्मों से सर्वथा रहित होकर शाश्वत सुख की प्राप्ति कर ली है। अपनी श्रेष्ठता एव महानता के कारण आपकी आत्मा परमात्म पद को प्राप्त कर चुकी है। किन्तु मैं पुद्गलो से ठगाया गया और कर्मों से सताया हुआ एक दुखी प्राणी हूँ। आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे ऐसी आत्म-शक्ति प्राप्त करने का वरदान दें कि मैं भी इन कर्मों का मुकाबला कर सकूं और इनसे पीछा छुडा सकूं। आपके वचनानुसार मैंने जाना है कि धर्म का मार्ग कल्याण-कारी है और धर्म मे ही वह शक्ति है जो आत्मा को शुद्ध और कर्मों से मुक्त कर सके। इसलिये मैंने भी धर्म रूपी सुभट की शरण ली है तथा इसे अपनी रक्षा का भार सोपा है।"

यह प्रार्थना केवल एक प्राणी के लिये ही नहीं है। इस ससार मे प्रत्येक प्राणी कर्मों के वश मे होकर ससार-भ्रमण कर रहा है। अत अगर उसे इस ससार के बधनो से छुटकारा पाना है तो यही प्रार्थना करनी चाहिये। उसे भी अपने मन मे यही भावना रखनी चाहिये कि मैं अपनी आत्मा मे रहे हुए अनतज्ञान, अनतदर्शन और अनतचारित्र को प्रकट करके इन कर्मों से मुक्ति प्राप्त करूँ।

किसी भी आत्मा के लिये यह कार्य कठिन भले ही हो पर असम्भव कदापि नही है। आत्मा सभी की समान रही है और समान ही है। तीर्थंकरो की आत्मा मे जो शक्ति थी वही शक्ति ससार के प्रत्येक प्राणी की आत्मा मे है चाहे वह मनुष्य हो, चाहे पशु। चाहे हाथी हो और भले ही चीटी या उससे भी सूक्ष्म प्राणी क्यों न हो। आत्म-शक्ति प्रत्येक प्राणी की आत्मा मे है, केवल प्रगट होने की कमी है।

तो मैं आपसे कह रहा था कि तीर्थंकरो की आत्मा भी एक समय हमारे जैसी ही थी किन्तु साधना के फल-स्वरूप उन्होने तीर्थंकर गोत्र की प्राप्ति की। 'ज्ञाता सूत्र' के आठवें अध्याय मे वर्णन आता है कि बीस कारणो से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन होता है। उनमे साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका की सेवा करना भी है जिन्होने ऐसा किया है वे ही अपनी आत्मा का कल्याण कर सके हैं।

हमारे पूर्वज कहते आए है :—

सतन की सेवा किया, प्रभु रीझत है आप।
ज्याका बाल खिलाइये, ताका रीझत बाप॥

कहते हैं कि सन्तो की सेवा करने से भगवान प्रसन्न होते हैं, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार बच्चो को खिलाने से उनके माता-पिता प्रसन्न होते हैं।

यहाँ आप मन मे विचार करेंगे कि भगवान के लिये तो ससार मे सभी प्राणी समान हैं। उनका सभी पर सम-भाव है फिर सन्तो के लिए ही यह बात क्यो ? आपका सोचना गलत नही है। यह विचार मन मे उठना स्वाभाविक है। और वास्तव मे ही प्राणी मात्र की सेवा से भगवान प्रसन्न होते हैं। किन्तु यह पद्य सहज भाव से कहा जाता है और इसका आशय मैं सक्षेप मे आपके सामने रखता हूँ।

इस ससार में प्रत्येक व्यक्ति पहले किसी का पुत्र बनता है और उसके बाद स्वय पिता बन जाता है। पिता के एक, दो चार या अधिक भी पुत्र होते हैं। सभी के लिये उसके हृदय मे अथाह ममत्व होता है और अपने पुत्रो के दुख से वह दुखी तथा उनके सुख से स्वय भी सुख का अनुभव करता है। किन्तु स्वाभाविक है कि सभी पुत्रो मे समानता नहीं पाई जाती। प्राय देखा जाता है कि एक ही पिता के पुत्र होने पर भी कोई तो बाप का आज्ञाकारी, सेवा भावी एव विनयवान होता है और कोई पुत्र अनुशासनहीन, उद्दड तथा क्रूर प्रकृति का निकल जाता है।

यद्यपि पिता का आन्तरिक ममत्व सुपुत्र और कुपुत्र दोनो पर समान होता है और दोनो मे से किसी को भी कष्ट मे नही देख सकता किन्तु विनयी, आज्ञाकारी और सेवाभावी पुत्र अपनी सेवा परायणता के कारण पिता के अधिक नजदीक रहता है और अधिक समय उनकी सुश्रूषा मे व्यतीत करने के कारण पिता के गद्गद् हृदय का मूक आशीर्वाद प्राप्त करके उसका शुभ फल पाता है।

इसी प्रकार भगवान के लिये ससार के सभी प्राणी समान हैं सब के लिये

उनके हृदय मे करुणा व वात्सल्य की भावना होती है किन्तु पिता के लिये सुपुत्र जैसा होता है, वैसे ही भक्त अथवा सन्त भी भगवान के बताए हुए त्याग और तपस्या के मार्ग पर चलता है, उनके वचनो पर पूर्ण श्रद्धा और आस्था रखता है तथा गद्गद् हृदय से उनकी पूजा भक्ति और उपासना करता है अत अपनी श्रेष्ठ व उत्तम भावनाओ का शुभफल प्राप्त करता हुआ भगवान के अधिक नजदीक रहता है। श्रेष्ठ गुण या सद्गुण ही व्यक्ति की आत्मा को परमात्मा बनाते हैं अत सद्गुणी व्यक्ति परमात्मा को सन्तुष्ट करता है। साराश यही है कि परमात्मा को कोई भी प्राणी अप्रिय नही लगता किन्तु दुर्गुण अप्रिय लगते हैं और सद्गुण प्रिय। यही कारण है कि सन्त या भक्त सद्गुणी होने के कारण प्रभु की कृपा को प्राप्त कर लेते हैं।

दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है —

> जे आयरिय-उवज्झायाण, सुस्सूसा वयण करे।
> तेसि सिक्खा पवड्ढति, जल सित्ता इव पायवा ॥

जो अपने आचार्य एव उपाध्यायो की सुश्रुषा-सेवा तथा उनकी आज्ञाओ का पालन करता है उसकी विद्याएँ वैसे ही वढती हैं, जैसे कि जल से सीचे जाने पर वृक्ष।

तो बधुओ, जैसा कि गाथा मे कहा गया है—गुरु की आज्ञा पालन करने पर और उनकी सेवा करने पर शिष्य का ज्ञान वृद्धि प्राप्त करता है, उसी प्रकार भगवान की भक्ति करने वाले साधक, सन्त और भक्त का ज्ञान, दर्शन एव चारित्र भी अपने श्रेष्ठ रूप को प्राप्त करता जाता है और अपनी श्रेष्ठता के कारण वह भगवान का प्रिय बनता है। इससे स्पष्ट ही है कि श्रेष्ठ तथा सदगुणी जव भगवान को प्रिय होता है तो उसकी सेवा करने पर वे प्रसन्न होते हैं।

इस प्रकार सेवा का वडा भारी महत्त्व माना गया है। सेवा मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है जो कि हृदय और आत्मा को पवित्र करती है तथा आत्मा की शक्ति को वढाती है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये एक प्रासगिक उदाहरण आपके समक्ष रखता हूँ।

भगवती सूत्र में वताया गया है कि जिस प्रकार इस मानव-लोक मे मनुष्य आपस मे झगड पडते हैं उसी प्रकार देवलोको मे भी झगडे हुआ करते हैं। देवलोक वारह हैं और जिस पकार हमारे यहाँ देश के राजा होते हैं, उसी पकार वहाँ इन्द्र हैं। पहले दो-दो देवलोको के लिये एक-एक इन्द्र और वाकी आठ देवलोको के लिये आठ इन्द्र, इस प्रकार कुल दस इन्द्र हैं।

पहले इन्द्र शक्रेन्द्र और दूसरे इन्द्र ईशानेन्द्र के देवलोको की सीमाएँ पास-पास जुडी हुई हैं। उनमे प्रसगवश कभी-कभी विवाद हो जाता है। तो भगवती सूत्र मे दिया गया है कि उन इन्द्रो के पारस्परिक झगडो को कौन मिटाता है ? ऐसा प्रश्न भगवान् से गौतम स्वामी ने किया।

भगवान् का उत्तर है—"गौतम ! जब पहले दोनो इन्द्रो मे विवाद होता है ऊपर तीसरे देवलोक के इन्द्र आकर उनके विवाद को मिटाते हैं।" गौतम स्वामी पुन प्रश्न पूछते हैं—"भगवन् ! पहले दोनो इन्द्र भी साधारण देवता नही हैं, इन्द्र हैं। उन्हें समझाने की शक्ति तीसरे देवलोक के इन्द्र मे कैसे होती है ?"

भगवान् पुन उत्तर देते हैं—"तीसरे देवलोक के इन्द्र सनत्कुमार हैं। उन्होने अपने पूर्वजन्म मे साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका, इस प्रकार चारों तीर्थों की बहुत सेवा की थी, इसीलिए उन्हें इतना ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ।"

उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा भी है—

वैयावच्चेण तित्थयरनामगोय कम्म निबंधेइ।

आचार्यादि की वैयावृत्त्य करने से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्रकर्म का उपार्जन करता है।

इस प्रकार जिस व्यक्ति की सेवा-भावना जितनी उत्कृष्ट होगी वह उतना ही ऊँचा उठेगा। आपने मुनि नन्दीषेण के विषय मे सुना होगा। वे इतने सेवा-भावी थे कि देवलोक मे शक्रेन्द्र जो कि सम्यक्दृष्टि है उन्होंने समस्त देवताओ के सामने नन्दीषेण मुनि की प्रशसा की। कहा—"नन्दीषेणजी के समान सेवा करनेवाला और कोई नही है।"

शक्रेन्द्र की इस बात को सम्यक्दृष्टि देवो ने सत्य मानी और स्वय भी मुनि की प्रशसा करने लगे। किन्तु एक मिथ्यात्वी देव ने इस बात को नही माना। उलटे उसे बुरा लगा कि इन्द्र महाराज देवताओ की तारीफ न करके एक साधारण मानव की प्रशसा करते हैं।

उस मिथ्यात्वी देव ने निश्चय किया कि मैं नन्दीषेण मुनि की परीक्षा लूंगा और इन्द्र महाराज के कथन को गलत साबित करूँगा।

अनेक व्यक्तियो का ऐसा ही स्वभाव होता है। वे स्वय तो कुछ सराहनीय कार्य करते नही, पर औरो के कामो मे मीन-मेख निकालने के लिये और उनकी परीक्षा लेने के लिये तैयार रहते हैं। हमारे यहाँ भी अनेक प्रकार के व्यक्ति आते हैं। कुछ तो उनमे से ऐसे होते हैं जो आन्तरिक श्रद्धा और स्वय अपनी रुचि से जिन-वचनो का श्रवण करने के इच्छुक होते हैं, कुछ ऐसे भी

होते हैं जो केवल लोक-लज्जा के कारण आते हैं कि लोग कहेंगे—"महाराज का चातुर्मास कराया पर प्रवचन तो सुनते ही नही ।"

कुछ उनमे से ऐसे भी होते हैं जो अपने स्वार्थ के कारण आते हैं कि प्रवचन सुनेंगे यानी धर्म के शब्द कान में पड़ेंगे तो धन, वैभव, परिवार सभी की वृद्धि होगी और सासारिक सुख प्राप्त होगा । कुछ सटोरिये भी यहाँ आते हैं, जो सन्तो के मुँह से निकले किसी अङ्क पर ही सट्टा लगा दिया करते हैं । पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी आते हैं जो केवल हमारे रहन-सहन व्यवहार-क्रिया आदि मे कमियाँ देखते हैं । वे छिद्रान्वेषण करने की भावना को लेकर ही यहाँ तशरीफ लाते हैं ।

अब उनसे पूछा जाय कि साधु मे भले ही कुछ कमी होगी, ढीलापन होगा किन्तु क्या वे तुमसे अनेक गुने त्यागी नही हैं ? साधु की परीक्षा करने चले हो पर उनमे जितने भी गुण हैं उनमे से एक-दो भी तो अपनाकर देखो ? अधिक नही तो साधु के लिये जो साधारण बातें हैं उन्हे ही कुछ दिन अपना लो । जैसे सर्दी या गर्मी मे नगे पैर ही चलना, रात को पानी नहीं पीना, कड़ाके की सर्दी मे भी गद्दे-रजाई में नही सोना । यह तो हमारे लिये मामूली बातें ही हैं सयम और साधना तो दूर की चीजें हैं । तो ये छोटी बातें भी क्या छिद्रान्वेषण करने वाले कुछ दिन के लिये अपना सकते हैं ? नही, वह तो दो दिन के लिये भी सम्भव नही है । सम्भव केवल साधु के दोषो को ढूंढना और उन्हे लेकर निंदा करना ही है । वे परीक्षा ले सकते हैं । परीक्षा दे नहीं सकते ।

ऐसा ही वह मिथ्यात्वी देव था, जिसने नन्दीषेण मुनि की परीक्षा लेने का निश्चय किया और उन्हे परीक्षा मे फेल करके शकेन्द्र की बात को असत्य करना चाहा ।

देव ने मुनि का वेश बनाया और मानवलोक मे आ पहुंचे । नन्दीषेण से कहा—"मुझे अमुक गाँव जाना है अत पहुँचा दो ।"

नन्दीषेण जी ने सहर्ष इस बात को स्वीकार किया और उन्हें सहारा देकर ले चलना चाहा । यह देखते ही बनावटी मुनि क्रोध से उबल कर बोले—

"तुम्हे दिखाई नही देता ? मैं चल सकता हूँ क्या ?"

"भगवन् ! मुझसे गलती हो गई आप मेरे कधे पर बैठ जाइये ।" मुनि के क्रोध पर तनिक भी ध्यान न देते हुए नन्दीषेण जी ने अत्यन्त विनम्रता से क्षमा माँगते हुए कहा ।

तत्पश्चात् रुग्ण मुनि को कधे पर बैठा कर नन्दीषेण जी रवाना हो गए । मुनिदेव था अत उसने अपना वज़न काफी कर लिया था किन्तु नन्दीषेण जी

अत्यन्त शातिपूर्वक उसे कधे पर लिये हुए चले जा रहे थे। पर इतने से ही उनकी परीक्षा सम्पूर्ण कैसे हो सकती थी ? मार्ग मे नन्दीषेण जी के कधे पर बैठे हुए ही मुनि रूपी देव ने मल-मूत्र का त्याग कर दिया। वह भी असह्य दुर्गंध के साथ। गन्दगी से नन्दीषेण जी के वस्त्र और शरीर सन गए तथा भयकर दुर्गंध नाक मे घुसने लगी।

किन्तु धन्य थे वे नन्दीषेण मुनि, जिन्होने उस स्थिति मे भी उफ तक नही किया। जवान से ही नही, मन मे भी उनके रचमात्र भी ग्लानि या क्रोध का भाव नही आया। उनका हृदय अत्यन्त दु ख और करुणा से भर गया और वे विचार करने लगे—"किस प्रकार मैं शीघ्रातिशीघ्र मुनिराज का इलाज कराऊँ और उनका रोग तथा तकलीफ दूर हो सके।"

गन्दगी से सने हुए नन्दीषेण जी ने एक सुरक्षित और साफ जगह पर मुनि को कधे पर से उतारा तथा समीप के गाँव से जल लाकर उनके और अपने वस्त्र एव शरीर की शुद्धि की।

नन्दीषेण जी की शारीरिक और मानसिक सेवा तथा उत्कृष्ट भावनाओ को अपने ज्ञान से देवता ने समझ लिया और अपने असली स्वरूप मे आकर उन्हें धन्य-धन्य कहते हुए नमस्कार किया।

यह सेवा का ही परिणाम था। सेवा करना सरल नही है वडा कठिन कार्य है। किन्तु जो इस कार्य को अपना लेता है वह इस लोक और परलोक दोनो मे ही उसका उत्तम फल प्राप्त करता है। बाहूवलि के उदाहरण से भी इस वात की पुष्टि होती है।

भरत और वाहुवलि दोनो भाई थे तथा भगवन ऋषभदेव के पुत्र थे। भरत जव छ खड के चक्रवर्ती वने तो उन्होंने अपने भाई वाहुवलि को अपने अधीन रहने के लिये कहा।

किन्तु वाहुवलि ने इस आज्ञा को नही माना और उत्तर दिया—"यह कैसे हो सकता है ? मुझ पर आपका क्या अधिकार है ? पिताजी ने मुझे भी राज्य का हिस्सा दिया है अत आप अपने राज्य मे शासन करिये और मैं अपने राज्य मे करूँगा।

पर जव दोनो ही अपनी अपनी वात पर अडे रहे तो वाद-विवाद वढ गया और आवेश मे आकार वाहुवलि ने कह दिया—"ऐसे भरत तो हमारे यहाँ चल्हे पर रोज चढते हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि खडनी नही देना है तो मत दीजिये मगर मैत्री तो रखिये।

किन्तु भरत चक्रवर्ती थे जिनकी सेवा मे देवता रहते थे। वे कैसे छोटे

भाई की स्वतन्त्रता बर्दाश्त करते ? उन्होने नही माना सो नही ही माना। अत दोनो मे युद्ध की नौबत आ गई। किन्तु फिर विचार हुआ कि झगडा जब हम दोनों का ही है तो फिर निरपराध अन्य व्यक्तियो का खून क्यो हो ? यही अच्छा हो कि हम दोनों ही द्वन्द्व युद्ध करें। इस प्रकार उनका दृष्टियुद्ध बाहुयुद्ध और मुष्टियुद्ध होना तय हुआ। प्रथम दोनो युद्धो मे बाहुबलि जीत गए और फिर तीसरे मुष्टियुद्ध की बारी आई।

चक्रवर्ती सम्राट् भरत को मुष्टि का प्रहार करने का अवसर पहले दिया गया। भरत ने प्रहार किया और प्रहार इतना जबर्दस्त था कि बाहुबलि घुटनो तक जमीन में चले गए।

अब बारी बाहुबलि की थी। प्रथम दोनो युद्धो मे जीत जाने के कारण चारो ओर जनता सास रोके हुए खडी थी। सबको दृढ विश्वास था कि बाहूबलि का प्रहार भरत किसी प्रकार सह नही सकेंगे और निश्चय ही अनर्थ घट जायगा। पर युद्ध, युद्ध ही था और बाहूबलि को अब वार करना था।

नियत समय पर बाहूबलि ने मुट्ठी बांधी और हाथ उठाया। सबके कलेजे कांप उठे तथा भय के कारण पल भर को आंखें मुंद गई। पर यह क्या ? ज्योहि लोगो ने नेत्र खोले सब विस्मय से देखते रह गए कि बाहूबलि का मुट्ठी वाला दाहिना हाथ अभी तक ऊपर ही उठा हुआ है, और वे कुछ विचार कर रहे हैं।

इधर ज्योंहि बाहूबलि ने मुट्ठी ऊपर की बडे भाई को मारने के लिये, त्योही उनके मस्तिष्क मे विचार कोधा—'अरे, मैं क्या कर रहा हूँ ? प्रथम तो बडा भाई पिता के बराबर होता है अत मैं मानो पिता का सहार करने जा रहा हूँ। दूसरे यह पाप मैं किस लिये कर रहा हूँ ? धन-दौलत राज्य-पाट के लिये ही तो, यह क्या यह क्षणिक ऐश्वर्य सदा मेरे साथ रहेगा ? मेरी आत्मा का इससे क्या भला होगा कुछ भी नही, उलटा कर्म-बन्धन होगा जो अलग।"

यह विचार मन मे आते ही बाहूबलि ने भाई पर प्रहार करने का इरादा त्याग दिया पर अपनी उठाई हुई मुट्टी को निरर्थक जाने देना स्वीकार नही किया। आपको उत्सुकता होगी कि फिर क्या किया उन्होंने ? उन्होने यह किया कि अपना हाथ अपने ही मस्तक की ओर ले आए तथा बालो का लुचन करके सब कुछ त्याग कर मुनिवृत्ति धारण करली।

तो बधुओ, यह उदाहरण मैंने आपको सेवा के प्रसग मे दिया है। मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि बाहूबलि को एक चक्रवर्ती सम्राट से मुकाबला करने की ओर उसे जीत लेने की शक्ति कैसे प्राप्त हुई ? जबकि चक्रवर्ती

सम्राट की जूठन खाने वाली दासी भी अपनी चुटकी से वज्र सदृश हीरे को मसल डालती है। हमारे शास्त्र बताते हैं कि बाहूबलि ने अपने पूर्व जन्म मे पाँच सौ मुनियो की बडी भारी सेवा की थी। उसी सेवा के बल पर उन्हे अपार शक्ति हासिल हुई और वे भरत जैसे चक्रवर्ती सम्राट से मुकाबला करके उन्हें हरा भी सके थे।

तो बधुओ! सेवा का महत्त्व अवर्णनीय है। यद्यपि सेवा करने मे नाना कष्ट उठाने पडते हैं, बडा त्याग करना पडता है तथा आत्म-भोग देना होता है किन्तु उसका परिणाम श्रेष्ठतम निकलता है।

भगवती सूत्र मे कहा भी है —

समाहिकारए ण तमेव समाहिं पडिलब्भई।

जो दूसरो के सुख एव कल्याण का प्रयत्न करता है वह स्वय भी सुख एव कल्याण को प्राप्त होता है।

तो बधुओ, इस दुर्लभ मानव-जीवन को पाकर जो व्यक्ति अपना समय सेवा मे नही लगाता वह निश्चय ही अपने जीवन को निरर्थक करता है। सेवा करना मानव का परम धर्म है। इससे आत्मा सरल और शुद्ध होती है तथा पुण्य का संचय होता है। अगर हम इतिहास को उठाकर देखें तो पता चलेगा कि ससार के प्रत्येक महापुरुष के जीवन मे पर-सेवा एक मुख्य कर्तव्य रहा है। अपनी इसी भावना से वे महान् बने और सदा के लिये अमर हो गए हैं।

सेवा के अनेक रूप होते हैं। परिवार के सदस्यों की सेवा, गुरु की सेवा, जाति-धर्म की सेवा या सघ की सेवा यह सब सेवा मे आता है। अभी मैंने बताया था कि साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका की सेवा करने से तीर्थंकर गोत्र-नाम-कर्म भी बँध सकता है।

इसलिये बधुओ, आपको मैं बार-बार सगठन के लिए एव सघ की सेवा के लिये कहता हूँ। सगठन मे अपूर्व शक्ति है। और शक्तिशाली सघ प्रत्येक व्यक्ति के लिये गौरव एव अभिमान की वस्तु है। अगर सघ का प्रत्येक सदस्य सेवा की भावना रखेगा तो वह फुलवारी मे लगे हुए फूल के समान ही स्वय भी सुशोभित होगा तथा सघ-रूपी फुलवारी की शोभा को बढायेगा।

२७ | जीवन श्रेष्ठ कैसे बने ?

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव वहनो !

आज के प्रवचन मे श्री रतनमुनि जी ने सस्कारो के महत्व पर प्रकाश डाला है। उत्तम सस्कार जीवन को उत्तम और श्रेष्ठ वनाते हैं। जिस व्यक्ति के जीवन मे सस्कार अच्छे नहीं होते, उसका जीवन अपूर्ण एव निष्फल वन जाता है।

सस्कार व्यक्ति की शैशवावस्था मे मूल जमाते हैं। जिस प्रकार कुम्हार गीले घडे पर नक्काशी करता है तो वह कभी नही मिटती और उस समय वह चाहे जैसी कारीगरी कर भी लेता है। उसी प्रकार शिशु के कोमल और सरल हृदय मे चाहे जैसे सस्कार डाले जा सकते हैं और उस समय जो सस्कार जम जाते हैं वे जीवन पर्यन्त वने रहते हैं।

हम आज जो कुछ करते हैं उसमें अधिकाश भाग हमारे हृदय में जमे हुए सस्कारो का परिणाम होता है। सस्कारो के द्वारा ही मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है। अगर सस्कार अच्छे होते हैं तो मनुष्य सच्चरित्र कहलाता है और सस्कार बुरे हुए तो वह दुश्चरित्र माना जाता है। इसके अलावा सुसस्कृत व्यक्ति की सगति करने से भी मनुष्य के मन पर अच्छा प्रभाव पडता है, वह सत्कर्म-प्रिय वन जाता है और कुसगति मे पड गया तो कुकर्मों की ओर प्रेरित होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को सुसस्कारो से युक्त वनने का प्रयत्न करना चाहिये। अगर सघ का प्रत्येक व्यक्ति यह निश्चय करले कि मुझे अपने जीवन को सदाचरण से सुशोभित करना है तथा समाज व सघ के प्रति अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करना है तो सघ स्वय ही महान् और श्रेष्ठ वन जाता है। इसलिये सघ के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने परिवार, समाज एव सघ के हित को ध्यान मे रखते हुए आपसी स्नेह एव

सद्भावना के द्वारा सगठन बनाए रखने का प्रयत्न करे। ऐसा उसे अवश्य करना चाहिये। क्योकि जिस समाज मे आपने जन्म लिया है, जिस धर्म मे आपने एक-एक श्वास ली है उसका आप पर ऋण है। आप कहेगे—"हम क्या कर्ज लेने गए थे?" अरे भाई! जिस देश मे जन्मे हो, जहाँ का अन्न-जल ग्रहण किया है। उस देश का उस समाज का और उस धर्म का आप पर ऋण है और उसके उपकार से आप दबे हुए हैं। चाहे आप लखपति हो, चाहे करोडपति हो या कि निर्धन हो किसी न किसी प्रकार से आपको वह ऋण उतारना ही चाहिये। पैसे वाले पैसे से समाज के व्यक्तियो का भला कर सकते हैं और जिनके पास पैसा नहीं है वे शरीर से और शरीर मे भी जिनके शक्ति नही है वे मन से भी समाज-सेवा करने मे समर्थ हो सकते हैं।

पर यह सम्भव कैसे हो सकता है? तभी होगा जबकि व्यक्ति अपने हृदय को स्नेहामृत से परिपूर्ण रखे तथा समस्त वैर-विरोध एव कषाय को त्याग दे।

शतावधानीजी श्री रत्नचन्द्रजी स्वामी ने 'भावना शतक' नामक ग्रन्थ मे बारहो भावनाओ पर आठ आठ श्लोक लिखे है, एक मगलाचरण, एक उपसहार के रूप मे और दो श्लोक गुरु महाराज की प्रशस्ति मे, इस प्रकार सौ श्लोक लिखे हैं। सभी श्लोक साधु-साध्वी एव श्रावक-श्राविका आदि के लिये चिंतनीय तथा मननीय हैं।

उनमे से एक श्लोक आपके सामने रखता हूँ—

कषाय दोषा नरकायुरर्जक
भवद्वयोद्वेगकरा सुखच्छिद ॥
कदा त्यजेयु मम सगमात्मनो,
विभावयेत्यष्टम भावनाश्रितः ॥

'क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारो कषाय हैं। ये दोष नरकगति की आयु का उपार्जन करते हैं। जिसकी आत्मा मे कषाय होते हैं वह नरक मे जाता है और वहाँ नही पहुँचा तो तिर्यंचगति मे उसे जाना पडता है। चन्डकौशिक नरकगति मे गया, अपने क्रोध के कारण। यह दुर्गति है सुगति नही, सुगति मे मनुष्य गति अथवा देवगति मिलती है।

तो कषाय नरकगति का उपार्जन करते हैं और भवद्वय अर्थात् दोनो लोक मे, उद्वेगकर यानी अशान्ति पैदा करने वाले होते हैं। क्रोध करने से इहलोक और परलोक बिगडता है इसीप्रकार अभिमान, कपट और लोभ करने से भी दोनो भवो मे अशान्ति ही प्राप्त होती है। आगे कहा है—इनसे दुःख ही मिलेगा, सुख नही। इसलिये आठवी जो सवर भावना है उसका आश्रय, लेकर

चिंतन करना चाहिये। कि इन कषायो से आत्मा की कितनी हानि होती है और किस प्रकार ये आत्मिक गुणो को नष्ट करते हैं।

दशवैकालिक सूत्र में बहुत स्पष्ट बताया गया है कि ये चारो कषाय क्या-क्या नुकसान करते हैं ? इसके आठवें अध्याय मे यह गाथा है—

कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो॥

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाशक है, माया मित्रता की जड काटती है और लोभ तो समस्त सद्‌गुणों का ही विनाश कर देता है।

वस्तुत ये चारो कषाय सद्‌गुणो का नाश करके आत्मा को पतन की ओर ले जाते हैं। कषायो मे पहला स्थान क्रोध को दिया गया है। यह आत्मा का प्रबल दुश्मन है। इसके रहते हुए कोई भी उत्तम गुण आत्मा के पास नही फटक पाता। जिस प्रकार काले रग के वस्त्र पर दूसरा कोई भी रग नही चढता, इसीप्रकार आत्मा पर क्रोध के काले रग के चढ जाने के पश्चात् करुणा, दया, स्नेह, सेवा या क्षमा आदि का कोई भी श्रेष्ठ रग नही चढा करता।

तभी ससार के दार्शनिको और चिन्तको से जब किसी ने प्रश्न किया—"विस कि ?" तो उन्होने उत्तर दिया—"कोहो।" अर्थात् क्रोध।

वास्तव मे ही क्रोध एक ऐसा भयानक विष है जो मनुष्य को मदिरापान किये हुए व्यक्ति की अपेक्षा भी अधिक खतरनाक बना देता है। यह एक-एक दो-दो पीढियो तक के स्नेह सम्बन्ध को तोड देता है। तथा जन्म-जन्मान्तर तक वैर-भाव जीवो मे चलता रहता है।

इसी प्रकार मान का भी हाल है। गाथा मे दिया गया है—माणो विणय नासणो।' यानी मान विनय को नष्ट करने वाला है। यथार्थ भी है कि जहाँ मान अथवा अहकार होगा, वहाँ विनय कैसे रह सकेगा। मान का स्थान गर्दन में होता है। जहाँ मान रहेगा गर्दन अकडी रहेगी। जब गर्दन झुकेगी ही नही, तो मस्तक नवेगा कैसे ? और मस्तक नही झुकेगा तब विनय किसी का किस प्रकार किया जा सकेगा। माता-पिता, गुरु आदि बडो को मस्तक झुकाकर ही विनय प्रदर्शित किया जाता है। पर जब मस्तक झुके ही नही तो विनय का चिह्न कहाँ रहेगा ?

तारीफ की बात तो यह है कि अभिमानी व्यक्ति अगर कुछ समझदार है तो वह बडो का अनादर अथवा अवहेलना करने पर उसका प्रायश्चित जरूर कर लेता है, किन्तु मान का त्याग नही करता। वह कहता भी है—

"प्रायश्चितम् चरिष्यामि, पूज्यानाम् को व्यतिक्रम ।"

अगर मेरे द्वारा पूज्य व्यक्तियो की अवहेलना हुई है तो मैं उसका प्रायश्चित कर लूँगा । वह व्यक्ति यह अवश्य कह देता है किन्तु यह नहीं कहता कि अब मैं मान रखूँगा ही नही और कभी भी बडो की अवहेलना अथवा छोटों का तिरस्कार नही करूँगा । इस पर एक छोटा-सा उदाहरण है ।

मिच्छामि दुक्कडम्—

एक गुरु और शिष्य विचरण करते हुए किसी छोटे से गाँव मे पहुँचे । वहाँ पर स्थानक आदि न होने के कारण वे एक कुम्हार के घर पर ठहर गये ।

शिष्य आयु मे कम और कुछ चचल स्वभाव का था दूसरे शब्दो मे बचपन उसका अभी गया नहीं था ।

उसने देखा कि घर का मालिक कुम्हार मिट्टी के घडे चाक पर से उतार-उतार कर जमीन पर रखता जा रहा है । शिष्य ने गीले घडो को देखा तो उसके हृदय मे खेल करने की भावना जागृत हुई और वह एक-एक ककड उठाकर क्रमश गीले मटको मे मार-मार कर उनमे छेद करने लगा ।

किन्तु साधु होने के नाते उसके मन मे यह विचार जरूर आया कि मैं यह गलती कर रहा हूँ और किसी गलती के होने पर साधु को "मिच्छामि दुक्कडम् ।" कह कर प्रायश्चित कर लेना चाहिए । अत वह प्रत्येक मटके मे छेद करने के बाद "**मिच्छामि दुक्कडम्**" अवश्य कहता गया ।

शिष्य के यह कार्य प्रारम्भ करने के कुछ ही समय बाद कुम्हार की दृष्टि मटको की ओर गई । विस्मय के साथ उसने देखा कि हर मटके मे छेद हो रहा है । गीले होने के कारण कोई आवाज तो उसे आई नही थी । पर अब जब उसने मटको की यह दशा देखी तो उनकी दुर्गति का कारण जानने के लिये आस-पास निगाह दौडाई और देखा कि उसके घर मे ठहरे हुए मुनि का शिष्य दूर बैठा हुआ मटको पर ककर फेंक-फेंक कर उनमे छेद किये जा रहा है, तथा "मिच्छामि दुक्कडम् ।" ये शब्द भी जबान से बोलता चला जा रहा है ।

कुम्हार बेचारा शिष्य के कार्य और कार्य करते हुए बोलने वाले शब्दो के रहस्य को समझा नहीं, अत दौडा-दौडा गुरु जी के पास आया और उनसे सारी घटना कह सुनाई । वह शिष्य के कार्य पर चकित हो रहा था ।

गुरु जी ने शिष्य को बुलवाया और उससे सारी बात पूछी । शिष्य ने सहजभाव से कहा—"भगवन् ! आपने ही तो फरमाया था कि कोई गलती हो जाय तो "मिच्छामि दुक्कड" कहकर उसके लिये प्रायश्चित कर लेना

चाहिए। मेरे मन मे मटको मे छेद कर-करके खेल करने की इच्छा हुई अत मैं उनमे कंकर मारने लगा। पर यह कोई अच्छी बात तो थी नही मेरी गलती तो थी ही अत मैं मिच्छामि दुक्कड कहकर उसके लिये प्रायश्चित भी लेता गया।

गुरु जी शिष्य की बात सुनकर मुस्कुराए पर फिर उसे समझाया—"वत्स ! अनजान मे गलती हो जाय उसके लिये प्रायश्चित करने पर वह फल देता है। किन्तु जान-बूझकर गलतियाँ करते हुए प्रायश्चित करने का कोई मूल्य नही होता।"

गुरु जी की बात शिष्य की समझ मे आगई और उसी दिन से उसने निरर्थक कार्य करना अथवा जानबूझ कर गलतियाँ करना छोड दिया।

तो बधुओ वह शिष्य अभिमानी नही था अत उसमे विनय जागरूक था और इसीलिए उसने अविलम्ब अपनी भूल को स्वीकार कर लिया किन्तु जो व्यक्ति अभिमानी होते हैं वे अपनी हानि होने पर भी बात को नहीं छोडते। हम प्राय देखते हैं कि अनेक बार भाइ-भाई मे या परिचितो मे भी किसी चीज या बात पर खटक हो जाती है तो महीनों वे अदालतो के चक्कर काट लेते हैं, जितने का नुकसान हुआ होता है या एक दूसरे का छीना हुआ होता है उससे अनेक गुना अधिक पैसा वे वकीलो और कोर्टों में बिगाड देते हैं, किन्तु अपने मान को त्यागकर सुलह नही करते। हानि होने की अपेक्षा उन्हें मान भग होना अधिक बुरा लगता है।

रावण ने सीता का हरण किया था। पर उसके यह नियम थे कि मैं किसी भी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध नही अपनाऊँगा। सीता को अपने अनुकूल बनाने के लिये भी उसने अनेक प्रयत्न किये किन्तु सफल नही हुआ और भविष्य मे सफलता प्राप्त होने की आशा भी नही थी।

ऐसी स्थिति मे उसकी सती-साध्वी पत्नी मदोदरी और अनुज विभीषण ने बहुत समझाया कि—'अब सीता आपके अनुकूल होगी ऐसी आशा नही है तो व्यर्थ ही झगडा बढाने से क्या लाभ है ? सीता को पुन राम के पास पहुँचा दीजिये।'

किन्तु केवल अभिमान के कारण रावण ने ऐसा नही किया तथा कडक कर उत्तर दिया—"ऐसा कैसे हो सकता है ? क्या मैं अपने हाथो ही अपनी नाक कटवाऊँगा।"

और अन्त मे क्या हुआ ? यह आप सब जानते ही हैं कि रावण की गलती का प्रायश्चित केवल रावण को ही नही उसके पूरे परिवार, प्रजा एव सम्पूर्ण

लका को भोगना पडा। भोगना पडेगा, यह रावण भी जान गया था किन्तु मारे अहकार के अन्त तक भी उसने सीता को लौटाया नही।

यह है मान अथवा अहकार का नमूना जो वताता है कि सर्वस्व नष्ट हो जाने पर भी मानी कभी झुकता नही, क्योकि मान के आते ही विनय गुण का तो लोप हो ही जाता है।

मान के पश्चात् तीसरा कषाय है कपट अथवा माया। श्लोक मे कहा गया है—"माया मित्ताणि नासेइ" यानी माया मित्रता का नाश करती है। इसके विपय मे सर्वप्रथम यह जानने की आवश्यकता है कि माया अपना कार्य वडी सूक्ष्मता से और छिपे तौर पर करती है। क्रोध तो कहा जाता है कि मनुष्य के कपाल मे निवास करता है और उसका आक्रमण होते ही वह आँखों मे झलकने लगता है। तत्पश्चात् जवान पर आकर अपना रूप प्रकट कर देता है। इसी प्रकार अहकार भी पहले तो गर्दन को अकडा देता है और फिर वाणी मे उतर आता है।

किन्तु माया अथवा कपट का कोई चिह्न वाहर दिखाई नही देता। वह व्यक्ति के पेट मे घुसा रहकर ही अपना काम करता रहता है।

एक सस्कृत के कवि ने कपटी अथवा धूर्त पुरुप के लक्षण इस प्रकार वताये हैं—

"मुख पद्मदलाकार, वाचा चन्दनशीतला।
हृदय कर्त्तरीतुल्य, धूर्तस्य त्रय लक्षणम्॥"

मुँह कमल के समान खिला हुआ, वचन मे चन्दन के समान शीतलता पर हृदय कैंची की तरह कुटिल, ये तीन लक्षण धूर्त व्यक्तियो के होते हैं।

वस्तुत क्रोध और मान तो वाह्य व्यवहार के द्वारा पहचान लिये जाते हैं, किन्तु माया छिपी रहती है अत उसका वार अचानक और अधिक घातक होता है।

कपटी मित्र का कुचक्र

एक सेठ के दो पुत्र थे। वह मरने लगा तो उसने अपने दोनो पुत्रो को वुलाकर अन्तिम आदेश दिया—"पुत्रो! मेरी यह अन्तिम इच्छा है कि तुम दोनो मेरे मरने के वाद सम्पूर्ण जायदाद का वटवारा प्रेम से कर लेना। झगडा मत करना।

पुत्रो ने पिता की वात मान ली और उनके देहान्त के कुछ दिन वाद वे दोनों अलग-अलग हो गए। वँटवारा करते समय सारी सम्पत्ति तो ठीक से वँट

गई पर एक कटोरी बची रह गई। बडे भाई ने वह कटोरी छोटे भाई को दे दी।

अब दोनो अपना-अपना कारोबार देखने लगे। सौभाग्यवश छोटे भाई का कारोबार बहुत अच्छा चल निकला और उसके पास बडे भाई की अपेक्षा अधिक धन हो गया।

उसी गाँव मे सेठ जी का एक कपटी मित्र रहता था, जो सदा सेठ की सम्पत्ति देखकर जला करता था और किसी न किसी उपाय से उनके धन का विनाश करने की इच्छा रखता था। सेठ जी के जीवित रहते तो उसकी दाल गली नही किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् उसने अपनी योजना पूरी करने की स्कीम बनाई।

वह कपटी मित्र सेठ जी से बडा स्नेह-पूर्ण सम्बन्ध रखता था, यह उनके दोनों पुत्रो को मालूम था अत पिता के मरने के पश्चात् भी वे उसका आदर और सम्मान करते रहे तथा समय-समय पर अपने पिता के मित्र को बुजुर्ग मानकर उनसे सलाह-मशविरा लेते रहे।

सेठ जी के मित्र को बँटवारे मे बची हुई कटोरी का पता था और यह भी पता था कि वह कटोरी छोटे को दी गई है। इधर छोटे भाई का काम-काज भी बहुत अच्छा चल रहा था। ठीक इसी समय सेठ के उस मित्र के हृदय मे कपट ने काम करना प्रारम्भ कर दिया और उसके परिणामस्वरूप उसने बडे भाई से जाकर कहा—"बेटा! मुझे कहना तो नही चाहिए किन्तु तुम्हारे हित के लिए कहता हूँ कि तुमने जो कटोरी अपने छोटे भाई को बँटवारे के समय दी थी वह 'देवनामी' कटोरी थी और जिसके पास वह रहेगी, उसकी ऋद्धि सदा दिन-दूनी रात चौगुनी बढेगी। अत अपना भला चाहो तो कटोरी तुम वापिस ले लो।

इसी प्रकार वह छोटे भाई के पास गया और उससे बोला—"तुम्हारा बडा भाई तुम्हारे बढते हुए धन को देखकर जलने लग गया है और कटोरी के बहाने तुमसे झगडा करना चाहता है।"

इस प्रकार उस मायावी मित्र ने दोनो मे झगडा करवा दिया और एक कटोरी को लेकर दोनो भाइयो ने सम्पत्ति के लिए कचहरी-कोर्ट तक पहुँच कर अपना सब धन बरबाद कर दिया।

यह दुखद परिणाम केवल एक कपटी के कपट के कारण निकला था। मायावी आत्माएँ इसी प्रकार छिपे-छिपे लोगो का अनिष्ट करने की ताक मे रहती हैं। पर वे भूल जाती हैं कि वर्तमान मे तो छिपे तौर पर हम औरो का

बुरा कर लेंगे किन्तु भविष्य मे जब कर्म-फल भोगने का समय आएगा तब यह चातुरी नही चल सकेगी। कहा भी है—

"भुवन वञ्चयमाना, वचयन्ति स्वमेवहि।"

—उपदेशप्रासाद

जगत को ठगते हुए कपटी पुरुष वास्तव मे अपने आपको ही ठगते हैं।

ऐसा क्यो कहा गया है ? इसलिए कि—

"माया तैर्यग्योनस्य" माया करने से तिर्यंच योनि प्राप्त होती है। जिस प्रकार माया टेढेपन से अपना कार्य करती है उसी प्रकार माया के कारण प्राप्त तिर्यंच प्राणी टेढे-तिरछे चलते हैं। इस प्रकार माया आत्मा को पतित बनाकर दुर्गति मे डाल देती है।

माया के पश्चात् चौथा कषाय लोभ आता है। इसके लिए भी बताई हुई गाथा मे कहा गया है—'लोहो सव्व विणासणो।' अर्थात् लोभ तो मनुष्य के सर्वस्व का विनाश कर देता है। लोभ कषाय का वर्णन करते हुए शास्त्र कहते हैं कि ससारी प्राणी इतने असन्तोष शील हैं कि किसी भी अवस्था मे उनकी इच्छाएँ, तृष्णाएँ और कामनाएँ पूरी नही हो सकती।

वस्तुत जब तक लोभ विद्यमान रहता है, तब तक इच्छाओ का अन्त नही आता और जब उनका अन्त नही आता तब तक उनकी तृप्ति सम्भव भी कैसे हो सकती है ?

भर्तृहरि ने अपने श्लोक मे लोभी मनुष्य के मन की दशा का वर्णन करते हुए कहा है—

भ्रान्त देशमनेकदुर्गविषम प्राप्त न किञ्चित्फलम्।
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमान उचित सेवा कृता निष्फला॥
भुक्त मानविवर्जितं परगृहेष्वाशकया काकवत्।
तृष्णे दुर्मति! पापकर्म निरते नाद्यापि सतुष्यति॥

तृष्णा के मारे हुए एक व्यक्ति का कथन है—मैं अनेक दुर्गम और कठिन स्थानो मे घूमता फिरा, पर कुछ भी फल नही निकला। मैंने अपनी जाति और अपने कुल के अभिमान का त्याग कर पराई चाकरी भी की, पर उससे भी कुछ न मिला। शेष मे मैं कौए की तरह उडता हुआ और अपमान सहता हुआ, पराये घरो के टुकडे भी खाता फिरा। हे पाप-कर्म कराने वाली और कुमति दायिनी तृष्णे! क्या तुझे इतने पर भी सन्तोष नही हुआ ?

कहने का अभिप्राय यही है कि तृष्णा वास्तव मे एक अग्नि के समान है। अग्नि मे ज्यो-ज्यो ईंधन डाला जाता है, त्यो-त्यो वह शात होने के बजाय

बढती चली जाती है। अत हृदय मे सतत जलनेवाली इस लोभ-रूपी अग्नि को धन-वैभव से शात करने का प्रयत्न करना निरर्थक ही नही वरन विपरीत कार्य है।

इसीलिए विवेकी पुरुष ऐसे मूर्खतापूर्ण प्रयास नही करते अर्थात् वैरभाव को शात करने के लिए धन का नही वरन् सन्तोषवृत्ति का प्रयोग करते हैं।

किसो कवि ने लोभी मनुष्य को समझाने की कोशिश करते हुए अपने एक पद्य मे वडी सुन्दर शिक्षा दी है—

जो कुछ विधाता तेरे लिख्यो लिलाट पाट,
ताही पर अपनो आप अमल कर ले।
सोने को सुमेर भावे देख वार पार मांझ,
घटै बढ़ै नहीं यह निश्चय जिय भर ले॥
देवीदास कहे जोई होनहार सोई होइ है,
मन मे विचार रैन दिन अनुसर ले।
वापी कूप सरिता भरे हैं सात सागर पें,
तू तो तेरे वासन-समान पानी भर ले॥

देवीदास जी कहते हैं—अरे मानव। विधाता ने तेरे ललाट मे जो कुछ लिखा है वही होने वाला है अत तू जो प्रयास करता है, अरे उसका जो कुछ भी फल प्राप्त होता है, उतने में ही सतोष रख। भले ही किसी व्यक्ति के समक्ष सुमेरु पर्वत जितना वडा सोने का ढेर क्यो न हो, उसे उतना ही प्राप्त हो सकेगा जितना उसकी तकदीर मे होगा। उससे न कम होगा और न अधिक मिल सकेगा। इस वात को निश्चय समझना चाहिये।

कवि का कथन है—"अरे भाई! जो होनहार है, वही होगा, इस वात को कभी मत भूल तथा इस वात के अनुसार रात-दिन सजग रहकर सतोप पूर्वक मिले हुए पर ही प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ कुछ आत्म-कल्याण के लिये प्रयत्न करता रह। इस ससार मे ज्ञान का अगाध भडार है। अनेक शास्त्र, धर्मग्रन्थ, गुरु, तथा महापुरुप अपने मे विशाल ज्ञान लिये हुए हैं। अत तुझसे जितना ज्ञान हासिल किया जा सके करले। जिस प्रकार कुए, वावडी, नदी, तालाब और समुद्रो मे अथाह पानी होता है, किन्तु मनुष्य उसमे से उतना ही ले सकता है, जितना वडा उसके पास पात्र होता है।

तो अधिक की लालसा न रखकर व्यक्ति को अपने पास के वर्तन को भर कर सतुष्ट हो जाना चाहिये, उसी प्रकार जितनी अपनी बुद्धि और योग्यता हो

उतना ज्ञान प्राप्त करके भी उसका समुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिये।

ध्यान मे रखने की बात है कि मनुष्य बहुत अधिक पढ लिखकर भी अगर उसे जीवन मे न उतारे तो अपने ज्ञान का किंचित् भी लाभ नही उठा सकता। और इसके विपरीत थोडा सा ज्ञान प्राप्त करके भी, या गुरु के दो शब्द सुनकर उन्हे दृढतापूर्वक ग्रहण कर ले तो अपनी आत्मा का उत्थान कर सकता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि मुमुक्षु प्राणी को क्रोध, मान, माया, तथा लोभ, इन चारो कषायों का त्याग करके अपने चारित्र को निर्मल बनाना चाहिए। चारित्र को शुद्ध बनाने मे सस्कारो का बडा भारी हाथ होता है, यह प्रारम्भ मे मैंने आपको बताया ही है। इसलिये उसे सदा सन्त-पुरुषो का समागम करके उत्तम सस्कार अपनाने चाहिए और उत्तम गुणो को ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

जीवन को श्रेष्ठ बनाने मे सस्कार सबसे मुख्य वस्तु होती है। सस्कारो की उत्कृष्टता एक दिन जीव को अरिहत बना सकती है। मारवाडी भाषा में एक बडा सुन्दर दोहा कहा गया है—

सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म-मैल को आन्तरो, बूझे बिरला कोय।

अर्थात्—प्रत्येक जीव सिद्ध के जैसा ही है क्योंकि जीव ही सिद्धत्व को प्राप्त करता है। जीव और सिद्ध मे अन्तर केवल कर्मों का है। जब तक आत्मा पर पाप कर्मों की मलीनता बनी रहती है वह परमात्मापद की प्राप्ति नही कर पाती और जिस दिन वह मलिनता हट जाती है आत्मा सिद्ध, बुद्ध, अरिहत कहलाने लगती है।

आज का युग भौतिकता का युग है। भौतिक जीवन की चमक-दमक और प्रलोभन के कारण मनुष्य अपनी आत्मा के महत्त्व को भूलता जा रहा है। वह अपने बाह्य जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। अपने शरीर को स्वस्थ और सबल बनाने की कोशिश करता है, अपनी ख्याति और सम्मान बढाने के लिए अपने ज्ञान का और तर्कों का अधाधुध प्रयोग करके लोगो पर अपना सिक्का जमाने के प्रयास में रहता है।

पर यह सब क्या साबित करता है ? यही कि जैसे एक मन्दिर को सजाया जाय, उसकी दीवारो पर अद्वितीय कारीगरी और नक्काशी की जाय, उस पर सोने का कलश चढाया जाय और झडियो तथा पताकाओ को लहराकर उसके प्रभाव को बढाने का प्रयत्न किया जाय, किन्तु उस मन्दिर के अन्दर भगवान

की प्रतिमा की स्थापना हो ही नही और अगर प्रतिमा हो तो उसकी कोई परवाह या चिन्ता की ही न जाय। चाहे प्रतिमा पर धूल की पर्त जमी हो, वह खडित हो गई हो, या सर्वथा उपेक्षित अवस्था मे पडी हो। ऐसा होने पर उस मन्दिर की समस्त बाहरी शोभा या सजावट किस काम की ? किसी काम की नही।

इसीप्रकार केवल बाह्य जीवन को समृद्ध और भौतिक सुख से परिपूर्ण बनाने का प्रयास करना आत्मा-रूपी भगवान की प्रतिमा की उपेक्षा करना है। जो व्यक्ति आत्मा के यथार्थ रूप का ज्ञान नही करता, उसके शुद्ध और सहज स्वरूप की पहचान नहीं करता तो उसकी समस्त बाह्य क्रियाएँ और पुरुषार्थ व्यर्थ है।

इसलिए यह कभी नही भूलना चाहिए कि हमारी आत्मा मे अनन्तशक्ति है। केवल सासारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति और मोह की सुदृढ चादर से वह ढक गई है। इसी के परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने मन और इन्द्रियो के वश मे हो जाता है। वासना, कामना, और विपयासक्ति के फेर मे पडकर आत्मा के सम्यक्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र को भी उपेक्षा कर जाता है तथा इसके फलस्वरूप त्रिविध तापो से पीडित बना रहता है। अगर मानव मोहासक्ति की उस चादर को अपनी आत्मा पर से हटा सके तो फिर आत्मा की अनन्तशक्ति के समक्ष ससार का कोई भी प्रलोभन नहीं टिक सकता।

ध्यान मे रखने की बात है कि आत्मा की शक्ति काम तो करती ही है, किन्तु उसके मोहावृत्त होने के कारण उसके कार्य मोह बढाने वाले होते हैं और मोह अगर नष्ट हो जाय तो उसके कार्य आत्म-साधना मे सहायक बन जाते हैं। इसलिए मनुष्य को विस्मृति से जागकर अपनी आत्मा की तथा उसकी अनन्त शक्ति की पहचान करना चाहिए और जीवन को उत्तम सस्कारो से विभूपित करके आत्मा-रूपी पावन प्रतिमा को कर्ममल रहित बनाने के प्रयत्न मे जुड जाना चाहिए।

ऐसा करने पर ही आत्मा की अलौकिक ज्योति अपने शुद्ध रूप मे प्रगट होगी और वह जन्म-मरण के दुखदायी चक्र से अपने आपको सदा सर्वदा के लिये मुक्त करके परमात्म-पद की प्राप्ति कर सकेगी।



२८ कषायों को जीतो !

धर्मप्रेमी वधुओ माताओ एव वहनो !

आज मुझे एक भजन की दो लाइनें याद आ रही हैं—

जिया मतकर वहुत पसारा,
तू चलता है वनजारा।

ये लाइने वहुत सरल और स्पष्ट लिखी गई हैं। न इनमे शब्दो का आडम्वर है और न भाषा की जटिलता। किन्तु इनका भाव अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। कवि ने आत्मा को वनजारे की उपमा देकर प्रतिबोध दिया है—"अरे चेतन ! तू चौरासी लाख योनियो मे भटकते हुए नाना प्रकार के असह्य दुख सहता हुआ इस मनुष्ययोनि मे आ पाया है। अत अव अधिक 'पसारा' मत कर।'

अधिक पसारे से तात्पर्य है अपने मन को सासारिक पदार्थों मे अधिक से अधिक आसक्त रखना तथा मोह जाल को वढाना। साधारण शब्दो मे हम पसारे से अपने सामने रही हुई वस्तुओ की अधिकता से तात्पर्य लेते हैं। अर्थात् किसी भी काम को करते समय विना जरूरत की विखरी हुई अगर अधिक सख्या मे जो चीज पडी रहती हैं, उनके लिए कहते हैं—"पसारा समेटो !"

यहाँ भी पसारा शब्द का यही अभिप्राय है। जीवन मे जितना भौतिक पदार्थों का सग्रह करेंगे वह वाह्य पसारे की गिनती मे आएगा और उनके प्रति जो आसक्ति और ममत्व होगा वह आतरिक पसारे मे गिना जाएगा। वाह्य पसारा ही आतरिक पसारे को जन्म देता है।

तो कवि ने प्राणी से यही कहा कि—'भोले जीव' वाहर का परिग्रह अधिक मत वढा क्योकि यह जितना वढता जाएगा, तेरी आत्मा इसमे उतनी ही लिप्स होती जाएगी और उसके भोग तथा सुरक्षा मे तेरा जीवन समाप्त हो जाएगा।

और अन्त मे अपनी आत्मा के कल्याण के लिए कुछ भी बिना किये तू एक दिन बनजारे के समान ही यहाँ से चल देगा ।

कवि का कथन—'तू चलता है बनजारा' यह आत्मा के लिए सर्वथा उपयुक्त है। आत्मा अनतकाल से भिन्न-भिन्न योनियो में भटक रही है। एक योनि प्राप्त की और अल्प समय के पश्चात् ही उसे छोडकर यानी पूर्व शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण करने चल देती है। जिस प्रकार बनजारे एक स्थान पर पहुचते हैं और कुछ समय पश्चात् ही अपना डेरा उठाकर अन्य स्थान के लिए प्रयाण कर देते हैं। इसी दृष्टि से आत्मा को बनजारा कहा गया है।

बधुओ, अब हमे यह देखना है कि ससार का पसारा क्यो बढता है ? इसका अन्दाज लगाना कठिन नही है कि लोभ, मोह आसक्ति एव भोगोपभोगो की इच्छाए हमारे परिग्रह को बढाती हैं और मन को ललचाकर उनके जाल मे मकडी के समान फँसा देती हैं।

कल मैंने आपको बताया था कि क्रोध, मान, माया और लोभ ये कपाय आत्मा के लिये नरकगति का उपार्जन करते हैं तथा इसलोक और परलोक दोनो के लिए उद्वेगकर बनते हुए सच्चे सुख से दूर ले जाते हैं। एक गाथा के द्वारा कल यह भी बताया था कि क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मित्रता को मिटानेवाली है और लोभ तो सभी कुछ नष्ट कर देता है। अत आज शास्त्र की एक दूसरी गाथा के द्वारा यह बताता हू कि क्रोध, मान, माया एव लोभ को किस प्रकार जीता जा सकता है। गाथा दशवैकालिक सूत्र की है और इसमे भगवान ने कहा है—

उवसमेण हणे कोह माणं मद्दवया जिणे ।
माय चज्जवभावेण, लोभ सतोषओ जिणे ॥

क्रोध को शाति से, मान को कोमलता से, माया को सरलता से और लोभ को सतोपवृत्ति से जीता जा सकता है।

वस्तुत चारो कपाय आत्मा के लिए हानिकारक है। पर इन चारो मे क्रोध का स्थान प्रमुख है। यह वह भयकर अग्नि है जो कि आत्मा मे प्रज्वलित होने पर उसे कही का नही रखती। कहा भी है—

उत्पद्यमान प्रथम, दहत्येव स्वमाश्रयम् ।
क्रोध कृशानुवत्पश्चादन्य दहति वा न वा ॥

अर्थात् क्रोध रूपी आग सर्वप्रथम अपने आश्रयस्थान स्वय को ही जलाती है। तत्पश्चात् दूसरे को तो जलावे या नही भी जलावे।

इसलिए आत्मार्थी साधक को सर्वप्रथम क्रोध को जीतने का प्रयत्न करना

चाहिए और उसे केवल शाति, समभाव या क्षमा से ही जीता जा सकता है। जिस प्रकार रक्त रजित वस्त्र रक्त से नही घुल सकता इसीप्रकार क्रोध को प्रतिकारक क्रोध, उत्तेजना, आवेश अथवा वैर से नही हो सकता। क्रोध के शमन का सर्वोत्तम उपाय समभाव है।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि एक तरफ तो व्यक्ति करोड पूर्व तक नाना प्रकार की तपस्या करता है तथा दूसरी ओर एक व्यक्ति पूर्ण समभाव द्वारा किसी व्यक्ति की कडवी बात को सहन करता है। पर अगर दोनो की तुलना की जाय तो करोड पूर्व तक तपश्चर्या करनेवाले की अपेक्षा समभावपूर्वक किसी का एक दुर्वचन सहन करने वाला अपने कर्मों की अधिक निर्जरा कर लेता है। अत प्रत्येक साधक को अपने क्रोध की मात्रा का अधिक से अधिक परित्याग करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योकि क्रोध भी चार प्रकार का होता है और जो सबसे निकृष्ट होता है वह जन्म-जन्मातर तक भी वैर का बधन किये रहता है।

सस्कृत के एक श्लोक मे बताया गया है --

उत्तमस्य क्षण कोप मध्यमस्य घटीद्वयम्।
अधमस्य त्वहोरात्रि, पापाना मरणान्तक ॥

अर्थात्—उत्तम पुरुषो का क्रोध अत्यल्पकाल तक रहता है, मध्यम व्यक्तियो का दो घडी तक, नीच व्यक्तियो का दिन-रात तक, किन्तु जो पापात्मा हैं उनका क्रोध तो जन्मपर्यंत बना रहता है।

तो बधुओ, हमे प्रयत्न तो क्रोध कषाय के सर्वथा नाश करने का ही करना चाहिए, फिर भी अगर ऐसा न हो पाए तो उत्तम पुरुषो के समान उसे आते ही शीघ्रातिशीघ्र विदा करने की इच्छा तो रखनी ही चाहिए। जो व्यक्ति विवेकवान और चतुर होते हैं वे अपने प्रयत्न मे अवश्य सफल होते हैं तथा जहाँ वे अपने क्रोध को जीतते हैं, वहाँ सामने वाले क्रोधी व्यक्ति के क्रोध को भी शात करने की शक्ति अपने आप मे जागृत कर लेते हैं। प्रसग वश ऐसा ही एक उदाहरण सामने रखता हूँ जिसमे चतुर बहू ने अपनी क्रोधी स्वभाव की सासु के क्रोध को भी अपनी बुद्धि से शात बना लिया।

क्रोध का उपचार—

एक सेठ थे। बडे ऐश्वर्यशाली एव समाज मे भी प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति थे। किन्तु दुर्भाग्य से उनकी पत्नी यानी सेठानी अत्यन्त क्रोधी स्वभाव की थी। अत. सभी तरह से सुखी होने पर भी सेठ जी अपनी पत्नी की ओर से

कषायो को जीतो ।

दुःखी रहते थे। उसे शात करने के लिए उन्होने वहुत प्रयत्न भी किये किन्तु सफल नही हो सके।

सेठ जी के चार पुत्र थे। चारो ही सुशील और योग्य थे। उनमे से तीन का विवाह हो गया था, चौथे का करना था। सेठजी ने विचार किया कि अगर मेरे घर मे चौथी पुत्र-वधू ऐसी आ जाय, जो कि अपनी सास के स्वभाव को शात बना सके तो वडा अच्छा रहे। उन्होने इसी दृष्टि से किसी सुलक्षणा, चतुर एव शातस्वभाव की कन्या खोजनी प्रारम्भ की। अत मे अपनी खोज के अनुसार उन्होने कन्या ढूँढी और चौथे पुत्र का विवाह कर दिया। विवाह के पश्चात् सेठजी ने छोटी पुत्र-वधू से अपने मन की वात जाहिर की तथा उससे कहा—"किसी भी प्रकार से तुम्हे अपनी सास के स्वभाव को वदलना है।" वहू ने ससुर की आज्ञा को शिरोधार्य किया तथा उन्हे इस वात का विश्वास दिलाया।

अव चारो वहुओ ने विचार-विमर्श किया तथा अपनी सास को समझाने की दृष्टि से वे उसके पास आई। किन्तु सास के पास पहुँचने से पहले तीनो वडी वहुओ ने तय कर लिया था कि वे कुछ नही वोलेंगी छोटी वहु चतुर है अत. वह वात करेगी।

तो जव वे लोग सगठित होकर सास के पास पहुची तो प्रथम तो चारो को एक साथ देखकर ही—सेठानी भडक उठी। वोली—'तुम चारो इकट्ठी होकर आई हो ? क्या जरूरत पड गई ? झगडा करना है क्या ?

सास के स्वभाव से वहुएँ परिचित थी और अत शात रही। केवल छोटी वहू विनय पूर्वक वोली—"माताजी। हम झगडा करने नही आई केवल आपसे एक प्रार्थना करने आई हैं,"

"प्रार्थना ' कैसी प्रार्थना ?" सेठानी रोषपूर्वक वोली।

"यही कि अपना घर गाव मे सवमे वडा हैं। हमारे पास धन, इज्जत परिवार सभी कुछ है। किसी चीज की कमी नही। किन्तु आप थोडा कटु वोल जाती हैं अत लोगो से झगडा हो जाता है। इसी वजह से हमे भी दो शब्द सुनने पडते हैं।"

"तो मैं क्या करूँ ? मेरा स्वभाव ही जो है। तुम्हे इसकी पचायत करने की क्या जरूरत पड गई ?"

सेठानी को आग-ववूला देखकर भी छोटी वहू नम्रतापूर्वक वोली—"हम यह चाहती हैं कि आपको जो कुछ भी और जितना भी कहना-सुनना हो वह हम चारो से ही कहा करें। हम वारी-वारी से आपके पास रोज रहेगी। इसमे

यह होगा कि गाव मे कोई आपकी निन्दा नही करेगा और सब आपके ही गुण-गान करेंगे।"

गाँव मे निन्दा की बात सेठानी की समझ मे कुछ आई और वह मुँह से कुछ नही बोली, केवल कुप्पे के समान मुँह फुलाए बैठी रही। छोटी बहू ने सास की चुप्पी को स्वीकृति समझ लिया और अपनी जिठानियो को इशारे से बुलाकर अन्दर चली गई।

उस दिन की बातचीत का परिणाम यह हुआ कि सेठानीजी ने बाहर के व्यक्तियो से लडना छोड दिया और चूँकि एक न एक बहू अपनी-अपनी बारी से उनके सामने रहती थी अत उनसे ही झगडना और जली-कटी सुनाना चालू रखा। छोटी बहू ने भी अपनी जिठानियो से अत्यन्त प्रेम और नम्रतापूर्वक कह दिया—"मैं छोटी हू और मुझे आप लोगो को शिक्षा देना शोभा नही देता पर हमारे घर मे शाति स्थापित करने के लिये आपसे विनय है कि अपनी सासुजी कुछ भी कहे, एक भी बात का कडवा उत्तर हमे नही देना है।"

सभी बहुएँ सुयोग्य थी अत उन्हे इस बात मे क्या एतराज होता? उन्होने भी निश्चय कर लिया कि कुछ भी क्यो न सुनना पडे कुछ दिन हम सभी-कुछ सहन करेंगी। और इस निश्चय के साथ प्रतिदिन एक बहु सास के पास अधिक रहने लगी और उनकी कटु और कडवी बातो को शाति से सहने लगी।

इस प्रकार दो महीने व्यतीत हो गए तथा सेठानीजी का बाहर के व्यक्तियो से झगडना तो बन्द हो गया पर घर मे रोज किसी न किसी बहु की शामत आती और उसे कटूक्तिया सुननी पडती। अत छोटी बहु ने विचार किया कि किसी प्रकार अब सासुजी का घर मे झगडना भी मिटाना चाहिए।

इस विचार के साथ जब उसकी सास के समीप रहने की बारी आई तो उस दिन वह सुबह-सुबह ही दही और बासी रोटी खाने बैठ गई। यह देखते ही सेठानी अत्यन्त क्रोधित होकर बोली—"कैसे भूखे घराने की लडकी आई है। दिन निकला नही कि खाना शुरू कर दिया। क्या दिन मे खाने को नही मिलता?"

छोटी बहु एक शब्द भी नही बोली। केवल सेठानी ही जो मन मे आया कहती रही। पर आखिर अकेली वह कब तक बोलती? थक गई तो चुप हो गई।

वास्तव मे ही सुनने वाला व्यक्ति अगर क्षमावान हो तो क्रोधी अकेला

कव तक बोलेगा ? थक कर चुप होगा ही मराठी मे सन्त तुकाराम जी भी कहते हैं --

"क्षमा शस्त्र ज्या नरा चिया हाती,
दुष्ट तया प्रति काय करी ?
तृण नाही जेथे पडिला दावाग्नि,
जाय तो विझूनी आपसया।"

ज्या च्या हातात क्षमा रूपी शस्त्र आहे त्याच्या पुढे दुष्ट मनुष्य सुद्धा काय करू शकेला ?

यानी, जिसके हाथ मे क्षमा रूपी शस्त्र हो, उसके ऊपर दुष्ट स्वभाव वाला वरसकर भी क्या करेगा ? दृष्टात वडा अच्छा तुकाराम जी ने दिया है कि जहाँ घास-फूस नही होगा, वहाँ आग गिरेगी भी तो किसको जलाएगी ?

तो मैं यह कह रहा था कि छोटी वहू जव नही बोली तो सेठानी कुछ शात होने लगी किन्तु वहू को तो आज झगडे की समाप्ति ही करनी थी अत उसने मन मे कुछ विचार किया और स्वय रोटी का ग्रास खाकर रोटी का एक टुकडा सास को दिखाती हुई उसके सामने हिलाने लगी।

यह देखकर सास आपे मे न रही और बुरी तरह से भडककर बोली—"बेशर्म, तू मुझे कुतिया समझती है क्या ?"

वहू फिर भी चुप रही, पर सेठानी तो जो मुँह मे आया वकती-झकती रही, बहुत देर तक। आखिर जब बोलते-बोलते बुरी तरह थक गई और पसीना-पसीना हो गई तो चुप हुई। जब सास शात हुई तब मौका देखकर वहू बोली—

"माता जी ! आप मेरी माके समान हैं, हमारी बुजुर्ग है, घर मे सबसे वडी हैं। भला आप को मैं कुतिया समझ सकती हू ?"

"मेरे सामने रोटी का टुकडा क्यो हिलाया था ?" सास ने अवकी वार विना वके-झके पूछा। वहू ने उत्तर दिया —

"वह टुकडा मैंने आपके सामने नही हिलाया था। आपके हृदय मे जो क्रोध रूपी कुत्ता घुसा वैठा था, उसके सामने हिलाया था।"

सेठानी थक-थकाकर शात वैठी थी, अत उसने अब गहराई से विचार किया तो उसकी समझ मे आया कि—"वहू का कहना वास्तव मे सत्य है। मुझ मे क्रोध-रूपी कुत्ता ही घुसा हुआ था जो मुझे इस प्रकार बुराई का घर बनाए हुए था। आखिर क्रोध करने से मुझे क्या लाभ होना है ? कुछ भी नही, उलटे घर मे अशाति होती है और निन्दा का पात्र बनना पडता है।"

इस प्रकार के विचार आते ही सेठानी ने अपने क्रोध का परित्याग कर दिया और पूर्ण समभाव व शाति से जीवन व्यतीत करने लगी।

इस प्रकार सुशील और चतुर बहू ने शाति के द्वारा अपनी कर्कशा और अत्यन्त झगडालू सास को भी सुधार लिया और उसे सन्मार्ग पर ले आई।

उदाहरण देने का अभिप्राय यही है कि अगर मानव अपने जीवन को श्रेष्ठ वनाना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम क्रोध को जीतना चाहिये। क्रोध को जीते विना वह साधना के महापथ पर एक कदम भी नही रख सकता।

कषाय-चतुष्क मे अव दूसरा नवर है मान का। अभिमान भी जीवन के लिए घोर अनिष्टकारी है। यह साधक के सम्पूर्ण जीवन की साधना सयम, तप एव अन्य उत्तम गुणो को नष्ट कर देता हैं। बाहुवलि को केवल अभिमान के कारण ही केवलज्ञान की प्राप्ति होने से रुकी रही। जव तक उनके हृदय से मान नही गया केवलज्ञान उन पर मडराता रहकर भी प्राप्त नही हुआ और जिस क्षण मान उनकी आत्मा से निकला, उसी क्षण वे उस दुर्लभ ज्ञान के धनी वन गये।

अभिमान भी आत्मिक गुणो का घोर शत्रु है और नाना बुराइयो को जन्म देने वाला है। रावण, कस और दुर्योधन आदि को विनाश की ओर ले जाने वाला तथा कुल सहित नष्ट करने वाला अभिमान ही था। इसलिये साधक को साधना-पथ पर वढने से पहले ही मान का नाश करके आत्मा मे विनय की स्थापना करनी चाहिये। जव तक हृदय मे अभिमान जागृत रहेगा, विनय गुण का आविर्भाव नही हो सकेगा और विनय के अभाव मे ज्ञान की प्राप्ति भी नही होगी। और जव तक ज्ञान की प्राप्ति नही होगी, मनुष्य धर्म, अधर्म, के अतर को भी जान नही सकेगा।

अभिमान हृदय मे क्यो रहता है, इस विषय मे सस्कृत के एक सुभाषित मे शेष नाग और विच्छू का उदाहरण देकर वताया गया हैं कि अपूर्णता हृदय मे मल को जन्म देती है। श्लोक इस प्रकार है—

विषभार सहस्रेण वासुकि नैव गर्विता।
वृश्चिको स्तोकमात्रेण [illegible] त कटक[illegible]

वैष्णव सम्प्रदाय मे माना जा[illegible] अपने विशाल फन पर उठाये हुए है। वा[illegible] जिसके पास हजारो तोला जहर है और जि[illegible] से वहन कर र[illegible] हृदय मे [illegible]

मान नही है । किन्तु वृश्चिक अर्थात् विच्छू, जिसके पास केवल डक मे तनिक सा विष ही है, और जो कि एक चिमटे से पकड लिये जाने पर भी अपने आपको मुक्त नही कर सकता ऐसे शक्तिहीन प्राणी के अदर भी इतना मान है कि वह सदा अपने डक को उठाये हुए ही चलता है ।

इसका कारण क्या है ? यही कि विच्छू के पास विष और शक्ति दोनो ही थोडी मात्रा मे है अर्थात् उसमे दोनो की अपूर्णता है । इसी प्रकार जो व्यक्ति ज्ञान मे अपूर्णता रखता है वह भी घमड के मारे जमीन पर पाँव नही रखता । आप एक श्लोक प्राय बोलते भी है

सम्पूर्ण कुम्भो न करोति शब्द—
मर्धो घटो घोषमुपैति नूनम् ।

अर्थात्—जो घडा पूरा भरा हुआ होता है वह तनिक भी आवाज नही करता, किन्तु आधा भरा हुआ घडा तेज आवाज करता रहता है ।

यही हाल निर्धन और धनी व्यक्ति का होता है । अगर निर्धन को थोडा सा भी धन प्राप्त हो जाय तो वह गर्व से गर्दन को अकडाए हुए ही चलता है किन्तु जो धनी होता है वह फलो के भार से झुके हुए वृक्ष के समान नम्र बन जाता है ।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक मे भी अपने ही अनुभव से लिखा है—

यदा किंचिज्ज्ञोऽह द्विप इव मदान्ध· समभव,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्त मम मन ।
यदा किंचित्किंचित् बुधजनसकाशादवगत,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगत ॥

कवि का कथन है—जब मैं बहुत थोडा सा जानता था, तब हाथी के समान मद से अधा हो रहा था । मैं समझता था कि मैं सर्वज्ञ हूँ । किन्तु जब मुझे बुद्धिमानो की सगति से कुछ ज्ञान हुआ, तब मैंने समझा कि मै तो कुछ भी नहीं जानता । उस समय मेरा झूठा मद ज्वर की तरह उतर गया ।

वस्तुत· जो व्यक्ति थोडा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे यह समझ बैठते हैं कि हम महाज्ञानी हैं और ससार की सारी बुद्धि हमारे ही मस्तिष्क मे भरी हुई है । अपनी अल्पज्ञता के कारण वे गर्व मे भर जाते हैं और अन्य किसी को कुछ नही समझते । किन्तु जब वे कभी अपने से अनेक गुने अधिक बुद्धिमान और ज्ञानवान पुरुषो की सगति मे पहुँच जाते हैं तो उनकी आँखें खुलती हैं और उन्हें भान होता है कि उनके पास तो सिंधु मे बिन्दु जितना भी ज्ञान

नही है। उस समय उनका सम्पूर्ण मान और अभिमान कपूर के समान उड जाता है।

उर्दू भाषा के सुप्रसिद्ध शायर 'जौक' ने भी वडे मनोरजक शब्दो मे कहा है—

हम जानते थे इल्म से कुछ जानेंगे।
जाना तो यह जाना कि हमने न जाना कुछ भी।

साराश यही है कि ज्ञान होने पर ही व्यक्ति को महसूस होता है कि हम तो कुछ भी नहीं जानते।

कहने का अभिप्राय यही है कि अज्ञानी और अधूरा ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति गर्व से भरा हुआ रहता है। परिणाम यह होता है कि वह अपने सद्-गुणो का क्रमश नाश करता चला जाता है और अपनी आत्मा को मलीन वनाता हुआ उसे पतन की ओर ले जाता है। अपने अभिमान के कारण वह अन्य व्यक्तियो के मन को दुखाता है तथा कर्मों का बधन करता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अभिमान पर विजय प्राप्त करनी चाहिये।

दशवैकालिक सूत्र की गाथा मे वताया है कि मान को मार्दव अर्थात् कोमलता से जीतना चाहिये। अहकार व्यक्ति को क्रूर वनाता है और कोमलता उसे शात करती है।

राम जव वनवास मे थे तो निषादो का राना गुह उनका वडा भक्त हो गया। गुह राम को अपना भगवान समझकर उनकी सेवा मे लगा रहता था। किन्तु वह पढा लिखा नही था और न ही उसे शिष्टाचार की वातो का ध्यान था अत राम को वह सदा स्नेह के आधिक्य मे 'तू' कहकर ही सम्वोधित करता था।

निषादराज का इस प्रकार वोलना लक्ष्मण को वुरा लगता था। उनमे क्रोध और वडप्पन का गर्व था अत गुह का 'तू' करके राम को वोलना उनसे सहन नही हुआ और वे गुह को एक दिन तो मारने के लिये तैयार हो गये।

पर राम ने लक्ष्मण को कोमलता से समझाते हुए कहा—"भाई! तुम गुह की भावनाओ पर ध्यान दो, उसके शब्दो पर नही। निषादराज की भक्ति और प्रेम का आदर करते हुए अपने अह को भूल जाओ, उसे महत्व मत दो।"

भाई के शिक्षाप्रद और कोमल शब्द सुनकर लक्ष्मण अपने गर्व पर लज्जित हुए और उन्होने क्षमा माँगी।

इस प्रकार कोमलता और नम्रता से अहकार को जीता जा सकता है। अन्यथा अहकारी व्यक्ति त्याग, तपस्या, दान एव पूजा आदि की कोई भी क्रिया क्यो न करे वह कभी भी शुभ फल प्रदान नही कर सकती। गर्व की भावना से की हुई भक्ति और पूजा से कभी भगवान प्रसन्न नही होता एक छोटा सा उदाहरण है—

अहकार से दूषित चढ़ावा

एक श्रीमत व्यक्ति ने भगवान के मदिर मे एक हजार स्वर्ण मुद्राए चढाने का निश्चय किया। वह मुद्राओ की थैली लेकर मदिर में गया और थैली को प्रतिमा के समक्ष जोर-जोर से बजाने लगा। मुद्राओ की ध्वनि से लोगो का ध्यान सेठजी की ओर चला गया। सेठ यही चाहते भी थे। जब उन्होंने देखा कि मदिर मे उपस्थित समस्त व्यक्ति उनकी ओर देख रहे हैं, तो उन्होने थैली मे से स्वर्ण मुद्राए निकालनी प्रारम्भ की और गिन-गिनकर उन्हें भगवान से सामने चढाने लगे। मुद्राए चढाते समय सेठजी गर्व से फूले नही समा रहे थे और विजित दृष्टि से चारो ओर देखते जा रहे थे।

जब सेठजी का मुद्राए चढाना समाप्त हो गया तो मदिर का वृद्ध पुजारी जो कि अब तक एक ओर बैठा हुआ उनका कृत्य देख रहा था, उठकर गभीरता पूर्वक बोला—"सेठजी ! अपनी स्वर्ण-मुद्राए वापिस ले जाइए ये भगवान को नही चढ सकती।"

पुजारी की बात सुनते ही सेठजी दुर्वासा ऋषि के समान क्रोध से भडक कर बोले—'क्यो नही चढ सकती ?"

'आपके अहकार से ये मुद्राए दूषित हो गई हैं। दूषित वस्तु भगवान स्वीकार नही करते।" पुजारी ने उसी गभीरता पूर्वक उत्तर दिया।

सेठजी के अहकार को मानो करारी चोट लगी और उन्हे होश आ गया। उस दिन के पश्चात् उन्होने कभी इस प्रकार का गर्वपूर्ण दिखावा नही किया।

कहने का अभिप्राय यही है कि गर्व से चढाई हुई भेंट को भगवान भी स्वीकार नही करते और उससे जो शुभफल प्राप्त होना चाहिये वह कभी प्राप्त नही हो सकता। अत गर्व से सदा बचना चाहिये और उसे अपनी नम्रता एव विनय से जीतकर आत्मा को शुद्ध बनाना चाहिये।

अब कपायो मे तीसरे स्थान पर माया आती है। माया यानी कपट। कपटी व्यक्ति भी साधना के पथ पर नही बढ सकता। क्योंकि उसके हृदय मे सदा ईर्ष्या, द्वेप एव कटुता बनी रहती है। हमारे शास्त्र माया को शल्य मानते हैं। जिस प्रकार पैर मे काटा चुभ जाने पर व्यक्ति माग मे आगे बढ

नही सकता। उसी प्रकार माया-रूपी शल्य के विद्यमान होने पर भी वह साधना के मार्ग पर नही चल सकता।

माया जीवन को नष्ट करने वाली पिशाचिनी के समान है जो आत्मा की समस्त विशेषताओ को ग्रस लेती है और उसे पतन की ओर ले जाकर दुर्गति के अथाह खड्डे मे गिराती है।

इसलिये मनुष्य को जितनी जल्दी सभव हो सके स्वय को उसके चगुल से छुडाकर आत्म-कल्याण के पथ पर बढना चाहिये।

माया को मार्जव अर्थात् सरलता से जीता जा सकता है। जिस व्यक्ति का हृदय सरल और शुद्ध होता है वह कभी किसी का अनिष्ट नही चाहता और जब किसी के अनिष्ट की इच्छा हृदय मे नही होती तो कपट करने की आवश्यकता भी नही पडती। साराश यह है कि मोक्षाभिलाषी व्यक्ति को अपने हृदय से कपट-भावना को निकाल देना चाहिये, तभी उसका भविष्य उज्वल बन सकता है। अन्यथा आत्मा को दु ख के महासागर मे अनन्तकाल तक डूबना-उतराना पडेगा।

चौथा कषाय लोभ है। लोभ के विषय मे आप सब भली-भाति मानते हैं कि यह कषाय सभी कषायो से निकृष्ट है। शास्त्र की गाथा मे बताया भी गया है कि क्रोध स्नेह को, मान विनय को और माया मित्रता को नष्ट करती है। अर्थात् ये तीनो कषाय एक-एक गुण का नाश करते हैं। किन्तु लोभ तो सभी अच्छाइयो को नष्ट कर देता है।

लोभ के वश मे पडा हुआ व्यक्ति शनै -शनै. सभी दुर्गुणो को अपना लेता है तथा प्रत्येक कुकर्म करने पर उतारू हो जाता है। भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक मे कहा है—

उत्खात निधिशकया क्षितितल ध्माता गिरेर्धातवो,
निस्तीर्ण सरितापति नृपतयो यत्नेन सतोषिता।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीता श्मशाने निशा.,
प्राप्त काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मु च माम्॥

कहते हैं—'धन प्राप्त कर लेने की आशा मे मैंने पृथ्वी को तल तक खोद डाला किन्तु कुछ भी हाथ न लगा। रसायन सिद्ध करने तथा सुवर्ण एव रजत का निर्माण करने के लिये मैंने अनेक प्रकार की धातुएँ फूँक दी, समुद्र को रत्नो की खान समझकर उससे मोती निकालने के लिये मैं समुद्र की थाह ले आया, राजाओ की चाकरी से धन प्राप्त होता है यह विचारकर उन्हे भी सतुष्ट करने की पूरी कोशिशें की फिर भी धन नही मिल सका।"

कहाँ तक कहूँ ? इस धन की प्राप्ति के लिए मैंने मन्त्रो को सिद्ध करना चाहा और रात-रात भर श्मशान मे मुर्दों के पास अकेला बैठा हुआ मत्र जपता रहा। किन्तु मुझे सदा निराश होना पडा और एक फूटी कौडी भी कही से मेरे हाथ नही लगी। इसलिए अरी तृष्णा ! अब तू मेरा पीछा छोड दे।

साराश यही है कि मनुष्य जब लोभ और तृष्णा के फेर मे पड जाता है तो उसे धन मिले या न मिले उसकी लालसा कभी कम नही होती। निर्धन थोडा पाने के लिए लालायित रहता है और धनी पास मे जितना होता है उससे भी अनेक गुना अधिक प्राप्त करने के लिए बावला रहता है। उसे इस बात का भान नही रहता कि धन-ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, यौवन, स्वामित्व सभी अनित्य हैं। ये सब आज हैं पर सभव है कल न रहें। आज इन सबका सयोग हुआ है पर कल वियोग भी हो सकता है। धन को कोई छीन सकता है, चुरा सकता है, व्यापारादि मे घाटा आ जाने पर वह चला जा सकता है। इसी प्रकार सब नातेदार निर्धनावस्था के कारण मुँह मोड सकते हैं या मृत्यु को प्राप्त होकर भी हम से विलग हो सकते हैं।

अत अज्ञानी व्यक्ति अगर इनमे मोह और आसक्ति रखता है तो उसका यह लोक तो बिगडता ही है परलोक भी अधकारमय और दु ख पूर्ण हो जाता है। इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान और विवेकी पुरुष को ससार की असारता को समझकर किसी भी अनित्य पदार्थ के सयोग होने पर अपनी आत्मा के कल्याण का भाव नही भुलाना चाहिये। इस देह-रूपी मदिर मे उसकी आत्मा ही शुद्ध, एव शाश्वत आनन्द को प्रदान करने वाली है अत उसे ससार के रागद्वेष, आसक्ति तथा मोहादि से मलिन करना अज्ञान है। और इस अज्ञान को दूर करने के लिये हमे अपनी इन्द्रियो पर प्रतिबध लगाना चाहिये। मोह को विरक्ति से एव लोभ को सतोष से जीतना चाहिये।

सूत्रकृताग मे कहा गया है—

"सतोसिणो नो पकरेंति पाव।'

अर्थात्—सतोषी साधक कभी कोई पाप नहीं करते।

जब हृदय मे सतोष का आविर्भाव हो जाता है तो व्यक्ति चाहे निर्धन हो या धनी, वह प्रत्येक अवस्था मे पूर्ण सुख का अनुभव करता है और वही साधु-पुरुष अपनी आत्मा का कल्याण करने मे समर्थ बनता है।

सतोषी ही साधु कहला सकता है—

एक लघु कथा है कि, किसी राजा को उसके जन्म दिवस पर प्रजाजनो के द्वारा अनेक प्रकार की भेट प्राप्त हुई। राजा बडा प्रजावत्सल और धर्मात्मा पुरुष था। उसने अपने मन्त्री से कहा—

"मन्त्रिवर ! मेरी प्रजा के द्वारा दिये गए इन उपहारो को तुम साधु-जनो मे बाट दो।"

मत्री राजा की आज्ञा स्वीकार करके नगर की ओर चल दिया। किन्तु जब वह शाम को घर लौटा तो सारे के सारे उपहार ज्यो के त्यो मजदूरो के द्वारा पुन ले आए गए।

राजा ने यह देखा तो अत्यन्त चकित होकर पूछा—"मत्री जी, यह क्या आपने एक भी वस्तु किसी साधु को प्रदान नही की ऐसा क्यो ?"

मत्री ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"महाराज ! मैं क्या करता ? मैं दिन भर सारे नगर मे घूमा। पर देखा कि जो सच्चे साधु हैं वे तो इतने सतोषी है कि इनमे से एक भी वस्तु लेना नही चाहते। कहते है—'हमे शरीर को चलाने के लिये दो कौर अन्न मिल जाता है, वही हमारे लिये काफी है। इन परिग्रह की चीजो को लेकर क्या करें ? और जो इन वस्तुओ को लेना चाहते हैं वे मुझे साधु नही जान पडते। इसीलिये आपकी आज्ञा का पालन मैं नही कर सका और इन समस्त चीजो को लौटा कर लाना पडा।"

बधुओ, कहने का अभिप्राय यही है कि सतोषी व्यक्ति ही साधु कहला सकता है और ऐसा साधु ही साधना-पथ पर बढकर अपनी आत्मा को उसके शुद्ध स्वरूप मे ला सकता है।

एक बात और यहाँ ध्यान मे रखने की है कि त्यागी वही कहलाता है जो स्वेच्छा से प्राप्त परिग्रह को त्यागता है तथा स्वेच्छा से ही भोगोपभोगो से मुँह मोड लेता है। एक निर्धन व्यक्ति जिसके पास रखी कोडी भी नही है पर धन प्राप्त करने की लालसा रखता है वह कुछ भी परिग्रह न होने पर भी साधु नहीं कहला सकता, और एक रोगी व्यक्ति जो न भोजन को पचा सकता, है और न भोगो को भोग सकता है पर उन्हे भोगने की इच्छा रखता है वह भोगो को भोग न सकने के कारण उनका त्यागी नही कहलाता हैं।

श्री भर्तृहरि ने एक श्लोक मे कहा है—

> क्षात न क्षमया गृहोचितसुख त्यक्त न सन्तोषत,
> सोढा दु सहशीतवाततपनक्लेशा न तप्त तप।
> ध्यात वित्तमहर्निश नियमितप्राणैर्न शभो पद,
> तत्तत्कर्म कृत यदेव मुनिभिस्तैस्तै' फलैर्वञ्चितम्॥

कितनी यथार्थ और शिक्षाप्रद चेतावनी है कि—क्षमा तो हमने किसी को किया किन्तु धर्म के खयाल से नही किया। घर के सुखों का त्याग किया पर सतोष से उन्हें नही त्यागा। हमने शीत, ग्रीष्म आदि प्राकृतिक परिषहो

को सहा किन्तु तप के निमित्त से नही वरन् निर्धनता के कारण सहा। हमने ध्यान भी किया किन्तु परमात्मा का नही वरन् धन-वैभव, स्त्री-पुत्र एव विषय-सुख के ध्यान मे ही अहर्निशि निमग्न रहे। इस प्रकार हमने कार्य तो सब मुनियो के समान किये, किन्तु उनके द्वारा मुनियो को जैसे फल प्राप्त होते हैं, वे फल हमे नही मिले हम सदा उनसे वचित ही रहे।

आप समझ गए होगे बधुओ कि मुनियो या त्यागियो के समान त्याग होने पर भी उनका शुभ फल क्यो नही मिलता ?

इसीलिये कि त्यागी वे कहलाते हैं जो शक्ति और सामर्थ्य होते हुए भी विषयो का त्याग करते हैं। वे त्यागी नही कहलाते है जो शक्ति-हीनता के कारण उन्हे छोडते हैं क्योकि वे मन से नही अपितु लाचारी के कारण उन्हे छोडते हैं। इसी प्रकार निर्धनता के कारण हजारो कष्ट उठाने पर भी उनका कष्ट सहना तप नही कहलाता और न ही वह कर्मों की निर्जरा का कारण बन सकता है। कर्मों की निर्जरा तभी होती है जबकि इन समस्त सासारिक सुखों और भोग विलासो को सामर्थ्य होने पर भी अनिष्टकारी समझकर स्वेच्छा से त्यागा जाय, धन के होने पर भी उसे पाप का मूल मानकर उसके प्रति रही हुई तृष्णा को नष्ट कर दिया, सयोग होने पर भी सर्दी, गर्मी, भूख एव प्यास आदि के परिषहो को तप की दृष्टि से सहन किया जाय।

जो साधक ऐसा करता है वह अपने इस अमूल्य जीवन को सार्थक बना सकता है। शुभ विचारो का जीवन मे बडा प्रभाव पडता है और विचार शुभ तभी होते हैं जब मनुष्य कषायो को जीत लेता है। कषायो को जीत लेने वाला साधु-पुरुष समग्र विश्व को आनन्दमय मानता है और इसके विपरीत-कषायो के कारण दूषित विचार वाला व्यक्ति जगत को दु खमय समझता है।

फारसी के एक विचारक का कथन है—जिसका भाव है कि—

जिस मनुष्य के दिल के भाव बुरे हैं उसे समस्त जगत दुखमय प्रतीत होता है, किन्तु यदि उसके भावो मे पवित्रता है तो उसे सारा जगत प्रसन्नता से परिपूर्ण दिखाई देता है।

तो बधुओ, हमे सदा कषायो से रहित पवित्रभावो का ही आश्रय लेना चाहिए तथा दुख को हृदय के समीप भी नहीं फटकने देना चाहिये। ऐसा करने पर ही हमारा भविष्य उज्ज्वल और आनन्दमय बन सकेगा।

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

१	आनन्द-प्रवचन भाग १	मूल्य ६)
२	आनन्द प्रवचन भाग २	६)
३	आनन्द-प्रवचन भाग ३	६)
४	आनन्द-प्रवचन भाग ४	६)
५	जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि	)७५
६	चित्रालकार काव्य एक विवेचन	१)
७	ज्ञानकुजर दीपिका	
८	तिलोक काव्य सग्रह	
९	अमृतकाव्य सग्रह	
१०	अध्यात्म दशहरा	
११	समाज स्थिति दिग्दर्शन	
१२	चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न	
१३	श्रमण सस्कृति के प्रतीक	
१४	ऋषि सप्रदाय का इतिहास	
१५	त्रिलोक शताब्दि अभिनन्दन ग्रथ	
१६	आनन्द वचनामृत	
१७	सस्कार (उपन्यास)	

● ●

सपर्क करें—श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाडर्डी, (अहमद नगर, महाराष्ट्र)